

B.A.L.L.B.-4th Sem. Paper-I Sociology (Social Problem)

प्रश्न न0 1— सामाजिक समस्या की अवधारणा एवं प्रकार की व्याख्या कीजिए?

उत्तर— सामाजिक समस्या एक ऐसी स्थिति या दशा है जिसे समाज के अधिकांश लोग हानिकारक मानते हैं और जिसके समाधान के लिए सामाजिक कार्यवाही की आवश्यकता महसूस करते हैं। यह सामाजिक आदर्शों और यथार्थ के बीच एक बड़े अंतर का सूचक है। यह समाज की संरचना, मूल्यों और मानदंडों में विचलन या असंतुलन का परिणाम होती है, जो समाज के सामान्य कामकाज को प्रभावित करती है।

सामाजिक समस्या की प्रमुख विशेषताएँ—

हानिकारक प्रकृति— सामाजिक समस्याएँ समाज या उसके किसी बड़े हिस्से के लिए नकारात्मक परिणाम लाती हैं।

सामूहिकता का तत्व— केवल कुछ व्यक्तियों की समस्या सामाजिक समस्या नहीं कहलाती। जब एक बड़ी संख्या में लोग किसी स्थिति को अवांछनीय मानते हैं और उसके समाधान की आवश्यकता महसूस करते हैं, तभी वह सामाजिक समस्या बनती है।

सामाजिक संरचना से संबंध— सामाजिक समस्याएँ या तो सामाजिक संरचना पर कुप्रभाव डालती हैं, या उनका कारण समाज की विद्यमान सामाजिक संरचना में होता है।

परिवर्तनशील स्वरूप— सामाजिक समस्याएँ समय और स्थान के अनुसार बदलती रहती हैं। जो एक समय या स्थान पर समस्या नहीं थी, वह दूसरे समय या स्थान पर समस्या बन सकती है।

दीर्घकालिकता— सामाजिक समस्याएँ आमतौर पर लंबे समय तक समाज में बनी रहती हैं।

समाधान की आवश्यकता— सामाजिक समस्याओं को समाप्त करने या कम करने के लिए सामाजिक हस्तक्षेप और सामूहिक प्रयासों की आवश्यकता होती है।

सामाजिक समस्या के प्रकार—सामाजिक समस्याओं को विभिन्न आधारों पर वर्गीकृत किया जा सकता है। कुछ प्रमुख वर्गीकरण इस प्रकार हैं—

1. स्रोत के आधार पर—

संरचनात्मक समस्याएँ— ये समस्याएँ सामाजिक संरचना में मौजूद विसंगतियों या असमानताओं के कारण उत्पन्न होती हैं।

उदाहरण— निर्धनता, बेरोजगारी, जातिगत भेदभाव, लिंग असमानता, क्षेत्रीय असमानता, अल्पसंख्यकों की समस्याएँ।

पारिवारिक समस्याएँ— परिवार की संरचना या कार्यप्रणाली में आने वाली समस्याओं से ये उत्पन्न होती हैं।

उदाहरण— विवाह विच्छेद (तलाक), बाल-अपराध, घरेलू हिंसा, टूटते परिवार।

सांस्कृतिक समस्याएँ— ये समस्याएँ समाज के सांस्कृतिक मूल्यों, मानदंडों या आदर्शों में विचलन या टकराव के कारण पैदा होती हैं।

उदाहरण— मद्यपान, मादक द्रव्य व्यसन, वेश्यावृत्ति, भ्रष्टाचार, सांप्रदायिकता।

व्यक्तिगत विघटन से उत्पन्न समस्याएँ— जब व्यक्ति सामाजिक मानदंडों से विचलित होते हैं, तो ये समस्याएँ उत्पन्न हो सकती हैं।

उदाहरण— अपराध, मानसिक रोग, आत्महत्या।

2. प्रकृति के आधार पर (फुलर एवं मेट्स का वर्गीकरण)—

प्राकृतिक समस्याएँ— ये समस्याएँ प्रकृति से संबंधित होती हैं, जिन पर मानव का सीधा नियंत्रण नहीं होता। हालांकि, इन समस्याओं का सामाजिक जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ता है।

उदाहरण— सूखा, बाढ़, भूकंप, महामारी।

सुधारात्मक समस्याएँ— ये समस्याएँ मानव निर्मित होती हैं और सामाजिक व्यवस्था में सुधार लाकर इनका समाधान किया जा सकता है।

उदाहरण— अशिक्षा, बेरोजगारी, गरीबी, अपराध।

नैतिक समस्याएँ— ये समस्याएँ समाज के नैतिक मूल्यों के पतन या विचलन से उत्पन्न होती हैं।

उदाहरण— भ्रष्टाचार, वेश्यावृत्ति, नशे की लत।

3. अन्य प्रमुख प्रकार—

आर्थिक समस्याएँ— गरीबी, बेरोजगारी, आर्थिक असमानता, मुद्रास्फीति।

शैक्षणिक समस्याएँ— अशिक्षा, शिक्षा की गुणवत्ता में कमी, शिक्षा तक पहुंच का अभाव।

स्वास्थ्य समस्याएँ— कुपोषण, संक्रामक रोग, मानसिक स्वास्थ्य समस्याएँ, स्वास्थ्य सेवाओं का अभाव।

पर्यावरणीय समस्याएँ— प्रदूषण (वायु, जल, ध्वनि), जलवायु परिवर्तन, वनोन्मूलन।

जनसांख्यिकीय समस्याएँ— जनसंख्या वृद्धि, प्रवासन (माइग्रेशन), शहरीकरण की समस्याएँ।

अपराध और कानून व्यवस्था की समस्याएँ— अपराध, बाल अपराध, आतंकवाद, संगठित अपराध, पुलिस व्यवस्था की समस्याएँ।

जातिवाद और सांप्रदायिकता— जातिगत भेदभाव, धार्मिक संघर्ष, सांप्रदायिक हिंसा।

महिला संबंधी समस्याएँ— लैंगिक असमानता, महिलाओं के विरुद्ध अपराध, घरेलू हिंसा।

युवा असंतोष— बेरोजगारी, शिक्षा का अभाव, सामाजिक मूल्यों का पतन।

संक्षेप में, सामाजिक समस्याएँ वे अवांछनीय स्थितियाँ हैं जो समाज के एक बड़े हिस्से को प्रभावित करती हैं और जिनके समाधान के लिए सामूहिक प्रयासों की आवश्यकता होती है। इनकी पहचान, विश्लेषण और समाधान समाजशास्त्र का एक महत्वपूर्ण क्षेत्र है।

प्रश्न न0 2— सामाजिक असंगठन के आधार पर पड़ने वाले प्रभाव के सन्दर्भ में, परिवार एवं समुदाय की अवधारणा पर प्रभाव की व्याख्या कीजिए?

उत्तर— सामाजिक असंगठन (Social Disorganization)— एक ऐसी स्थिति को संदर्भित करता है जहाँ समाज की संरचना, मानदंडों, मूल्यों और संस्थाओं में विघटन या अस्थिरता आ जाती है। यह एक ऐसी अवस्था है जब समाज के विभिन्न भाग अपने सामान्य कार्यों को प्रभावी ढंग से नहीं कर पाते, जिससे सामाजिक व्यवस्था और स्थिरता प्रभावित होती है। सामाजिक असंगठन के गहरे प्रभाव परिवार और समुदाय, जो समाज की मूल इकाइयाँ हैं, पर पड़ते हैं।

परिवार की अवधारणा पर प्रभाव—

परिवार, समाज की सबसे मौलिक और महत्वपूर्ण इकाई है। यह व्यक्तियों के समाजीकरण, भावनात्मक सुरक्षा और शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति का प्राथमिक स्रोत होता है। सामाजिक असंगठन परिवार की संरचना, कार्यप्रणाली और स्थिरता पर गंभीर प्रभाव डालता है—

पारिवारिक विघटन में वृद्धि—

विवाह विच्छेद (तलाक) और अलगावरू सामाजिक असंगठन अक्सर आर्थिक कठिनाइयों, नैतिक मूल्यों में गिरावट और व्यक्तिगत तनाव को जन्म देता है। ये कारक विवाहों में संघर्ष बढ़ाते हैं, जिससे तलाक और अलगाव की दर में वृद्धि होती है।

टूटे हुए परिवार— माता-पिता के अलगाव या तलाक से बच्चों को भावनात्मक और मनोवैज्ञानिक आघात लगता है। ऐसे परिवार बच्चों के उचित समाजीकरण और विकास में बाधा डालते हैं।

एकल-अभिभावक परिवार— सामाजिक असंगठन, विशेषकर गरीबी, बेरोजगारी या अपराध के कारण, एकल-अभिभावक परिवारों की संख्या में वृद्धि कर सकता है, जहाँ एक अभिभावक को बच्चों की देखभाल और पालन-पोषण का पूरा बोझ उठाना पड़ता है।

पारिवारिक कार्यों में बाधा—

समाजीकरण में कमी— परिवार बच्चों को सामाजिक मूल्य, मानदंड और व्यवहार सिखाने की प्राथमिक संस्था है। असंगठन के कारण परिवार इस भूमिका को ठीक से नहीं निभा पाता, जिससे बच्चों में अनुशासनहीनता, आपराधिक प्रवृत्तियाँ और सामाजिक मूल्यों के प्रति अनादर की भावना पनप सकती है। भावनात्मक और मनोवैज्ञानिक समर्थन का अभाव सामाजिक तनाव, आर्थिक असुरक्षा और संघर्ष के कारण परिवार के सदस्य एक-दूसरे को पर्याप्त भावनात्मक समर्थन प्रदान नहीं कर पाते। इससे परिवार के भीतर अलगाव, अवसाद और अन्य मानसिक स्वास्थ्य समस्याएँ बढ़ सकती हैं।

आर्थिक असुरक्षा— सामाजिक असंगठन अक्सर बेरोजगारी, निम्न आय और आर्थिक अस्थिरता को बढ़ाता है। इससे परिवारों को अपनी मूलभूत आवश्यकताओं (भोजन, आवास, शिक्षा, स्वास्थ्य) की पूर्ति में कठिनाई होती है, जिससे तनाव और संघर्ष बढ़ता है।

अंतर-पीढ़ीगत संघर्ष—

मूल्यों का टकराव— बदलते सामाजिक मानदंडों और मूल्यों के कारण युवा पीढ़ी और वृद्ध पीढ़ी के बीच विचारों और व्यवहारों में अंतर बढ़ जाता है, जिससे पारिवारिक संघर्ष उत्पन्न होता है।

बड़ों की उपेक्षा— आधुनिक समाज में, जहाँ व्यक्तिवाद बढ़ रहा है, वृद्धों की उपेक्षा और उनके प्रति उदासीनता एक गंभीर समस्या बन रही है, विशेषकर उन परिवारों में जहाँ आर्थिक और सामाजिक सुरक्षा का अभाव है।

घरेलू हिंसा और दुर्व्यवहार—सामाजिक असंगठन के कारण बढ़ने वाला तनाव और निराशा अक्सर घरेलू हिंसा (शारीरिक, भावनात्मक, यौन) को जन्म देती है, जिससे महिलाओं और बच्चों को गंभीर नुकसान होता है। मादक द्रव्यों का सेवन और शराबखोरी भी सामाजिक असंगठन के कारण बढ़ सकती है, जो घरेलू हिंसा का एक प्रमुख कारण बनती है।

समुदाय की अवधारणा पर प्रभाव—समुदाय एक विशेष भौगोलिक क्षेत्र में रहने वाले लोगों का समूह है जो सामान्य हितों, मूल्यों और सामाजिक संबंधों से बंधे होते हैं। सामाजिक असंगठन समुदाय की एकजुटता, सुरक्षा और कार्यप्रणाली को सीधे प्रभावित करता है—

सामाजिक एकजुटता में कमी—

व्यक्तिवाद का उदय— सामाजिक असंगठन सामुदायिक भावना को कमजोर करता है, जिससे लोग अधिक स्वार्थी और आत्म-केंद्रित हो जाते हैं। सामुदायिक गतिविधियों और भागीदारी में कमी आती है। विश्वास का क्षरण अपराध, हिंसा और भ्रष्टाचार बढ़ने से समुदाय के सदस्यों के बीच आपसी विश्वास कम हो जाता है। लोग एक-दूसरे पर संदेह करने लगते हैं और सामाजिक नेटवर्क कमजोर पड़ जाते हैं।

अलगाव और अकेलापन— सामाजिक संबंध टूटने से लोग अधिक अकेला और अलग-थलग महसूस करते हैं, जिससे मानसिक स्वास्थ्य समस्याएँ बढ़ सकती हैं।

अपराध और हिंसा में वृद्धि—सामाजिक मानदंडों के कमजोर पड़ने, बेरोजगारी और शिक्षा के अभाव के कारण अपराध दर में वृद्धि होती है। यह सामुदायिक सुरक्षा को गंभीर रूप से प्रभावित करता है।

गैंग हिंसा, नशीली दवाओं का कारोबार और अन्य आपराधिक गतिविधियाँ समुदाय में भय और असुरक्षा का माहौल पैदा करती हैं।

सार्वजनिक सेवाओं का विघटन—सामाजिक असंगठन अक्सर स्थानीय सरकारों और संस्थानों की अक्षमता से जुड़ा होता है। इससे शिक्षा, स्वास्थ्य सेवा, स्वच्छता और सुरक्षा जैसी आवश्यक सार्वजनिक सेवाओं की गुणवत्ता गिर जाती है या वे अनुपलब्ध हो जाती हैं।

बुनियादी ढाँचे का अभाव या उसका बिगड़ना (जैसे सड़कें, बिजली, पानी) समुदाय के जीवन स्तर को प्रभावित करता है।

सामाजिक नियंत्रण का अभाव—जब औपचारिक (पुलिस, कानून) और अनौपचारिक (परिवार, पड़ोसी, धार्मिक संस्थाएँ) सामाजिक नियंत्रण तंत्र कमजोर पड़ जाते हैं, तो विचलनकारी व्यवहार और अपराध बढ़ जाते हैं।

समुदाय के सदस्य सामाजिक मानदंडों का उल्लंघन करने में अधिक स्वतंत्र महसूस करते हैं, जिससे अव्यवस्था और अराजकता की स्थिति उत्पन्न होती है।

सांप्रदायिक और जातीय तनाव—सामाजिक असंगठन अक्सर विभिन्न समूहों के बीच तनाव और संघर्ष को बढ़ावा देता है, चाहे वह धार्मिक, जातीय या जातिगत आधार पर हो।

संसाधनों के लिए प्रतिस्पर्धा, अविश्वास और रुढ़िवादिता सांप्रदायिक दंगों और जातीय हिंसा का कारण बन सकती है, जिससे समुदाय की शांति भंग होती है।

निष्कर्ष—कुल मिलाकर, सामाजिक असंगठन परिवार और समुदाय दोनों पर विनाशकारी प्रभाव डालता है। यह परिवार की संरचना को कमजोर करता है, उसके कार्यों को बाधित करता है और सदस्यों के बीच तनाव बढ़ाता है। वहीं, समुदाय में यह सामाजिक एकजुटता को भंग करता है, अपराध बढ़ाता है और सार्वजनिक सेवाओं को ध्वस्त करता है। इन प्रभावों से निपटने के लिए समाज को अपनी संस्थाओं को मजबूत करने, सामाजिक मानदंडों को पुनः स्थापित करने और कमजोर वर्गों के लिए समर्थन प्रणालियों को विकसित करने की आवश्यकता होती है। यह सुनिश्चित करने के लिए कि परिवार और समुदाय दोनों ही अपनी महत्वपूर्ण भूमिकाएँ निभा सकें, एक संगठित और सुव्यवस्थित सामाजिक संरचना आवश्यक है।

प्रश्न न० 3— सांस्कृतिक असंगठन के द्वारा पड़ने वाले प्रभाव के आधार पर जाति समुदाय एवं धर्म के सम्बन्ध में व्याख्या कीजिए?

उत्तर— सांस्कृतिक असंगठन (Cultural Disorganization)— एक ऐसी स्थिति है जहाँ किसी समाज की सांस्कृतिक व्यवस्था में मूल्यों, मानदंडों, विश्वासों और प्रतीकों का क्षरण, विचलन या टकराव उत्पन्न हो जाता है। यह स्थिति सामाजिक संरचना और व्यवस्था में अस्थिरता लाती है, जिससे समाज की एकजुटता और कार्यप्रणाली प्रभावित होती है। सांस्कृतिक असंगठन के प्रभाव विशेष रूप से जाति, समुदाय और धर्म जैसी सामाजिक संस्थाओं पर गहरे और बहुआयामी होते हैं।

सांस्कृतिक असंगठन की अवधारणा—

सांस्कृतिक असंगठन तब होता है जब समाज की संस्कृति (भौतिक और अभौतिक दोनों) में सामंजस्य या एकीकरण का अभाव हो जाता है। यह अक्सर तेजी से बदलते सामाजिक, आर्थिक या तकनीकी परिवेश के कारण होता है, जहाँ पारंपरिक मूल्य और मानदंड नए परिस्थितियों के अनुकूल नहीं हो पाते या नए मूल्य उनके साथ संघर्ष करते हैं। इसके परिणामस्वरूप लोग यह नहीं समझ पाते कि क्या सही है और क्या गलत, जिससे सामाजिक नियंत्रण कमजोर होता है और विचलनकारी व्यवहार बढ़ता है।

सांस्कृतिक असंगठन के जाति, समुदाय और धर्म पर पड़ने वाले प्रभाव—

1. जाति पर प्रभाव—

जाति व्यवस्था भारतीय समाज की एक विशिष्ट और जटिल सामाजिक संरचना है, जो पारंपरिक रूप से जन्म, वंश और व्यावसायिक स्तरीकरण पर आधारित रही है। सांस्कृतिक असंगठन जाति व्यवस्था पर निम्नलिखित प्रभाव डालता है—

जातिगत मानदंडों का क्षरण— आधुनिकता, शहरीकरण, पश्चिमीकरण और शिक्षा के प्रसार से पारंपरिक जातिगत मानदंडों और व्यवसायों में ढील आई है। लोग पारंपरिक जातिगत पेशों से हटकर नए व्यवसायों को अपना रहे हैं, जिससे जातिगत संरचना कमजोर हो रही है।

अंतर्जातीय विवाह में वृद्धि— सांस्कृतिक असंगठन के कारण पारंपरिक अंतर्विवाह (मदकवहंउल) के नियम ढीले पड़ रहे हैं। शहरी क्षेत्रों में और शिक्षित वर्गों में अंतर्जातीय विवाहों की संख्या बढ़ रही है, जिससे जातिगत पहचान कमजोर हो रही है।

जातिगत भेदभाव का नया स्वरूप— हालाँकि संवैधानिक रूप से जातिगत भेदभाव को प्रतिबंधित कर दिया गया है, सांस्कृतिक असंगठन इसके नए रूपों को जन्म दे सकता है। शिक्षा और आर्थिक अवसरों तक पहुँच में असमानता अभी भी बनी हुई है, जिससे दलितों और पिछड़ी जातियों को संघर्ष करना पड़ता है।

राजनीतिकरण— जाति की पहचान अब सामाजिक कार्यों के बजाय राजनीतिक लामबंदी और चुनावी राजनीति का एक साधन बन गई है। सांस्कृतिक मूल्यों में गिरावट के कारण जातिगत पहचान का उपयोग केवल वोट बैंक के लिए किया जा सकता है, जिससे वास्तविक सामाजिक सुधारों में बाधा आती है।

जाति-आधारित हिंसा— सांस्कृतिक मूल्यों में विचलन और पहचान के संकट के कारण जाति-आधारित संघर्ष और हिंसा बढ़ सकती है, विशेषकर उन क्षेत्रों में जहाँ पारंपरिक और आधुनिक मूल्यों के बीच टकराव गहरा होता है।

पहचान का संकट— कुछ हद तक सांस्कृतिक असंगठन व्यक्तियों में अपनी जातिगत पहचान को लेकर भ्रम पैदा कर सकता है। युवा पीढ़ी अपनी पारंपरिक जातिगत पहचान से दूर हो सकती है, लेकिन पूरी तरह से एक नई, एकीकृत पहचान बनाने में भी असमर्थ हो सकती है।

2. समुदाय पर प्रभाव— समुदाय एक ऐसा समूह है जो सामान्य मूल्यों, हितों और भौगोलिक निकटता के आधार पर जुड़ा होता है। सांस्कृतिक असंगठन समुदाय की एकजुटता और कार्यों को प्रभावित करता है—

सामुदायिक भावना का ह्रास— आधुनिक जीवनशैली, व्यक्तिवाद और शहरीकरण के कारण लोग अपने पड़ोसियों और सामुदायिक गतिविधियों से दूर होते जा रहे हैं। पारंपरिक सामुदायिक संस्थाएँ (जैसे पंचायतें, मोहल्ला समितियाँ) कमजोर हो रही हैं।

मूल्यों में टकराव— विभिन्न उप-संस्कृतियों और मूल्यों के बीच टकराव के कारण समुदाय के भीतर संघर्ष बढ़ सकता है। उदाहरण के लिए, पारंपरिक रूढ़िवादी मूल्य आधुनिक उदारवादी मूल्यों के साथ संघर्ष कर सकते हैं।

सामाजिक नियंत्रण में कमी— समुदाय के भीतर अनौपचारिक सामाजिक नियंत्रण (जैसे लोक-लाज, सामाजिक बहिष्कार का डर) कमजोर पड़ जाता है। जब सांस्कृतिक मानदंड स्पष्ट नहीं होते या उनका पालन नहीं किया जाता, तो विचलनकारी व्यवहार (जैसे अपराध, नशाखोरी) बढ़ जाता है।

पहचान का विघटन— वैश्वीकरण और सांस्कृतिक समरूपता की ओर रुझान छोटे, स्थानीय समुदायों की विशिष्ट सांस्कृतिक पहचान को कमजोर कर सकता है। युवा पीढ़ी अपनी स्थानीय परंपराओं और रीति-रिवाजों से दूर हो सकती है।

सामुदायिक विकास में बाधा— जब समुदाय के सदस्यों के बीच साझा मूल्यों और उद्देश्यों का अभाव होता है, तो सामूहिक कार्यवाही और सामुदायिक विकास के प्रयासों में बाधा आती है।

3. धर्म पर प्रभाव—धर्म समाज में नैतिकता, मूल्यों और सामाजिक नियंत्रण का एक महत्वपूर्ण स्रोत रहा है। सांस्कृतिक असंगठन धर्म पर कई तरह से प्रभाव डालता है—

धर्मनिरपेक्षता का बढ़ना (और उसके साथ चुनौतियाँ)— आधुनिक शिक्षा, विज्ञान और तर्कवाद के प्रसार से धार्मिक अंधविश्वासों और कर्मकांडों पर सवाल उठने लगे हैं। इससे समाज में धर्मनिरपेक्षता की प्रवृत्ति बढ़ती है, जिससे पारंपरिक धार्मिक संस्थाओं का प्रभाव कम हो सकता है।

धार्मिक कट्टरता का उदय— सांस्कृतिक असंगठन से उत्पन्न अनिश्चितता और पहचान के संकट के जवाब में, कुछ व्यक्ति या समूह धार्मिक कट्टरता की ओर मुड़ सकते हैं। यह चरमपंथ और असहिष्णुता को जन्म दे सकता है, जिससे विभिन्न धार्मिक समूहों के बीच तनाव बढ़ सकता है।

धार्मिक संप्रदायवाद और संघर्ष— सांस्कृतिक असंगठन धार्मिक पहचान को मजबूत कर सकता है लेकिन यह विभिन्न धार्मिक समूहों के बीच संघर्ष और सांप्रदायिक हिंसा को भी बढ़ा सकता है, खासकर जब राजनीतिक उद्देश्यों के लिए धर्म का दुरुपयोग किया जाता है।

धर्म के व्यक्तिगतकरण— धर्म का महत्व अब व्यक्तिगत आस्था और आध्यात्मिकता पर अधिक केंद्रित हो रहा है, बजाय सामुदायिक और संस्थागत धार्मिक अनुष्ठानों के। लोग अपनी पसंद के अनुसार धार्मिक व्यवहार चुन रहे हैं, जिससे धार्मिक संस्थानों की सामूहिक शक्ति कमजोर हो रही है।

नैतिकता में गिरावट— जब धार्मिक मूल्य और मानदंड समाज में अपना प्रभाव खो देते हैं, तो एक नैतिक शून्यता उत्पन्न हो सकती है। इससे व्यक्तिगत और सामाजिक नैतिकता में गिरावट आ सकती है, जिससे भ्रष्टाचार, अनैतिक व्यवहार और सामाजिक समस्याओं में वृद्धि हो सकती है।

नए धार्मिक आंदोलनों का उदय— सांस्कृतिक असंगठन की स्थिति में लोग अक्सर अर्थ और उद्देश्य की तलाश करते हैं। इससे नए धार्मिक आंदोलनों, पंथों या आध्यात्मिक गुरुओं का उदय हो सकता है जो लोगों को दिशा और सुरक्षा प्रदान करने का दावा करते हैं।

निष्कर्ष—सांस्कृतिक असंगठन एक जटिल प्रक्रिया है जो समाज के मूल ताने-बाने को प्रभावित करती है। जाति, समुदाय और धर्म, जो भारतीय समाज के महत्वपूर्ण स्तंभ रहे हैं, इस असंगठन से गहरे रूप से प्रभावित होते हैं। जहाँ एक ओर यह पारंपरिक कठोरताओं (जैसे जातिगत भेदभाव) को कमजोर करने का अवसर प्रदान कर सकता है, वहीं दूसरी ओर यह पहचान के संकट, सामाजिक विघटन, अपराध और संघर्ष जैसी गंभीर चुनौतियों को भी जन्म दे सकता है। इन प्रभावों को समझने और उनसे निपटने के लिए समाजशास्त्रियों को सांस्कृतिक परिवर्तन की गतिशीलता, मूल्यों के टकराव और सामाजिक नियंत्रण के बदलते स्वरूप का गहन विश्लेषण करना आवश्यक है।

प्रश्न न0 4— मानव जीवन में भ्रष्टाचार के प्रभाव का वर्णन करते हुए आतंकवाद की व्याख्या कीजिए?

उत्तर—मानव जीवन में भ्रष्टाचार का प्रभाव और आतंकवाद की व्याख्या, समाजशास्त्र के परिप्रेक्ष्य में एक विस्तृत उत्तर यहाँ प्रस्तुत है—

मानव जीवन में भ्रष्टाचार के प्रभाव का वर्णन—भ्रष्टाचार एक ऐसा दीमक है जो समाज और राष्ट्र को अंदर से खोखला कर देता है। यह सार्वजनिक शक्ति का व्यक्तिगत लाभ या किसी समूह के लाभ के लिए दुरुपयोग है। इसके प्रभाव मानव जीवन के हर पहलू पर गहरे और नकारात्मक होते हैं, जिन्हें सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और मनोवैज्ञानिक आयामों में देखा जा सकता है—

1. सामाजिक प्रभाव—

विश्वास का क्षरण— भ्रष्टाचार सार्वजनिक संस्थानों, सरकार और न्याय प्रणाली में लोगों के विश्वास को खत्म कर देता है। जब लोग देखते हैं कि निर्णय योग्यता के बजाय रिश्तत या प्रभाव के आधार पर लिए जाते हैं, तो वे व्यवस्था पर से अपना भरोसा खो देते हैं।

असमानता में वृद्धि— भ्रष्टाचार धन के असमान वितरण को बढ़ावा देता है। यह गरीबों और वंचितों को सबसे अधिक प्रभावित करता है, क्योंकि उन्हें बुनियादी सेवाओं (जैसे स्वास्थ्य, शिक्षा) तक पहुंच के लिए भी रिश्वत देनी पड़ती है। इससे सामाजिक विभाजन बढ़ता है और अमीर-गरीब की खाई और चौड़ी होती है।

सामाजिक न्याय का हनन— भ्रष्टाचार न्याय के सिद्धांतों को कमजोर करता है। जब कानून का शासन कमजोर होता है, तो अपराधी और दोषी धन के प्रभाव में स्वच्छंद घूमते हैं, जबकि निर्दोष लोग न्याय से वंचित रह जाते हैं।

नकारात्मक सामाजिक मूल्य— भ्रष्टाचार एक ऐसे समाज को जन्म देता है जहाँ अनैतिकता और बेईमानी को स्वीकार्यता मिलने लगती है। यह पजल्दी अमीर बनने की मानसिकता को बढ़ावा देता है और कड़ी मेहनत व ईमानदारी के मूल्यों को कमजोर करता है।

सार्वजनिक सेवाओं की गुणवत्ता में गिरावट— जब बुनियादी ढांचे, स्वास्थ्य देखभाल, शिक्षा और अन्य आवश्यक सेवाओं के लिए आवंटित सार्वजनिक धन को भ्रष्ट आचरण के माध्यम से निकाल लिया जाता है, तो इन सेवाओं की गुणवत्ता में गिरावट आती है, जिससे आम जनता को नुकसान होता है।

2. आर्थिक प्रभाव—

आर्थिक विकास में बाधा— भ्रष्टाचार संसाधनों के अक्षम उपयोग की ओर ले जाता है। यह उत्पादक क्षेत्रों से धन को हटाता है और निवेश को हतोत्साहित करता है। यह प्रतिस्पर्धा को कमजोर करता है और नवाचार को बाधित करता है।

विदेशी निवेश में कमी— निवेशक उन देशों में निवेश करने से कतराते हैं जहाँ भ्रष्टाचार का स्तर उच्च होता है, क्योंकि यह व्यापार करने की लागत को बढ़ाता है और अनिश्चितता पैदा करता है।

राजस्व का नुकसान— भ्रष्टाचार के कारण सरकार को टैक्स और अन्य स्रोतों से होने वाले राजस्व का भारी नुकसान होता है, जिसका उपयोग विकास कार्यों में किया जा सकता है।

महंगाई— भ्रष्टाचार के कारण वस्तुओं और सेवाओं की लागत बढ़ जाती है, जिससे आम आदमी पर आर्थिक बोझ पड़ता है।

3. राजनीतिक प्रभाव—

लोकतंत्र का कमजोर होना— भ्रष्टाचार लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं को कमजोर करता है। यह चुनावों में हेरफेर, राजनीतिक दलों में आंतरिक भ्रष्टाचार और जवाबदेही की कमी को बढ़ावा देता है।

राजनीतिक अस्थिरता— भ्रष्टाचार व्यापक असंतोष और अस्थिरता को जन्म दे सकता है। यह सरकार की छवि को धूमिल करता है और राजनीतिक अशांति को बढ़ावा दे सकता है।

शासन की अक्षमता— भ्रष्टाचार प्रभावी शासन में बाधा डालता है। जब सरकारी अधिकारी व्यक्तिगत लाभ के लिए काम करते हैं, तो वे सार्वजनिक हित की उपेक्षा करते हैं, जिससे शासन की गुणवत्ता प्रभावित होती है।

4. मनोवैज्ञानिक प्रभाव—

निराशा और हताशा— भ्रष्टाचार से प्रभावित नागरिक व्यवस्था से निराश और हताश महसूस करते हैं, जिससे उनके मन में cynicism (दोषदर्शिता) की भावना आती है।

मानसिक तनाव— भ्रष्टाचार से जुड़े रहे लोगों को अत्यधिक मानसिक तनाव और चिंता का सामना करना पड़ता है, खासकर जब उन्हें अपने अधिकारों के लिए भी रिश्वत देनी पड़ती है।

आतंकवाद की व्याख्या— समाजशास्त्र में आतंकवाद को एक जटिल सामाजिक घटना के रूप में देखा जाता है, जो राजनीतिक, वैचारिक, धार्मिक या सामाजिक उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए भय और हिंसा का उपयोग करती है। इसकी मुख्य विशेषताएं निम्नलिखित हैं—

राजनीतिक/वैचारिक उद्देश्य— आतंकवाद का प्राथमिक उद्देश्य आमतौर पर एक राजनीतिक, वैचारिक, धार्मिक या सामाजिक एजेंडा को आगे बढ़ाना होता है। यह सिर्फ आपराधिक हिंसा नहीं है, बल्कि एक व्यापक उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए रणनीति का हिस्सा है।

भय का प्रसार— आतंकवादियों का मुख्य लक्ष्य जनता में भय और आतंक फैलाना होता है। वे निर्दोष नागरिकों को निशाना बनाकर, बड़े पैमाने पर हिंसा करके और अनिश्चितता का माहौल बनाकर अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने का प्रयास करते हैं।

गैर-राज्य अभिकर्ता— आमतौर पर, आतंकवाद में गैर-राज्य अभिकर्ता (व्यक्तिगत समूह या संगठन) शामिल होते हैं, जो सरकार या समाज को डराने या मजबूर करने के लिए हिंसा का उपयोग करते हैं।

अमानवीय कृत्य— आतंकवादियों द्वारा किए गए कृत्य अत्यंत अमानवीय होते हैं, जिनमें निर्दोष लोगों की हत्या, अपहरण, बम विस्फोट और सार्वजनिक संपत्ति को नुकसान पहुंचाना शामिल है।

असममित युद्ध— आतंकवाद को अक्सर 'असममित युद्ध' के रूप में देखा जाता है, जहाँ कमजोर पक्ष (आतंकवादी समूह) शक्तिशाली पक्ष (राज्य) के खिलाफ अप्रत्यक्ष और गैर-पारंपरिक तरीकों से लड़ते हैं।

मनोवैज्ञानिक युद्ध— आतंकवाद का एक महत्वपूर्ण पहलू मनोवैज्ञानिक युद्ध है। इसका उद्देश्य लोगों के मन में असुरक्षा की भावना पैदा करना, सामाजिक एकता को तोड़ना और सरकार की विश्वसनीयता को कमजोर करना है।

समाज पर आतंकवाद के प्रभाव—

जीवन और संपत्ति का नुकसान— आतंकवाद का सबसे प्रत्यक्ष और भयावह प्रभाव निर्दोष जीवन का नुकसान और संपत्ति का विनाश है।

भय और असुरक्षा का माहौल— यह समाज में व्यापक भय और असुरक्षा की भावना पैदा करता है, जिससे लोगों के सामान्य जीवन में बाधा आती है।

सामाजिक विघटन— आतंकवाद समुदायों के बीच अविश्वास और विभाजन को बढ़ावा देता है, जिससे सामाजिक एकता कमजोर होती है।

आर्थिक क्षति— आतंकवादी हमले आर्थिक गतिविधियों को बाधित करते हैं, निवेश को हतोत्साहित करते हैं और पर्यटन जैसे उद्योगों को नुकसान पहुंचाते हैं।

मानवाधिकारों का उल्लंघन— आतंकवाद सीधे तौर पर जीवन के अधिकार, स्वतंत्रता और शारीरिक अखंडता जैसे मौलिक मानवाधिकारों का उल्लंघन करता है।

राजनीतिक अस्थिरता— आतंकवाद सरकार को अस्थिर कर सकता है, कानून और व्यवस्था को चुनौती दे सकता है और राजनीतिक उथल-पुथल को जन्म दे सकता है।

कट्टरता और प्रतिशोध— आतंकवाद अक्सर समाज में कट्टरता और प्रतिशोध की भावनाओं को जन्म देता है, जिससे हिंसा का चक्र चलता रहता है।

भ्रष्टाचार और आतंकवाद का संबंध (समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य)— समाजशास्त्र में, भ्रष्टाचार और आतंकवाद को अक्सर जुड़े हुए मिदस्त्रउमदवे के रूप में देखा जाता है। हालांकि वे सीधे तौर पर एक-दूसरे के कारण नहीं होते, लेकिन भ्रष्टाचार आतंकवाद के लिए एक उपजाऊ जमीन तैयार कर सकता है और इसे मजबूत कर सकता है—

असंतोष और हाशिए पर धकेलना— जब भ्रष्टाचार व्यापक होता है, तो यह जनता के बीच असंतोष, निराशा और हताशा पैदा करता है। विशेष रूप से युवा और वंचित वर्ग के लोग महसूस कर सकते हैं कि उनके पास वैध माध्यमों से न्याय पाने या अपने जीवन को बेहतर बनाने का कोई रास्ता नहीं है। यह निराशा उन्हें चरमपंथी विचारधाराओं और आतंकवादी समूहों की ओर धकेल सकती है, जो उन्हें 'व्यवस्था' के खिलाफ लड़ने का एक रास्ता प्रदान करते हैं।

राज्य की वैधता का क्षरण— भ्रष्टाचार सरकार और उसकी संस्थाओं की वैधता को कमजोर करता है। जब जनता को लगता है कि उनकी सरकार भ्रष्ट है और उनके हितों की रक्षा नहीं करती है, तो आतंकवादी समूह इसे राज्य को चुनौती देने और अपनी विचारधाराओं को बढ़ावा देने के अवसर के रूप में देखते हैं।

कमजोर शासन और सुरक्षा— भ्रष्टाचार अक्सर कमजोर शासन, अक्षम कानून प्रवर्तन और कमजोर सीमा नियंत्रण की ओर ले जाता है। यह आतंकवादी समूहों के लिए परिचालन करने, धन जुटाने, हथियारों की तस्करी करने और भर्ती करने के लिए आसान बनाता है।

आतंकवादी वित्तपोषण— कुछ मामलों में, आतंकवादी समूह अपनी गतिविधियों को वित्तपोषित करने के लिए भ्रष्टाचार का उपयोग कर सकते हैं, जैसे कि रिश्वत देकर सीमाएं पार करना या अवैध व्यापार में शामिल होना।

संसाधनों का détournement— भ्रष्टाचार सार्वजनिक संसाधनों को सुरक्षा और विकास से दूर कर देता है, जिससे आतंकवाद से लड़ने और उसकी जड़ों को संबोधित करने की राज्य की क्षमता कमजोर हो जाती है।

निष्कर्ष— रूप में, भ्रष्टाचार और आतंकवाद दोनों ही समाज के लिए गंभीर चुनौतियाँ हैं। भ्रष्टाचार सामाजिक ताने-बाने को तोड़ता है, आर्थिक विकास को बाधित करता है और राजनीतिक अस्थिरता को बढ़ाता है, जिससे एक ऐसा वातावरण बनता है जो आतंकवाद के उदय और प्रसार के लिए अनुकूल हो

सकता है। आतंकवाद स्वयं मानव जीवन, शांति और सुरक्षा के लिए एक सीधा खतरा है। इन दोनों समस्याओं से प्रभावी ढंग से निपटने के लिए एक बहुआयामी दृष्टिकोण की आवश्यकता है, जिसमें सुशासन, पारदर्शिता, सामाजिक न्याय, आर्थिक विकास और नागरिक समाज की सक्रिय भागीदारी शामिल हो।

प्रश्न न0 5— जनसंख्या वृद्धि का मानव जीवन पर प्रभाव एवं जनसंख्या नियंत्रण पर प्रभावी उपाय की व्याख्या कीजिए?

उत्तर— जनसंख्या वृद्धि एक वैश्विक चिंता का विषय है, जिसका मानव जीवन के विभिन्न पहलुओं पर गहरा और बहुआयामी प्रभाव पड़ता है। समाजशास्त्र के दृष्टिकोण से, यह प्रभाव न केवल व्यक्तिगत स्तर पर बल्कि सामाजिक संरचनाओं, संस्थानों और संबंधों पर भी दिखाई देता है।

जनसंख्या वृद्धि का मानव जीवन पर प्रभाव—

जनसंख्या वृद्धि के प्रभावों को मुख्य रूप से सामाजिक, आर्थिक और पर्यावरणीय श्रेणियों में बांटा जा सकता है।

1. सामाजिक प्रभाव—

संसाधनों पर दबाव— बढ़ती जनसंख्या से भोजन, पानी, आवास, शिक्षा और स्वास्थ्य सेवाओं जैसे बुनियादी संसाधनों पर अत्यधिक दबाव पड़ता है। इससे संसाधनों की कमी, असमान वितरण और गुणवत्ता में गिरावट जैसी समस्याएँ उत्पन्न होती हैं।

गरीबी और असमानता— अधिक जनसंख्या अक्सर बेरोजगारी, निम्न प्रति व्यक्ति आय और गरीबी में वृद्धि का कारण बनती है। संसाधनों के असमान वितरण के कारण समाज में अमीर और गरीब के बीच खाई बढ़ जाती है, जिससे सामाजिक असमानता उत्पन्न होती है।

अपराध में वृद्धि— जब जनसंख्या बढ़ती है और रोजगार के अवसर सीमित होते हैं, तो कुछ लोग अपराध की ओर मुड़ सकते हैं। संसाधनों पर दबाव और बढ़ती हताशा अपराध दर में वृद्धि कर सकती है।

शहरीकरण और भीड़भाड़— बढ़ती जनसंख्या के कारण लोग ग्रामीण क्षेत्रों से शहरों की ओर पलायन करते हैं, जिससे शहरों में भीड़भाड़, अनियोजित शहरीकरण, झुग्गी-झोपड़ियों का विस्तार और नागरिक सुविधाओं पर अत्यधिक दबाव पड़ता है।

पारिवारिक समस्याएँ और मानसिक स्वास्थ्य— छोटे घरों और सीमित रहने की जगह के कारण परिवारों में तनाव और कलह बढ़ सकता है। अधिक भीड़भाड़, शोर और निजी स्थान की कमी लोगों के मानसिक स्वास्थ्य पर नकारात्मक प्रभाव डाल सकती है, जिससे तनाव, चिंता और अवसाद बढ़ सकता है।

सामाजिक विघटन— तीव्र जनसंख्या वृद्धि से सामाजिक संरचनाओं और पारंपरिक मूल्यों में परिवर्तन आ सकता है, जिससे सामाजिक विघटन और अस्थिरता उत्पन्न हो सकती है।

शिक्षा और स्वास्थ्य सेवाओं पर बोझ— बढ़ती आबादी के लिए पर्याप्त स्कूल, कॉलेज और स्वास्थ्य सुविधाएँ प्रदान करना एक बड़ी चुनौती बन जाती है, जिससे शिक्षा की गुणवत्ता में गिरावट और स्वास्थ्य सेवाओं तक पहुंच में कमी आ सकती है।

2. आर्थिक प्रभाव—

प्रति व्यक्ति आय में कमी— यदि जनसंख्या वृद्धि दर कुल राष्ट्रीय आय की वृद्धि दर से अधिक हो तो प्रति व्यक्ति आय में कमी आती है, जिससे लोगों का जीवन स्तर प्रभावित होता है।

रोजगार के अवसरों की कमी— बढ़ती जनसंख्या के साथ रोजगार के अवसर पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध नहीं हो पाते, जिससे बेरोजगारी बढ़ती है।

निवेश और बचत पर प्रभाव— अधिक जनसंख्या अक्सर कम बचत दर और निवेश की धीमी गति का कारण बनती है, जिससे आर्थिक विकास प्रभावित होता है।

बुनियादी ढाँचे पर दबाव— सड़क, परिवहन, बिजली और संचार जैसी बुनियादी सुविधाओं पर अत्यधिक दबाव पड़ता है, जिससे उनकी गुणवत्ता और उपलब्धता प्रभावित होती है।

कृषि उत्पादकता में कमी— भूमि पर निरंतर दबाव बढ़ने से भू-जोतों का आर्थिक विभाजन होता है और कृषि उत्पादकता में कमी आती है, जिससे खाद्य सुरक्षा प्रभावित होती है।

3. पर्यावरणीय प्रभाव—

प्राकृतिक संसाधनों का क्षरण— बढ़ती आबादी की जरूरतों को पूरा करने के लिए ईंधन, खनिज, जल, वन और अन्य प्राकृतिक संसाधनों का अत्यधिक दोहन होता है, जिससे पर्यावरणीय असंतुलन और संसाधनों की कमी होती है।

प्रदूषण में वृद्धि— शहरीकरण, औद्योगीकरण और अधिक वाहनों के कारण वायु, जल और ध्वनि प्रदूषण में वृद्धि होती है, जिससे मानव स्वास्थ्य और पर्यावरण पर नकारात्मक प्रभाव पड़ता है।

जैव विविधता का नुकसान— वनों की कटाई, आवासों का विनाश और प्रदूषण के कारण जैव विविधता का नुकसान होता है, जिससे पारिस्थितिकी तंत्र का संतुलन बिगड़ता है।

जलवायु परिवर्तन— अधिक जनसंख्या और संसाधनों के अत्यधिक उपयोग से ग्रीनहाउस गैसों का उत्सर्जन बढ़ता है, जिससे जलवायु परिवर्तन और वैश्विक तापमान में वृद्धि होती है।

जनसंख्या नियंत्रण पर प्रभावी उपाय—

जनसंख्या वृद्धि को नियंत्रित करने के लिए बहुआयामी और संवेदनशील दृष्टिकोण अपनाना आवश्यक है, जिसमें शिक्षा, जागरूकता, स्वास्थ्य सेवाओं में सुधार और सामाजिक-आर्थिक विकास पर जोर दिया जाए—

1. शिक्षा का प्रसार और जागरूकता— महिलाओं की शिक्षारू महिलाओं को शिक्षित करना जनसंख्या नियंत्रण का सबसे प्रभावी उपाय माना जाता है। शिक्षित महिलाएं परिवार नियोजन के महत्व को समझती हैं, स्वास्थ्य सेवाओं का बेहतर उपयोग करती हैं और बच्चों की संख्या को लेकर अधिक जागरूक निर्णय लेती हैं।

परिवार नियोजन की जानकारी— लोगों को परिवार नियोजन के विभिन्न तरीकों (गर्भनिरोधक, नसबंदी आदि) के बारे में सही और व्यापक जानकारी प्रदान करना। इसमें विश्वसनीय जानकारी स्रोत और परामर्श सेवाएँ शामिल होनी चाहिए।

छोटे परिवार का महत्व— छोटे परिवार के लाभों (बेहतर शिक्षा, स्वास्थ्य, आर्थिक स्थिरता) के बारे में जागरूकता अभियान चलाना।

सामाजिक कुरीतियों का उन्मूलन— बाल विवाह, पुत्र रत्न की चाहत और लैंगिक भेदभाव जैसी सामाजिक कुरीतियों को दूर करने के लिए जागरूकता अभियान चलाना।

2. स्वास्थ्य सेवाओं में सुधार— परिवार नियोजन सेवाओं की उपलब्धतारू ग्रामीण और शहरी दोनों क्षेत्रों में परिवार नियोजन सेवाओं को सुलभ और किफायती बनाना, जिसमें विभिन्न प्रकार के गर्भनिरोधक विकल्प और नसबंदी सुविधाएँ शामिल हों।

मातृ एवं शिशु स्वास्थ्य में सुधार— शिशु मृत्यु दर को कम करना, जिससे माता-पिता अनावश्यक रूप से अधिक बच्चे पैदा करने से बच सकें।

प्रजनन स्वास्थ्य सेवाएँ— प्रजनन स्वास्थ्य सेवाओं को मजबूत करना, जिसमें प्रसवपूर्व और प्रसवोत्तर देखभाल, सुरक्षित गर्भपात सुविधाएँ और यौन शिक्षा शामिल हो।

3. सामाजिक-आर्थिक सशक्तिकरण—

महिलाओं का सशक्तिकरणरू महिलाओं को आर्थिक रूप से स्वतंत्र बनाना और उन्हें निर्णय लेने की प्रक्रिया में शामिल करना। इससे उन्हें अपने प्रजनन अधिकारों के बारे में सूचित निर्णय लेने में मदद मिलेगी।

रोजगार के अवसर— बेहतर रोजगार के अवसर प्रदान करना, जिससे लोग आर्थिक रूप से स्थिर हो सकें और बड़े परिवारों पर निर्भरता कम हो।

सामाजिक सुरक्षा— वृद्धों और अक्षम लोगों के लिए सामाजिक सुरक्षा योजनाओं को मजबूत करना, जिससे लोग बुढ़ापे में समर्थन के लिए अधिक बच्चों पर निर्भर न रहें।

4. सरकारी नीतियाँ और कार्यक्रम—

राष्ट्रीय जनसंख्या नीति— एक प्रभावी राष्ट्रीय जनसंख्या नीति बनाना और उसे सख्ती से लागू करना, जिसमें छोटे परिवार को प्रोत्साहित करने वाले प्रोत्साहन और दंड शामिल हों।

कानूनी उपाय— विवाह की न्यूनतम आयु बढ़ाना और बाल विवाह को सख्ती से रोकना।

प्रोत्साहन और सुविधाएँ— छोटे परिवार को अपनाने वाले जोड़ों को कर छूट, वित्तीय सहायता, बेहतर शिक्षा और स्वास्थ्य सेवाएँ जैसी प्रोत्साहन सुविधाएँ प्रदान करना।

गोद लेने को प्रोत्साहन— अनाथ बच्चों को गोद लेने के लिए परिवारों को प्रोत्साहित करना, जिससे अनाथ बच्चों की स्थिति में सुधार हो और जनसंख्या पर बोझ कम हो।

उत्तरदायित्व और जवाबदेही— स्थानीय निकायों और समुदायों को जनसंख्या नियंत्रण कार्यक्रमों में सक्रिय रूप से शामिल करना और उनकी जवाबदेही सुनिश्चित करना।

5. अनुसंधान और नवाचार—परिवार नियोजन के नए तरीकों का विकासरू अधिक प्रभावी और सुरक्षित गर्भनिरोधक तरीकों पर अनुसंधान को बढ़ावा देना।

डेटा संग्रह और विश्लेषण— जनसंख्या के रुझानों और पैटर्न को समझने के लिए नियमित रूप से डेटा एकत्र करना और उसका विश्लेषण करना, ताकि प्रभावी नीतियां बनाई जा सकें।

संक्षेप में, जनसंख्या वृद्धि मानव जीवन के लिए एक जटिल चुनौती है, जिसके सामाजिक, आर्थिक और पर्यावरणीय परिणाम होते हैं। जनसंख्या नियंत्रण के लिए एक समग्र दृष्टिकोण की आवश्यकता है, जिसमें शिक्षा, स्वास्थ्य सेवा, महिलाओं के सशक्तिकरण और प्रभावी सरकारी नीतियों को शामिल किया जाए, ताकि एक स्थायी और न्यायसंगत भविष्य सुनिश्चित किया जा सके।

प्रश्न नं 6— सफेदपोश अपराध किसे कहते हैं मानव जीवन में सफेदपोश अपराध के प्रभाव की व्याख्या कीजिए?

उत्तर—“सफेदपोश अपराध” एक समाजशास्त्रीय अवधारणा है जिसे सबसे पहले अमेरिकी समाजशास्त्री एडविन सदरलैंड ने 1939 में प्रस्तुत किया था। उन्होंने इसे षसम्मानजनक और उच्च सामाजिक स्थिति वाले व्यक्ति द्वारा अपने व्यवसाय के दौरान किए गए अपराध के रूप में परिभाषित किया।

सफेदपोश अपराध की मुख्य विशेषताएं—

उच्च सामाजिक—आर्थिक स्थिति— ये अपराध मुख्य रूप से उन व्यक्तियों द्वारा किए जाते हैं जिनकी समाज में उच्च प्रतिष्ठा, शिक्षा और आर्थिक स्थिति होती है, जैसे कि व्यवसायी, राजनेता, डॉक्टर, वकील, बैंककर्मी, सरकारी अधिकारी आदि।

गैर—हिंसक प्रकृति— ये अपराध आमतौर पर शारीरिक हिंसा से रहित होते हैं। इनमें धोखाधड़ी, जालसाजी, गबन, रिश्वतखोरी, कर चोरी, इनसाइडर ट्रेडिंग, मनी लॉन्ड्रिंग, उपभोक्ता धोखाधड़ी, पर्यावरण संबंधी अपराध, नकली उत्पादों का निर्माण और बिक्री, व्यावसायिक गोपनीयता की चोरी आदि शामिल हैं।

व्यावसायिक या पेशेवर संदर्भ— ये अपराध अक्सर व्यक्ति के पेशेवर या व्यावसायिक गतिविधियों के दौरान, या उन पदों का दुरुपयोग करके किए जाते हैं जिनमें वे कार्यरत होते हैं।

गुप्त प्रकृति— सफेदपोश अपराधी अक्सर अपनी गतिविधियों को छिपाने में माहिर होते हैं। इन अपराधों का पता लगाना और उनके खिलाफ सबूत इकट्ठा करना मुश्किल हो सकता है, क्योंकि वे अक्सर जटिल वित्तीय लेन-देन या संगठित षड्यंत्रों के माध्यम से किए जाते हैं।

कम दंड— पारंपरिक अपराधों की तुलना में सफेदपोश अपराधों के लिए अक्सर कम कठोर दंड दिए जाते हैं, और अपराधी अक्सर अपनी सामाजिक स्थिति और कानूनी संसाधनों का लाभ उठाकर बच निकलते हैं।

लोभ से प्रेरित— सदरलैंड और अन्य समाजशास्त्रियों के अनुसार, सफेदपोश अपराध अक्सर आवश्यकता से अधिक लोभ और शक्ति के दुरुपयोग से प्रेरित होते हैं।

मानव जीवन पर सफेदपोश अपराधों के प्रभाव—सफेदपोश अपराध मानव जीवन और समाज पर गहरे और दूरगामी नकारात्मक प्रभाव डालते हैं। ये प्रभाव अक्सर प्रत्यक्ष हिंसक अपराधों की तुलना में कम स्पष्ट होते हैं, लेकिन इनकी गंभीरता कहीं अधिक हो सकती है—

आर्थिक नुकसान—

व्यक्तिगत हानि— आम जनता, निवेशक और उपभोक्ता अक्सर सफेदपोश अपराधों के सीधे शिकार होते हैं। धोखाधड़ी वाली योजनाओं (जैसे पोंजी स्कीम), नकली उत्पादों या गलत निवेश सलाह के कारण लोग अपनी बचत, संपत्ति और जीवन भर की कमाई गंवा सकते हैं।

संस्थागत और राष्ट्रीय हानि—बड़े पैमाने पर धोखाधड़ी, कर चोरी और गबन से कंपनियों, बैंकों और सरकारी संस्थानों को भारी वित्तीय नुकसान होता है। इससे राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था कमजोर होती है, जिससे विकास पर नकारात्मक प्रभाव पड़ता है और सार्वजनिक सेवाओं के लिए धन की कमी हो सकती है।

आय असमानता में वृद्धि— सफेदपोश अपराध अक्सर उच्च वर्ग के लोगों को अवैध तरीकों से और अधिक धन कमाने का मौका देते हैं, जिससे समाज में आय असमानता बढ़ती है।

सामाजिक विश्वास का क्षरण—

संस्थाओं पर अविश्वास— जब लोग देखते हैं कि उच्च पदों पर बैठे लोग कानून का उल्लंघन कर रहे हैं और बच निकलते हैं, तो उनका सरकार, वित्तीय संस्थानों, कानूनी प्रणाली और व्यावसायिक संगठनों पर से विश्वास उठने लगता है। यह सामाजिक स्थिरता के लिए खतरा पैदा करता है।

नैतिकता का ह्रास— सफेदपोश अपराध समाज में एक संदेश भेजते हैं कि नैतिकता और ईमानदारी से अधिक महत्वपूर्ण धन और शक्ति है। यह युवाओं और सामान्य नागरिकों के नैतिक मूल्यों को कमजोर कर सकता है।

न्याय प्रणाली पर दबाव— सफेदपोश अपराधों की जटिल प्रकृति के कारण न्याय प्रणाली पर इन्हें सुलझाने का अत्यधिक दबाव पड़ता है। इन मामलों में अक्सर लंबा समय लगता है और दोषियों को दंडित करने में विफलता से न्याय प्रणाली की विश्वसनीयता कम होती है।

स्वास्थ्य और सुरक्षा पर प्रभाव—

सार्वजनिक स्वास्थ्य को खतरा— कुछ सफेदपोश अपराध सीधे सार्वजनिक स्वास्थ्य को प्रभावित करते हैं, जैसे कि नकली दवाएं बेचना, पर्यावरण नियमों का उल्लंघन कर प्रदूषण फैलाना, या खाद्य उत्पादों में मिलावट करना। इनसे गंभीर बीमारियाँ और मृत्यु भी हो सकती है।

कर्मचारियों का शोषण— श्रम धोखाधड़ी, मजदूरी की चोरी, और असुरक्षित कामकाजी परिस्थितियों को बढ़ावा देना सफेदपोश अपराधों के उदाहरण हैं जो सीधे श्रमिकों के जीवन और स्वास्थ्य को प्रभावित करते हैं।

लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं को कमजोर करना—

भ्रष्टाचार— रिश्वतखोरी और राजनीतिक भ्रष्टाचार सफेदपोश अपराधों के प्रमुख उदाहरण हैं जो लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं को भ्रष्ट करते हैं। इससे जनता की भागीदारी कम होती है और सत्ता में बैठे लोग अपने निजी स्वार्थों के लिए काम करते हैं, न कि जनता के हित में।

नीतिगत विरूपण— लॉबिंग और अनुचित प्रभाव के माध्यम से नीतियां सफेदपोश अपराधियों के पक्ष में बनाई जा सकती हैं, जिससे सामान्य जनता को नुकसान होता है।

मनोवैज्ञानिक और सामाजिक प्रभाव—

निराशा और हताशारू जिन लोगों को सफेदपोश अपराधों से नुकसान होता है, वे अक्सर न्याय की कमी और अपनी बेबसी के कारण निराशा और हताशा महसूस करते हैं।

सामाजिक असमानता की भावना— सफेदपोश अपराधों के माध्यम से अपराधी बिना किसी परिणाम के अमीर बनते जाते हैं, जिससे समाज के वंचित वर्गों में अन्याय और असमानता की भावना बढ़ती है।

संक्षेप में, सफेदपोश अपराध समाज के ताने-बाने को अंदर से खोखला करते हैं। वे न केवल आर्थिक नुकसान पहुँचाते हैं, बल्कि सामाजिक विश्वास, नैतिकता और लोकतांत्रिक संस्थाओं को भी कमजोर करते हैं, जिसका मानव जीवन पर गहरा और विनाशकारी प्रभाव पड़ता है। इनकी रोकथाम और इनसे निपटने के लिए मजबूत कानूनी ढांचे, प्रभावी प्रवर्तन और जन जागरूकता की आवश्यकता है।

प्रश्न न0 7— किशोर अपचारी की व्याख्या करते हुए, बालक के अपचारी व्यवहार से संरक्षण की व्याख्या कीजिए?

उत्तर— किशोर अपचारी की व्याख्या—किशोर अपचारी (Juvenile Delinquent) से तात्पर्य ऐसे व्यक्ति से है जिसने वयस्कता की आयु प्राप्त नहीं की है, और वह कोई ऐसा कार्य करता है जो कानून का उल्लंघन करता है। भारत में, सामान्यतः 18 वर्ष से कम आयु के व्यक्ति को 'किशोर' या 'बालक' माना जाता है। पहले 'किशोर अपराधी' शब्द का प्रयोग होता था, लेकिन अब 'विधि विवादित बालक' (Child in conflict with law) शब्द का उपयोग किया जाता है, जिसका उद्देश्य बच्चे को अपराधी के रूप में टैग करने से बचाना और उसके पुनर्वास पर जोर देना है।

किशोर अपचारी व्यवहार किसी एक कारक का परिणाम नहीं होता है, बल्कि यह जैविक, मनोवैज्ञानिक और सामाजिक कारकों के जटिल अंतःक्रिया का संयोजन होता है। कुछ प्रमुख कारक इस प्रकार हैं—

पारिवारिक कारक— टूटे हुए परिवार, माता-पिता का अत्यधिक कठोर या अनुपस्थित व्यवहार, पारिवारिक हिंसा, माता-पिता द्वारा नशा करना, बच्चों की उपेक्षा या दुर्यवहार, और सामाजिक-आर्थिक अभाव किशोर अपचारी व्यवहार को बढ़ावा दे सकते हैं।

सामाजिक कारक गरीबी, बेरोजगारी, शिक्षा का अभाव, साथियों का बुरा प्रभाव (पीयर प्रेशर), गैंग में शामिल होना, सामाजिक बहिष्कार, और समुदाय में व्याप्त अपराध की उच्च दर किशोरों को अपराध की ओर धकेल सकती है।

व्यक्तिगत कारक— भावनात्मक और मानसिक अस्थिरता, सीखने की अक्षमता, कम आत्म-सम्मान, आवेगपूर्ण व्यवहार, नशे की लत, और मनोवैज्ञानिक समस्याएं भी अपचारी व्यवहार का कारण बन सकती हैं।

शैक्षणिक कारक— स्कूल छोड़ना, स्कूल में खराब प्रदर्शन, अध्यापकों द्वारा उत्पीड़न, या छात्रों द्वारा उपहास के कारण बच्चे हीनता की भावना से ग्रसित होकर अपराध की ओर प्रवृत्त हो सकते हैं।

यह समझना महत्वपूर्ण है कि एक किशोर में मानसिक और बौद्धिक परिपक्वता का अभाव होता है, और वे अक्सर समूह द्वारा स्वीकार किए जाने या तात्कालिक संतुष्टि के लिए ऐसे कार्यों में शामिल हो जाते हैं जो समाज के मानदंडों के विरुद्ध होते हैं।

बालक के अपचारी व्यवहार से संरक्षण की व्याख्या— बालक के अपचारी व्यवहार से संरक्षण का अर्थ है ऐसे उपायों और नीतियों को लागू करना जो बच्चों को अपराध करने से रोकें और यदि वे किसी अपराध में शामिल हो जाते हैं, तो उन्हें समाज की मुख्य धारा में वापस लाने और उनके पुनर्वास को सुनिश्चित करें। इसका मुख्य उद्देश्य दंडित करना नहीं, बल्कि सुधार करना है। भारत में, किशोर न्याय (बालकों की देखरेख और संरक्षण) अधिनियम, 2015 इस दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम है। यह अधिनियम बच्चों के कल्याण और बदलाव के आशय रखता है और बच्चों के साथ सामान्य अपराधियों की तरह व्यवहार न करने पर जोर देता है।

बालक के अपचारी व्यवहार से संरक्षण के लिए विभिन्न स्तरों पर प्रयास किए जाते हैं—

1. प्राथमिक स्तर पर संरक्षण (रोकथाम)— यह सबसे महत्वपूर्ण स्तर है, जहाँ बच्चों को अपराध से दूर रखने के लिए प्रयास किए जाते हैं। इसमें शामिल हैं—

मजबूत पारिवारिक वातावरण— माता-पिता को बच्चों की उचित देखभाल, पोषण, और भावनात्मक समर्थन प्रदान करने के लिए शिक्षित करना। सकारात्मक अनुशासन प्रथाओं को बढ़ावा देना और पारिवारिक हिंसा को रोकना।

गुणवत्तापूर्ण शिक्षा और विकास के अवसर— सभी बच्चों को शिक्षा, स्वास्थ्य देखभाल, और अपनी क्षमताओं का पूर्ण विकास करने के अवसर प्रदान करना। स्कूल छोड़ने की दर को कम करना और बच्चों को स्कूल में सुरक्षित और सहायक वातावरण प्रदान करना।

समुदाय आधारित कार्यक्रम— ऐसे कार्यक्रम चलाना जो बच्चों को सकारात्मक गतिविधियों में शामिल करें, जैसे खेल, कला, और सामुदायिक सेवा। युवाओं के लिए रोजगार के अवसर पैदा करना और गरीबी को कम करना।

जागरूकता और शिक्षा— बच्चों, परिवारों और समुदायों को किशोर अपचारी व्यवहार के कारणों और परिणामों के बारे में शिक्षित करना। नशीली दवाओं और शराब के दुरुपयोग के खिलाफ जागरूकता बढ़ाना।

2. द्वितीयक स्तर पर संरक्षण (शीघ्र हस्तक्षेप)— यह उन बच्चों पर केंद्रित है जो अपचारी व्यवहार के उच्च जोखिम में हैं या जिन्होंने अभी-अभी छोटे-मोटे अपराध किए हैं। इसमें शामिल हैं—

परामर्श और मार्गदर्शन— जोखिम वाले बच्चों और उनके परिवारों को मनोवैज्ञानिक परामर्श और मार्गदर्शन प्रदान करना।

सामाजिक सहायता सेवाएं— ऐसे बच्चों को सामाजिक सहायता प्रदान करना जो उपेक्षित हैं या दुर्व्यवहार के शिकार हैं।

स्कूल और समुदाय में हस्तक्षेप— स्कूल और समुदाय में ऐसे कार्यक्रमों को लागू करना जो बच्चों को सही रास्ते पर लाने में मदद करें, जैसे कि सहकर्मी सहायता समूह और गुरु कार्यक्रम।

पुलिस और न्यायिक प्रणाली का मित्रवत दृष्टिकोण— पुलिस और न्यायिक अधिकारियों को बच्चों के साथ संवेदनशील और मित्रवत व्यवहार करने के लिए प्रशिक्षित करना, ताकि वे अपराधबोध या शर्मिंदगी महसूस न करें।

3. तृतीयक स्तर पर संरक्षण (पुनर्वास और पुनर्समेकन)— यह उन बच्चों के लिए है जो गंभीर अपराधों में शामिल हो गए हैं और जिन्हें न्यायिक प्रणाली के माध्यम से प्रबंधित किया जा रहा है। इसमें शामिल हैं—

किशोर न्याय बोर्ड (Juvenile Justice Board)— ये बोर्ड बच्चों के मामलों का निपटारा करते हैं और उनके सर्वोत्तम हित को ध्यान में रखते हुए निर्णय लेते हैं।

विशेष किशोर पुलिस इकाई (Special Juvenile Police Unit)— पुलिस का यह विशेष विभाग बच्चों के साथ संवेदनशील व्यवहार करता है और उनके अधिकारों की रक्षा करता है।

बाल गृह और विशेष गृह— इन संस्थाओं में बच्चों को सुरक्षित वातावरण में रखा जाता है, जहाँ उन्हें शिक्षा, व्यावसायिक प्रशिक्षण, परामर्श और चिकित्सा सुविधाएं प्रदान की जाती हैं।

पश्चात देखरेख (Aftercare)— 18 वर्ष की आयु पूरी करने के बाद भी, बच्चों को समाज की मुख्य धारा से जुड़ने के लिए वित्तीय और अन्य सहायता प्रदान की जाती है।

मुख्यधारा में पुनर्समेलन— बच्चों को उनके परिवार और समुदाय में वापस लाने के लिए प्रयास किए जाते हैं, ताकि वे एक सामान्य और उत्पादक जीवन जी सकें।

संक्षेप में, किशोर अपचारी व्यवहार से संरक्षण एक बहुआयामी दृष्टिकोण है जो रोकथाम, शीघ्र हस्तक्षेप और पुनर्वास पर केंद्रित है। इसका लक्ष्य बच्चों को अपराधी के बजाय “विधि विवादित बालक” के रूप में देखना और उन्हें एक सुरक्षित और सहायक वातावरण प्रदान करना है ताकि वे समाज के जिम्मेदार सदस्य बन सकें।

प्रश्न नं० 8— लैंगिक विभिन्नता के आधार पर पड़ने वाले प्रभाव की व्याख्या एवं महिलाओं के कल्याण के संदर्भ में उपाय बतलाइए?

उत्तर—लैंगिक विभिन्नता के आधार पर पड़ने वाले प्रभाव और महिलाओं के कल्याण के संदर्भ में उपाय लैंगिक विभिन्नता (Gender Inequality) का तात्पर्य लैंगिक आधार पर महिलाओं और पुरुषों के बीच होने वाले भेदभाव से है, जहाँ महिलाओं को अक्सर समाज में कमजोर वर्ग के रूप में देखा जाता है। यह असमानता केवल भारत में ही नहीं, बल्कि वैश्विक स्तर पर एक गंभीर समस्या है, जिसके दूरगामी सामाजिक, आर्थिक और मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ते हैं।

लैंगिक विभिन्नता के आधार पर पड़ने वाले प्रभाव—

सामाजिक प्रभाव—

भेदभाव और शोषण— परंपरागत रूप से समाज में महिलाओं को घर और बाहर दोनों जगहों पर शोषण, अपमान और भेदभाव का शिकार होना पड़ता है।

रूढ़िवादिता और पितृसत्तात्मक मानसिकता— समाज में गहरी जड़ें जमा चुकी पितृसत्तात्मक सोच और रूढ़िवादिता महिलाओं की भूमिका को सीमित कर देती है, उन्हें केवल घरेलू कार्यों के लिए उपयुक्त समझा जाता है।

सीमित अवसर— लड़कियों को शिक्षा, स्वास्थ्य, निर्णय लेने की क्षमता और सामाजिक-सांस्कृतिक गतिविधियों में पुरुषों की तुलना में कम अवसर मिलते हैं, जिससे उनके व्यक्तित्व का पूर्ण विकास बाधित होता है।

हिंसा और असुरक्षा— लैंगिक असमानता बालिकाओं के प्रति बढ़ती हिंसात्मक प्रवृत्ति, लिंग आधारित हिंसा, शोषण और घरेलू मारपीट जैसी समस्याओं को जन्म देती है, जिससे उनमें असुरक्षा की भावना उत्पन्न होती है।

मानसिक स्वास्थ्य पर प्रभाव— लगातार भेदभाव और सीमित अवसरों के कारण महिलाओं में तनाव, अवसाद और आत्म-सम्मान की कमी जैसी मानसिक स्वास्थ्य संबंधी समस्याएं उत्पन्न हो सकती हैं।

आर्थिक प्रभाव—

कार्यस्थल पर असमानता— महिलाओं को अक्सर समान कार्य के लिए पुरुषों की तुलना में कम वेतन मिलता है। साथ ही, उन्हें वरिष्ठ और प्रबंधकीय पदों पर सीमित प्रतिनिधित्व मिलता है।

आर्थिक निर्भरता— समाज की सोच के कारण कई महिलाएं आर्थिक रूप से पुरुषों पर निर्भर रहती हैं, जिससे उनकी निर्णय लेने की क्षमता प्रभावित होती है।

विकास में बाधा— लैंगिक असमानता न केवल महिलाओं के व्यक्तिगत विकास में बाधा डालती है, बल्कि राष्ट्र के आर्थिक और सामाजिक विकास को भी प्रभावित करती है। विश्व बैंक की रिपोर्ट के अनुसार, पुरुषों और महिलाओं के वेतन में असमानता से वैश्विक अर्थव्यवस्था को भारी नुकसान उठाना पड़ता है।

संसाधनों तक सीमित पहुंच— महिलाओं को अक्सर सेवाओं और संसाधनों तक पहुंच और नियंत्रण में असमानताओं का सामना करना पड़ता है।

राजनीतिक प्रभाव—

सीमित राजनीतिक भागीदारी— महिलाओं की राजनीतिक भागीदारी और निर्णय लेने की प्रक्रियाओं में प्रतिनिधित्व कम होता है, जिससे उनकी आवाज और मुद्दों को पर्याप्त महत्व नहीं मिल पाता है।

नीति निर्माण में कमी— महिलाओं की विशिष्ट जरूरतों को पूरा करने वाली नीतियों और योजनाओं के निर्माण में बाधा आती है क्योंकि उनकी भागीदारी कम होती है।

महिलाओं के कल्याण के संदर्भ में उपाय—

महिलाओं के कल्याण और लैंगिक समानता प्राप्त करने के लिए बहुआयामी दृष्टिकोण अपनाने की आवश्यकता है, जिसमें कानूनी, सामाजिक, आर्थिक और शैक्षिक उपाय शामिल हों—

शिक्षा और जागरूकता—

बालिका शिक्षा को बढ़ावा— सभी बालिकाओं को मुफ्त और गुणवत्तापूर्ण शिक्षा तक समान पहुंच सुनिश्चित करना, ताकि वे अपनी क्षमता का पूर्ण उपयोग कर सकें।

लैंगिक संवेदनशीलता— पाठ्यपुस्तकों, फिल्मों और मीडिया में लैंगिक रूढ़िवादिता को समाप्त कर लैंगिक संवेदनशीलता को बढ़ावा देना। समाज में पुरुषों और महिलाओं दोनों को लैंगिक समानता के महत्व के बारे में जागरूक करना।

कौशल विकास— महिलाओं को व्यावसायिक प्रशिक्षण और कौशल विकास कार्यक्रमों से जोड़ना ताकि वे आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर बन सकें।

कानूनी और नीतिगत उपाय—

भेदभाव विरोधी कानून— समान वेतन, कार्यस्थल पर उत्पीड़न की रोकथाम और लिंग आधारित हिंसा के खिलाफ कड़े कानूनों का प्रभावी ढंग से क्रियान्वयन।

जेंडर बजटिंग— सरकारी योजनाओं में महिला सशक्तिकरण और शिशु कल्याण के लिए पर्याप्त धन आवंटन सुनिश्चित करना, ताकि योजनाओं का लाभ महिलाओं तक पहुंच सके।

कानूनी सहायता— महिलाओं को उनके अधिकारों के बारे में जागरूक करना और उन्हें कानूनी सहायता प्रदान करना।

आर्थिक सशक्तिकरण—

स्वरोजगार को बढ़ावा— महिलाओं को छोटे व्यवसाय शुरू करने और सहकारी समितियों का निर्माण करने के लिए वित्तीय सहायता और प्रशिक्षण प्रदान करना।

महिला उद्यमिता— स्टैंड-अप इंडिया, महिला ई-हाट और प्रधानमंत्री मुद्रा योजना जैसी पहलों के माध्यम से महिला उद्यमियों को बढ़ावा देना।

संपत्ति का अधिकार— महिलाओं को संपत्ति के अधिकार सुनिश्चित करना ताकि वे आर्थिक रूप से स्वतंत्र हो सकें।

सामाजिक और सांस्कृतिक बदलाव— पितृसत्तात्मक सोच को चुनौती देना समाज में पितृसत्तात्मक विचारों, मानदंडों और परंपराओं को चुनौती देना और लैंगिक समानता को बढ़ावा देना।

समुदाय की भागीदारी— बालिकाओं के कल्याण और विकास के लिए सामुदायिक सहभागिता को प्रोत्साहित करना, जिसमें बाल विवाह और लिंग-आधारित हिंसा जैसी बाधाओं का समाधान शामिल है।

समान घरेलू भूमिकाएं— घर के भीतर पुरुषों को भी घरेलू जिम्मेदारियों में सक्रिय भूमिका निभाने के लिए प्रोत्साहित करना।

सरकारी योजनाएं और कार्यक्रम—

बेटी बचाओ, बेटी पढ़ाओ— लिंग-आधारित गर्भपात और कम लिंग अनुपात जैसी सामाजिक समस्याओं का समाधान करना और लड़कियों की शिक्षा व सशक्तिकरण को बढ़ावा देना।

प्रधानमंत्री उज्ज्वला योजना— आर्थिक रूप से कमजोर परिवारों को रसोई गैस सिलेंडर उपलब्ध कराकर महिलाओं को लकड़ी या कोयले के धुएं से मुक्त कराना।

प्रधानमंत्री मातृ वंदना योजना— गर्भवती महिलाओं और स्तनपान कराने वाली माताओं को वित्तीय सहायता प्रदान करना।

मुख्यमंत्री लाड़ली लक्ष्मी योजना/कन्या सुमंगला योजना— बालिकाओं के जन्म और शिक्षा को बढ़ावा देने के लिए वित्तीय प्रोत्साहन प्रदान करना।

महिला शक्ति केंद्र— महिलाओं के सशक्तिकरण के लिए विभिन्न योजनाओं और कार्यक्रमों को एक साथ लाना।

गैर-सरकारी संगठनों (NGOs) की भूमिका—विभिन्न महिला संगठन (जैसे वूमेन्स इंडिया एसोसिएशन, द नेशनल काउंसिल फोर इंडियन वूमेन, ऑल इंडिया वूमेन्स कान्फ्रेंस) महिलाओं की सामाजिक समस्याओं के उन्मूलन और उन्हें शिक्षित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

ये संगठन शिक्षा, व्यावसायिक प्रशिक्षण, महिलाओं के अधिकारों की जागरूकता और मनोवैज्ञानिक सहायता प्रदान करके महिलाओं के सशक्तिकरण में सहायक होते हैं।

संक्षेप में, लैंगिक विभिन्नता एक जटिल सामाजिक समस्या है जिसके व्यापक नकारात्मक प्रभाव पड़ते हैं। महिलाओं के कल्याण के लिए एक समग्र दृष्टिकोण की आवश्यकता है जो शिक्षा, कानूनी सुधार, आर्थिक सशक्तिकरण, सामाजिक जागरूकता और सरकारी व गैर-सरकारी संगठनों के संयुक्त प्रयासों पर केंद्रित हो। तभी हम एक ऐसे समाज का निर्माण कर सकते हैं जहाँ सभी को समान अवसर और सम्मान मिले।

प्रश्न न0 9— लैंगिक विभिन्नता के आधार पर पड़ने वाले प्रभाव की व्याख्या एवं महिलाओं के कल्याण के संदर्भ में उपाय बतलाइए?

उत्तर— सामाजिक संरचना, संतुलन और समुदाय के विकास के साथ-साथ विकासशील भारत में सामाजिक एकीकरण को समझना समाजशास्त्र का एक महत्वपूर्ण पहलू है। यह एक जटिल और बहुआयामी विषय है, जिसमें कई अंतर्संबंधित अवधारणाएं शामिल हैं।

1. सामाजिक संरचना—

सामाजिक संरचना समाज में व्यक्तियों और समूहों के बीच व्यवस्थित और नियमित संबंधों को संदर्भित करती है। यह समाज की नींव है, जो इसे एक विशेष आकार और स्थिरता प्रदान करती है। इसमें विभिन्न इकाइयाँ जैसे समूह, समितियाँ, संस्थाएँ, सामाजिक प्रतिमान और मूल्य शामिल होते हैं, जो परस्पर संबद्ध होकर एक सुव्यवस्थित ढाँचा बनाते हैं। भारत में, सामाजिक संरचना ऐतिहासिक रूप से जटिल रही है, जिसमें जाति व्यवस्था, ग्रामीण-शहरी विभाजन, धार्मिक बहुलता और भाषाई विविधता जैसे कारक शामिल हैं। ये कारक सामाजिक संबंधों और अंतःक्रियाओं को गहराई से प्रभावित करते हैं।

2. सामाजिक संतुलन—

सामाजिक संतुलन से तात्पर्य समाज में स्थिरता और व्यवस्था की स्थिति से है, जहाँ विभिन्न सामाजिक संस्थाएँ, समूह और व्यक्ति एक-दूसरे के साथ सामंजस्य बिठाकर कार्य करते हैं। यह एक गतिशील प्रक्रिया है, जिसमें समाज अपने आंतरिक और बाहरी परिवर्तनों के बावजूद अपनी एकजुटता बनाए रखने का प्रयास करता है। भारत जैसे विकासशील देश में, जहाँ तेजी से सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन हो रहे हैं, सामाजिक संतुलन बनाए रखना एक चुनौती है। औद्योगीकरण, शहरीकरण, वैश्वीकरण और नई तकनीकों के आगमन से पारंपरिक सामाजिक संरचनाओं में बदलाव आ रहा है, जिससे कभी-कभी असंतुलन की स्थिति उत्पन्न हो सकती है। हालांकि, समाज इन परिवर्तनों को आत्मसात करने और नए संतुलन स्थापित करने के लिए भी अनुकूलन करता है।

3. समुदाय का विकास—

समुदाय उन लोगों का एक समूह है जो किसी विशेष क्षेत्र या साझा पहचान, मूल्यों और हितों के आधार पर एक साथ रहते हैं। समुदाय का विकास लोगों के जीवन की गुणवत्ता में सुधार और उनके सामूहिक कल्याण को बढ़ावा देने की प्रक्रिया है। इसमें आर्थिक विकास, शिक्षा और स्वास्थ्य सेवाओं में सुधार, बुनियादी सुविधाओं का विकास, सामाजिक समस्याओं का समाधान और समुदाय में एकता और सहिष्णुता को बढ़ावा देना शामिल है। भारत में, ग्रामीण और शहरी दोनों समुदायों का विकास महत्वपूर्ण है। ग्रामीण समुदायों में जातिवाद, धर्मवाद और छुआछूत जैसी समस्याओं को दूर करना और बुनियादी ढाँचे में सुधार करना महत्वपूर्ण है, जबकि शहरी समुदायों में बढ़ती आबादी, आवास, परिवहन और सामाजिक अलगाव जैसी चुनौतियाँ हैं।

4. विकासशील भारत में सामाजिक एकीकरण—

सामाजिक एकीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा समाज के विभिन्न समूह और व्यक्ति एक साझा पहचान, मूल्यों और मानदंडों के आधार पर एक साथ आते हैं और एक एकजुट और सामंजस्यपूर्ण इकाई बनाते हैं। यह सामाजिक एकजुटता और स्थिरता के लिए आवश्यक है। विकासशील भारत में, सामाजिक एकीकरण एक महत्वपूर्ण लक्ष्य है, जिसमें कई चुनौतियाँ और अवसर शामिल हैं।

जाति और धर्म— भारत में जाति और धर्म सामाजिक विभाजन के ऐतिहासिक स्रोत रहे हैं। सामाजिक एकीकरण के लिए इन विभाजनों को कम करना और विभिन्न समुदायों के बीच सहिष्णुता और समझ को बढ़ावा देना महत्वपूर्ण है।

ग्रामीण-शहरी विभाजन— शहरीकरण के बढ़ने के साथ, ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों के बीच जीवन शैली, अवसरों और सामाजिक मानदंडों में अंतर बढ़ रहा है। सामाजिक एकीकरण के लिए इन दोनों क्षेत्रों के बीच की खाई को पाटना और ग्रामीण विकास को बढ़ावा देना आवश्यक है।

आर्थिक असमानता— भारत में आर्थिक असमानता एक बड़ी चुनौती है। सामाजिक एकीकरण के लिए गरीबों और वंचितों को मुख्यधारा में लाना और उनके लिए समान अवसर प्रदान करना आवश्यक है।

शिक्षा और स्वास्थ्य— शिक्षा और स्वास्थ्य सेवाओं तक पहुंच सामाजिक एकीकरण के महत्वपूर्ण कारक हैं। सभी वर्गों के लोगों को गुणवत्तापूर्ण शिक्षा और स्वास्थ्य सेवाएँ प्रदान करके, समाज में समानता और एकजुटता को बढ़ावा दिया जा सकता है।

सरकारी नीतियाँ और कानून— भारत सरकार ने सामाजिक एकीकरण को बढ़ावा देने के लिए विभिन्न नीतियों और कानूनों को लागू किया है, जैसे कि अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति (अत्याचार निवारण) अधिनियम, 1989। इन कानूनों का प्रभावी कार्यान्वयन सामाजिक न्याय और एकीकरण के लिए महत्वपूर्ण है।

वैश्वीकरण और संस्कृति— वैश्वीकरण ने भारत में वस्तुओं, सेवाओं, प्रौद्योगिकी और विचारों के आदान-प्रदान को बढ़ाया है। जबकि यह आर्थिक विकास के अवसर प्रदान करता है, यह पारंपरिक मूल्यों और सांस्कृतिक पहचान पर भी प्रभाव डाल सकता है। सामाजिक एकीकरण के लिए वैश्विक प्रभावों के साथ स्वदेशी संस्कृति का संतुलन बनाना महत्वपूर्ण है।

युवा और सामाजिक परिवर्तन— भारत में एक बड़ी युवा आबादी है, जो सामाजिक परिवर्तन और एकीकरण में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकती है। शिक्षा, कौशल विकास और समावेशी अवसरों के माध्यम से युवाओं को सशक्त बनाना सामाजिक एकजुटता के लिए महत्वपूर्ण है।

संक्षेप में, विकासशील भारत में सामाजिक संरचना, संतुलन और समुदाय के विकास के साथ-साथ सामाजिक एकीकरण एक सतत प्रक्रिया है। यह विभिन्न सामाजिक समूहों, जातियों, धर्मों और क्षेत्रों के बीच समझ, सहयोग और समानता को बढ़ावा देने पर आधारित है। चुनौतियों के बावजूद, भारत ने सामाजिक एकीकरण की दिशा में महत्वपूर्ण प्रगति की है, और भविष्य में और अधिक समावेशी और सामंजस्यपूर्ण समाज के निर्माण के लिए इन प्रयासों को जारी रखना आवश्यक है।

प्रश्न नं० 10— सामाजिक परिवर्तन की अवधारणा तथा इसके प्रभाव की विवेचना आधुनिक दृष्टि कोण के आधार पर कीजिए?

उत्तर— सामाजिक परिवर्तन की अवधारणा तथा इसके प्रभाव की विवेचना आधुनिक दृष्टिकोण के आधार पर सामाजिक परिवर्तन समाजशास्त्र का एक केंद्रीय विषय है और आधुनिक संदर्भ में इसकी गति और जटिलता अभूतपूर्व है। यह केवल आकस्मिक घटनाओं का योग नहीं, बल्कि एक सतत, गतिशील प्रक्रिया है जो समाज की संरचना, कार्यप्रणाली, मूल्यों, विश्वासों और व्यवहारों में महत्वपूर्ण बदलाव लाती है।

सामाजिक परिवर्तन की अवधारणा (आधुनिक दृष्टिकोण)—आधुनिक दृष्टिकोण से सामाजिक परिवर्तन को केवल एकरेखीय या चक्रीय प्रक्रिया के रूप में नहीं देखा जाता, बल्कि इसे बहुआयामी और जटिल माना जाता है। इसमें निम्नलिखित प्रमुख बातें शामिल हैं—

सार्वभौमिकता और निरंतरता— सामाजिक परिवर्तन हर समाज में होता है और यह एक निरंतर चलने वाली प्रक्रिया है। कोई भी समाज लंबे समय तक स्थिर नहीं रह सकता। इसकी गति कभी धीमी तो कभी तीव्र हो सकती है।

जटिलता और अंतर्संबंध— आधुनिक समाज में परिवर्तन विभिन्न क्षेत्रों (जैसे प्रौद्योगिकी, अर्थव्यवस्था, राजनीति, संस्कृति) में एक साथ होते हैं और एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। उदाहरण के लिए, तकनीकी नवाचार आर्थिक पैटर्न को बदलते हैं, जो बदले में सामाजिक संबंधों और सांस्कृतिक मानदंडों को प्रभावित करते हैं।

नियोजित और अनियोजित परिवर्तन— आधुनिक समाज में सामाजिक परिवर्तन केवल स्वतःस्फूर्त नहीं होते, बल्कि अक्सर नियोजित भी होते हैं। सरकारें और विभिन्न संगठन शिक्षा, स्वास्थ्य, आर्थिक विकास आदि के माध्यम से वांछित सामाजिक परिवर्तन लाने का प्रयास करते हैं। हालांकि, अनियोजित परिवर्तन

भी बड़ी भूमिका निभाते हैं, जैसे प्राकृतिक आपदाओं या अप्रत्याशित तकनीकी सफलताओं के कारण होने वाले बदलाव।

बहु-कारक दृष्टिकोण— आधुनिक समाजशास्त्री सामाजिक परिवर्तन को किसी एक कारण से नहीं जोड़ते। इसके बजाय, वे कई कारकों के संयोजन को महत्व देते हैं, जैसे तकनीकी विकास, जनसांख्यिकीय परिवर्तन, आर्थिक शक्तियां, सांस्कृतिक मूल्य, राजनीतिक विचारधाराएं और पर्यावरणीय कारक।

तीव्रता और दूरगामी प्रभाव— पिछली सदियों की तुलना में आधुनिक युग में सामाजिक परिवर्तन की गति बहुत तीव्र है। संचार और प्रौद्योगिकी की प्रगति ने विचारों और नवाचारों के प्रसार को तेज कर दिया है, जिससे परिवर्तन के प्रभाव अधिक व्यापक और दूरगामी होते हैं।

वैश्वीकरण का प्रभाव वैश्वीकरण ने दुनिया को एक-दूसरे से जोड़ दिया है, जिससे विचारों, वस्तुओं और सेवाओं का आदान-प्रदान बढ़ा है। इसने पारंपरिक सीमाओं को धुंधला कर दिया है और दुनिया भर के समाजों में नए अवसर और चुनौतियां पैदा की हैं, जिससे सामाजिक परिवर्तन की प्रकृति और भी जटिल हो गई है।

सामाजिक परिवर्तन के प्रभाव (आधुनिक दृष्टिकोण)—आधुनिक समाज में सामाजिक परिवर्तन के प्रभाव व्यापक और बहुआयामी होते हैं। इन्हें सकारात्मक और नकारात्मक दोनों पहलुओं में देखा जा सकता है—

सकारात्मक प्रभाव—

प्रगति और विकास— सामाजिक परिवर्तन अक्सर समाज को प्रगति और विकास की ओर ले जाता है। इसमें बेहतर जीवन स्तर, स्वास्थ्य सुविधाएं, शिक्षा के अवसर और तकनीकी उन्नति शामिल हैं।

आधुनिकीकरण— यह विचारों, जीवनशैली और संस्थाओं में आधुनिकीकरण को बढ़ावा देता है। इसमें शहरीकरण में वृद्धि, साक्षरता का बढ़ना, प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि और राजनीतिक भागीदारी में वृद्धि शामिल है।

जागरूकता और सशक्तिकरण— शिक्षा और संचार माध्यमों के विस्तार से लोगों में जागरूकता बढ़ती है, जिससे वे अपने अधिकारों के प्रति अधिक सचेत होते हैं और सामाजिक न्याय की मांग करते हैं। यह महिलाओं, दलितों और अन्य हाशिए के समूहों के सशक्तिकरण में सहायक होता है।

नवाचार और रचनात्मकता— परिवर्तन नए विचारों, आविष्कार और रचनात्मकता को प्रोत्साहित करता है। यह समस्याओं के नए समाधान खोजने और सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में नवाचार लाने में मदद करता है।

सामाजिक गतिशीलता में वृद्धि— पारंपरिक सामाजिक संरचनाओं में ढील आने से व्यक्ति की सामाजिक गतिशीलता बढ़ती है, जिससे वे अपनी योग्यता के आधार पर बेहतर स्थिति प्राप्त कर पाते हैं।

खुले और सहिष्णु समाज का निर्माण— विचारों के आदान-प्रदान से समाज अधिक खुले और सहिष्णु बनते हैं, जहां विभिन्न संस्कृतियों और जीवनशैलियों को स्वीकार किया जाता है।

नकारात्मक प्रभाव—

सामाजिक विघटन और तनाव— तीव्र सामाजिक परिवर्तन से पारंपरिक संस्थाएं कमजोर पड़ सकती हैं, जिससे सामाजिक विघटन और तनाव बढ़ सकता है। पारिवारिक संरचना में बदलाव, अपराध दर में वृद्धि, और सामुदायिक बंधनों का टूटना इसके कुछ उदाहरण हैं।

सांस्कृतिक अंतराल (Cultural Lag)— भौतिक संस्कृति (प्रौद्योगिकी) में तेजी से परिवर्तन होता है, जबकि गैर-भौतिक संस्कृति (मूल्य, मानदंड) धीरे-धीरे बदलती है। इससे सांस्कृतिक अंतराल उत्पन्न होता है, जिससे समाज में भ्रम और संघर्ष की स्थिति पैदा हो सकती है।

अनुकूलन की चुनौतियां— कुछ व्यक्तियों या समूहों के लिए तीव्र परिवर्तनों के साथ अनुकूलन करना मुश्किल हो सकता है, जिससे वे तनाव, अलगाव या हाशिए पर महसूस कर सकते हैं।

असमानता में वृद्धि— तकनीकी प्रगति और वैश्वीकरण कभी-कभी असमानता को बढ़ा सकते हैं, जिससे कुछ समूह अधिक समृद्ध हो जाते हैं जबकि अन्य पीछे रह जाते हैं। डिजिटल डिवाइड और आर्थिक असमानता इसके प्रमुख उदाहरण हैं।

पहचान का संकट— वैश्वीकरण और सांस्कृतिक मिश्रण से व्यक्ति और समुदायों को अपनी पहचान को लेकर संकट का सामना करना पड़ सकता है, क्योंकि पारंपरिक मूल्य और मानदंड कमजोर पड़ जाते हैं।

पर्यावरणीय प्रभाव— औद्योगीकरण और शहरीकरण जैसे सामाजिक परिवर्तन अक्सर पर्यावरणीय समस्याओं को जन्म देते हैं, जैसे प्रदूषण, संसाधनों की कमी और जलवायु परिवर्तन।

आधुनिक दृष्टिकोण के आधार पर विवेचना—आधुनिक दृष्टिकोण सामाजिक परिवर्तन को एक गतिशील और जटिल प्रक्रिया के रूप में देखता है, जिसमें विभिन्न कारक एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। यह मानता है कि परिवर्तन को केवल श्रद्धा या श्रुति के रूप में नहीं देखा जा सकता, बल्कि इसके बहुआयामी प्रभावों का विश्लेषण करना महत्वपूर्ण है।

भारत जैसे विकासशील देशों में, सामाजिक परिवर्तन विशेष रूप से तीव्र है, जहां पारंपरिक और आधुनिक मूल्यों के बीच टकराव अक्सर देखा जाता है। हरित क्रांति, सूचना प्रौद्योगिकी क्रांति, शिक्षा का विस्तार, महिला सशक्तिकरण और शहरीकरण इसके कुछ महत्वपूर्ण उदाहरण हैं जिन्होंने भारतीय समाज को गहरे स्तर पर प्रभावित किया है। इन परिवर्तनों ने अवसरों के साथ-साथ चुनौतियाँ भी पैदा की हैं, जैसे असमानता, ग्रामीण-शहरी विभाजन और पारंपरिक पारिवारिक संरचनाओं पर दबाव।

निष्कर्ष— आधुनिक दृष्टिकोण से सामाजिक परिवर्तन एक सतत, सार्वभौमिक और जटिल प्रक्रिया है जो समाज के हर पहलू को प्रभावित करती है। इसके प्रभावों को समझने के लिए हमें इसके बहुआयामी कारकों, नियोजित और अनियोजित पहलुओं, और इसके सकारात्मक और नकारात्मक परिणामों का एक समग्र विश्लेषण करने की आवश्यकता है। समाजशास्त्रियों का कार्य इन परिवर्तनों का अध्ययन करना, उनके कारणों और परिणामों को समझना, और भविष्य की दिशाओं का पूर्वानुमान लगाना है ताकि समाज को अधिक न्यायसंगत और टिकाऊ बनाया जा सके।

B.A.L.L.B.-4th Sem. Paper-II Economics (Public Finance)

प्रश्न न० 1— सार्वजनिक वित्त से क्या तात्पर्य है। सार्वजनिक वित्त का क्षेत्र एवं महत्व को स्पष्ट कीजिए?

उत्तर— सार्वजनिक वित्त का अर्थ, क्षेत्र और महत्व को स्पष्ट करने के लिए, मुझे कुछ जानकारी प्राप्त करने की आवश्यकता होगी।

सार्वजनिक वित्त, अर्थशास्त्र की एक महत्वपूर्ण शाखा है जो सरकार की वित्तीय गतिविधियों का अध्ययन करती है। यह इस बात पर केंद्रित है कि सरकारें अपने उद्देश्यों को पूरा करने के लिए धन कैसे जुटाती हैं, उसका व्यय कैसे करती हैं, और इन वित्तीय निर्णयों का अर्थव्यवस्था और समाज पर क्या प्रभाव पड़ता है।

सार्वजनिक वित्त का तात्पर्य—सार्वजनिक वित्त (Public Finance) का शाब्दिक अर्थ 'जनता का वित्त' है, जिसका संबंध सरकार की आय, व्यय और ऋण के प्रबंधन से है। विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने इसे इस प्रकार परिभाषित किया है—

प्रो. डाल्टन के अनुसार— “सार्वजनिक वित्त ऐसा विषय है जो सार्वजनिक अधिकारियों के आपसी सहयोग से किए गए आय व व्यय का अध्ययन करता है।”

प्रो. फिंडले शिराज के अनुसार— “सार्वजनिक वित्त का संबंध सार्वजनिक अधिकारियों द्वारा आय प्राप्त करने व व्यय करने के तरीके से है।”

उर्सुला हिक्स के अनुसार— “सार्वजनिक वित्त में मुख्यतया उन साधनों का विश्लेषण एवं परीक्षण निहित है जिनके द्वारा राज्य संगठन सामूहिक मांग को पूरा करते हैं तथा अपने लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए पर्याप्त धन राशि प्राप्त करते हैं।”

संक्षेप में, सार्वजनिक वित्त सरकार (केंद्र, राज्य और स्थानीय) के राजस्व (आय), व्यय (खर्च) और ऋण (उधार) के प्रबंधन से संबंधित है। इसमें वे राजकोषीय नीतियां और निर्णय शामिल होते हैं जो सरकार आर्थिक और सामाजिक लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए लेती है।

सार्वजनिक वित्त का क्षेत्र (Scope of Public Finance)—सार्वजनिक वित्त का क्षेत्र अत्यंत व्यापक है और इसमें निम्नलिखित प्रमुख घटक शामिल हैं—

सार्वजनिक राजस्व (Public Revenue)—इसमें सरकार के आय के सभी स्रोतों का अध्ययन किया जाता है।

कर राजस्व (Tax Revenue)— विभिन्न प्रकार के कर जैसे आयकर, वस्तु एवं सेवा कर (GST), निगम कर, सीमा शुल्क आदि का अध्ययन।

इसमें कराधान के सिद्धांत, कर प्रणाली की संरचना, करों का प्रभाव और कराधान की नीतियां शामिल होती हैं।

गैर-कर राजस्व (Non & Tax Revenue)— इसमें शुल्क, जुर्माना, लाइसेंस फीस, सरकारी उद्यमों से लाभ, विदेशों से प्राप्त अनुदान और ऋणों पर ब्याज आदि शामिल होते हैं।

सार्वजनिक व्यय (Public Expenditure)—इसमें सरकार द्वारा किए जाने वाले विभिन्न प्रकार के खर्चों का अध्ययन किया जाता है।

इसमें शिक्षा, स्वास्थ्य, बुनियादी ढांचा (सड़कें, पुल, बिजली), रक्षा, कानून और व्यवस्था, सामाजिक कल्याण योजनाएं (जैसे पेंशन, सब्सिडी) आदि पर होने वाले व्यय शामिल हैं।

सार्वजनिक व्यय के सिद्धांत, व्यय का वर्गीकरण, आर्थिक विकास और आय वितरण पर इसके प्रभाव का विश्लेषण किया जाता है।

सार्वजनिक ऋण (Public Debt)—यह सरकार द्वारा आंतरिक (देश के भीतर) और बाहरी (विदेशों से) स्रोतों से लिए गए ऋण का अध्ययन करता है।

इसमें ऋण के प्रकार, ऋण लेने के कारण, ऋण प्रबंधन, ऋण के पुनर्भुगतान और अर्थव्यवस्था पर इसके प्रभावों का विश्लेषण किया जाता है।

वित्तीय प्रशासन (Financial Administration)—यह सरकारी वित्तीय गतिविधियों के प्रबंधन से संबंधित है।

इसमें बजट निर्माण (बजट तैयार करना), बजट का निष्पादन, लेखा परीक्षा (ऑडिटिंग) और वित्तीय नियंत्रण शामिल हैं। यह सुनिश्चित करता है कि सार्वजनिक धन का उपयोग कुशलतापूर्वक और जवाबदेही के साथ हो।

राजकोषीय नीति (Fiscal Policy)—यह सरकार द्वारा अर्थव्यवस्था को प्रभावित करने के लिए राजस्व और व्यय के उपयोग से संबंधित है।

राजकोषीय नीति का उद्देश्य आर्थिक स्थिरता (मुद्रास्फीति और अपस्फीति को नियंत्रित करना), पूर्ण रोजगार, आर्थिक विकास और आय के न्यायसंगत वितरण जैसे व्यापक आर्थिक लक्ष्यों को प्राप्त करना होता है।

सार्वजनिक वित्त का महत्व (Importance of Public Finance)—आधुनिक अर्थव्यवस्थाओं में सार्वजनिक वित्त का महत्व कई गुना बढ़ गया है। इसके प्रमुख कारण और महत्व बिंदुवार नीचे दिए गए हैं—

आर्थिक स्थिरता (Economic Stability)—सरकार राजकोषीय नीति का उपयोग करके आर्थिक उतार-चढ़ाव (मंदी और मुद्रास्फीति) को नियंत्रित कर सकती है। मंदी के दौरान सार्वजनिक व्यय बढ़ाकर और करों में कमी करके आर्थिक गतिविधियों को बढ़ावा दिया जा सकता है, जबकि मुद्रास्फीति के दौरान इसके विपरीत उपाय किए जाते हैं।

संसाधनों का कुशल वितरण (Efficient Allocation of Resources)—सरकार उन क्षेत्रों में निवेश करती है जहाँ निजी क्षेत्र निवेश करने को तैयार नहीं होता (जैसे सार्वजनिक वस्तुएं — रक्षा, सड़कें, पार्क) या जहाँ सामाजिक लाभ निजी लाभ से अधिक होता है (जैसे शिक्षा, स्वास्थ्य)। यह संसाधनों के कुशल वितरण में मदद करता है।

आय और धन का पुनर्वितरण (Redistribution of Income and Wealth)—प्रगतिशील कराधान (उच्च आय पर उच्च कर) और सामाजिक कल्याण कार्यक्रमों (जैसे गरीबी रेखा से नीचे के लोगों के लिए सब्सिडी, पेंशन) के माध्यम से सरकार आय और धन की असमानता को कम करने का प्रयास करती है।

आर्थिक विकास (Economic Growth)—सार्वजनिक वित्त बुनियादी ढांचे के विकास (सड़क, बिजली, बंदरगाह), शिक्षा और स्वास्थ्य में निवेश करके आर्थिक विकास को बढ़ावा देता है, जिससे उत्पादकता बढ़ती है और निवेश का माहौल बेहतर होता है।

विकासशील देशों में पूंजी निर्माण को बढ़ावा देने और आर्थिक नियोजन को सफल बनाने में इसकी महत्वपूर्ण भूमिका है।

रोजगार सृजन (Employment Generation)—सार्वजनिक व्यय और निवेश से नए रोजगार के अवसर पैदा होते हैं, विशेषकर बुनियादी ढांचा परियोजनाओं और सरकारी सेवाओं में।

सामाजिक कल्याण और न्याय (Social Welfare and Justice)—सरकार गरीबों, वंचितों और कमजोर वर्गों के लिए विभिन्न कल्याणकारी योजनाएं चलाकर सामाजिक सुरक्षा और न्याय सुनिश्चित करती है। इसमें शिक्षा, स्वास्थ्य, आवास, खाद्य सुरक्षा आदि पर खर्च शामिल है।

भुगतान संतुलन का प्रबंधन (Management of Balance of Payments)—राजकोषीय नीतियां आयात और निर्यात को प्रभावित करके देश के भुगतान संतुलन को सुधारने में मदद कर सकती हैं।

सरकारी जवाबदेही और पारदर्शिता (Government Accountability and Transparency)—वित्तीय प्रशासन और लेखा परीक्षा तंत्र यह सुनिश्चित करते हैं कि सरकारी धन का उपयोग सही ढंग से हो, जिससे सरकारी कार्यों में पारदर्शिता और जवाबदेही बनी रहे।

निष्कर्ष रूप में, सार्वजनिक वित्त अर्थशास्त्र का एक अनिवार्य क्षेत्र है जो आधुनिक राज्य की भूमिका को समझने के लिए महत्वपूर्ण है। यह केवल आय और व्यय का हिसाब-किताब नहीं है, बल्कि यह आर्थिक नीति का एक शक्तिशाली उपकरण है जिसका उपयोग सरकारें अपने नागरिकों के कल्याण और समग्र आर्थिक विकास को प्राप्त करने के लिए करती हैं।

प्रश्न न0 2— सार्वजनिक वस्तु एवं निजी वस्तुओं में अन्तर स्पष्ट कीजिए?

उत्तर— अर्थशास्त्र में, वस्तुओं को मुख्य रूप से दो श्रेणियों में बांटा जाता है— सार्वजनिक वस्तुएं (Public Goods) और निजी वस्तुएं (Private Goods)। इन दोनों में मूलभूत अंतर होता है, जो इनके उपभोग, उपलब्धता और वित्तपोषण के तरीके को प्रभावित करता है। आइए इन अंतरों को विस्तार से समझते हैं—

सार्वजनिक वस्तुएं (Public Goods)—सार्वजनिक वस्तुएं वे वस्तुएं या सेवाएं हैं जो समाज के सभी सदस्यों को समान रूप से उपलब्ध होती हैं, भले ही उन्होंने उनके उत्पादन या प्रावधान में योगदान दिया हो या नहीं। इनकी दो मुख्य विशेषताएं होती हैं—

गैर-प्रतिद्वंद्विता (Non-Rivalry in Consumption)— इसका अर्थ है कि एक व्यक्ति द्वारा वस्तु का उपभोग करने से दूसरे व्यक्ति के लिए उसकी उपलब्धता या उपभोग की मात्रा कम नहीं होती है। उदाहरण के लिए, राष्ट्रीय रक्षा का लाभ हर नागरिक को एक साथ मिलता है, चाहे कितने भी लोग इसका उपभोग करें। एक व्यक्ति की सुरक्षा से दूसरे की सुरक्षा पर कोई नकारात्मक प्रभाव नहीं पड़ता।

गैर-अपवर्जनीयता (Non-Excludability)— इसका अर्थ है कि किसी भी व्यक्ति को वस्तु के उपभोग से वंचित करना बहुत मुश्किल या असंभव होता है, भले ही वह उसके लिए भुगतान न करे। उदाहरण के लिए, एक बार जब स्ट्रीट लाइट लगा दी जाती है, तो किसी को भी उसके प्रकाश से वंचित करना मुश्किल होता है, भले ही उसने करों का भुगतान न किया हो।

सार्वजनिक वस्तुओं की मुख्य विशेषताएं और निहितार्थ—

उत्पादन और वित्तपोषण— सार्वजनिक वस्तुएं आमतौर पर सरकार द्वारा प्रदान की जाती हैं और करों के माध्यम से वित्तपोषित होती हैं। निजी क्षेत्र के लिए ऐसी वस्तुओं का उत्पादन करना आकर्षक नहीं होता, क्योंकि वे “फ्री-राइडर समस्या” (Free-Rider Problem) का सामना करते हैं। फ्री-राइडर समस्या तब उत्पन्न होती है जब लोग वस्तु या सेवा का उपभोग करते हैं लेकिन उसके लिए भुगतान करने से बचते हैं, क्योंकि उन्हें पता होता है कि वे भुगतान न करने पर भी उसका लाभ उठा पाएंगे।

उदाहरण— राष्ट्रीय रक्षा, स्ट्रीट लाइट, सार्वजनिक पार्क, स्वच्छ हवा, कानून और व्यवस्था, बाढ़ नियंत्रण आदि।

बाजार विफलता— बाजार तंत्र सार्वजनिक वस्तुओं का कुशलता से उत्पादन नहीं कर पाता क्योंकि निजी फर्मों को लाभ कमाने में मुश्किल होती है। इसलिए, सरकार को हस्तक्षेप करना पड़ता है।

सामूहिक उपभोग— सार्वजनिक वस्तुओं का उपभोग सामूहिक होता है, जिससे सभी को समान रूप से लाभ होता है।

निजी वस्तुएं (Private Goods)—निजी वस्तुएं वे वस्तुएं या सेवाएं हैं जिनका स्वामित्व व्यक्ति विशेष या समूह के पास होता है, और इनका उपभोग सीमित होता है। इनकी भी दो मुख्य विशेषताएं होती हैं—

प्रतिद्वंद्विता (Rivalry in Consumption)— इसका अर्थ है कि एक व्यक्ति द्वारा वस्तु का उपभोग करने से दूसरे व्यक्ति के लिए उसकी उपलब्धता या उपभोग की मात्रा कम हो जाती है। उदाहरण के लिए, यदि आप एक सेब खाते हैं, तो कोई और उस सेब को नहीं खा सकता।

अपवर्जनीयता (Excludability)— इसका अर्थ है कि उन व्यक्तियों को वस्तु के उपभोग से आसानी से वंचित किया जा सकता है जो उसके लिए भुगतान नहीं करते हैं। उदाहरण के लिए, एक दुकानदार आपको तब तक भोजन नहीं देगा जब तक आप उसके लिए भुगतान नहीं करते।

निजी वस्तुओं की मुख्य विशेषताएं और निहितार्थ—

उत्पादन और वित्तपोषण— निजी वस्तुएं निजी फर्मों द्वारा उपभोक्ताओं की जरूरतों और इच्छाओं को पूरा करने के लिए उत्पादित और बेची जाती हैं। इनका वित्तपोषण व्यक्तिगत स्तर पर होता है, जहां उपभोक्ता वस्तु या सेवा खरीदने के लिए भुगतान करते हैं।

उदाहरण— भोजन, कपड़े, कार, मोबाइल फोन, व्यक्तिगत घर, सिनेमा टिकट आदि।

बाजार दक्षता— बाजार तंत्र निजी वस्तुओं का कुशलता से उत्पादन और वितरण करता है, क्योंकि निजी फर्मों को लाभ कमाने की प्रेरणा होती है और वे उन लोगों को आसानी से बाहर कर सकते हैं जो भुगतान नहीं करते हैं।

व्यक्तिगत उपभोग— निजी वस्तुओं का उपभोग व्यक्तिगत होता है, जिससे व्यक्तिगत लाभ होता है।

सार्वजनिक वस्तु और निजी वस्तु के बीच मुख्य अंतर सारणीबद्ध रूप में—

विशेषता	सार्वजनिक वस्तु	निजी वस्तु
प्रतिद्वंद्विता	गैर-प्रतिद्वंद्वी (Non-Rival)	प्रतिद्वंद्वी (Rival)
अपवर्जनीयता	गैर-अपवर्जनीय (Non-Excludable)	अपवर्जनीय (Excludable)
उपभोग	सामूहिक उपभोग	व्यक्तिगत उपभोग
उत्पादन	मुख्य रूप से सरकार द्वारा	मुख्य रूप से निजी फर्मों द्वारा
वित्तपोषण	करों के माध्यम से (सामूहिक वित्तपोषण)	व्यक्तिगत भुगतान (व्यक्तिगत वित्तपोषण)
बाजार विफलता	फ्री-राइडर समस्या के कारण बाजार विफलता होती है	बाजार कुशलता से काम करता है
उदाहरण	राष्ट्रीय रक्षा, स्ट्रीट लाइट, सार्वजनिक पार्क, स्वच्छ हवा	भोजन, कपड़े, कार, मोबाइल फोन, सिनेमा टिकट

निष्कर्ष—सार्वजनिक और निजी वस्तुओं के बीच का अंतर अर्थशास्त्र में एक महत्वपूर्ण अवधारणा है। यह हमें यह समझने में मदद करता है कि विभिन्न वस्तुओं और सेवाओं को समाज में कैसे प्रदान किया जाना चाहिए और बाजार और सरकार की भूमिकाएं क्या होनी चाहिए। जहां निजी वस्तुएं बाजार तंत्र द्वारा कुशलता से प्रदान की जाती हैं, वहीं सार्वजनिक वस्तुएं बाजार विफलताओं के कारण सरकार के हस्तक्षेप की मांग करती हैं ताकि समाज को आवश्यक लाभ मिल सकें।

प्रश्न न0 3— बजट की परिभाषा दीजिए और इसके आवश्यक तत्वों की विवेचना कीजिए?

उत्तर— अर्थशास्त्र में, बजट एक निश्चित अवधि (आमतौर पर एक वित्तीय वर्ष) के लिए आय और व्यय का एक विस्तृत अनुमानित विवरण होता है। यह एक वित्तीय योजना है जो भविष्य के लिए संसाधनों के आवंटन और उपयोग का मार्गदर्शन करती है। चाहे वह किसी व्यक्ति, परिवार, व्यवसाय, या सरकार का

हो, बजट का मुख्य उद्देश्य वित्तीय लक्ष्यों को प्राप्त करने और वित्तीय स्थिरता बनाए रखने के लिए आय और व्यय को संतुलित करना है। भारतीय संविधान में 'बजट' शब्द का सीधा उल्लेख नहीं है, बल्कि इसके स्थान पर 'वार्षिक वित्तीय विवरण' शब्द का प्रयोग किया गया है।

बजट के आवश्यक तत्व—एक प्रभावी बजट में कई महत्वपूर्ण तत्व होते हैं जो उसे सफल बनाने में मदद करते हैं—

आय का अनुमान (Estimated Income)—इसमें उन सभी स्रोतों से आने वाली अनुमानित धनराशि शामिल होती है जिनसे आय प्राप्त होगी।

सरकारी बजट में— इसमें कर राजस्व (आयकर, जीएसटी, सीमा शुल्क, उत्पाद शुल्क), गैर-कर राजस्व (फीस, जुर्माना, सार्वजनिक उपक्रमों का लाभ, लाभांश), ऋण (घरेलू और विदेशी), और विनिवेश से प्राप्तियां शामिल होती हैं।

व्यक्तिगत/पारिवारिक बजट में— इसमें वेतन, व्यवसाय से आय, निवेश से आय, किराया आदि शामिल होते हैं। आय का सटीक अनुमान लगाना बजट का आधार होता है।

व्यय का अनुमान (Estimated Expenditure)—यह उन सभी खर्चों का अनुमान होता है जो एक निश्चित अवधि में होंगे।

सरकारी बजट में— इसमें विभिन्न क्षेत्रों (शिक्षा, स्वास्थ्य, रक्षा, बुनियादी ढांचा, सामाजिक कल्याण कार्यक्रम), कर्मचारियों के वेतन, ऋणों पर ब्याज भुगतान, और राज्यों को हस्तांतरण आदि पर होने वाले खर्च शामिल होते हैं। व्यय को आमतौर पर राजस्व व्यय (गैर-विकासशील, जैसे वेतन, पेंशन) और पूंजीगत व्यय (विकासशील, जैसे पुल, सड़क निर्माण) में वर्गीकृत किया जाता है।

व्यक्तिगत/पारिवारिक बजट में— इसमें दैनिक खर्च (भोजन, परिवहन), मासिक बिल (किराया, बिजली, पानी), बचत, निवेश, और अन्य आवर्ती व्यय शामिल होते हैं। व्यय का विस्तृत और यथार्थवादी अनुमान बनाना महत्वपूर्ण है।

उद्देश्य और प्राथमिकताएं (Objectives and Priorities)—बजट केवल संख्याओं का संग्रह नहीं है, बल्कि यह विशिष्ट लक्ष्यों और प्राथमिकताओं को दर्शाता है।

सरकारी बजट में— उद्देश्यों में आर्थिक विकास को बढ़ावा देना, रोजगार सृजन, गरीबी उन्मूलन, आय असमानता को कम करना, मुद्रास्फीति को नियंत्रित करना, और बुनियादी ढांचे का विकास करना शामिल हो सकता है।

व्यक्तिगत/पारिवारिक बजट में— इसमें घर खरीदना, बच्चों की शिक्षा के लिए बचत करना, सेवानिवृत्ति की योजना बनाना, या ऋण चुकाना जैसे लक्ष्य शामिल हो सकते हैं। बजट बनाते समय इन उद्देश्यों को ध्यान में रखना और उसके अनुसार संसाधनों को प्राथमिकता देना महत्वपूर्ण है।

अवधि (Time Period)—बजट एक विशिष्ट अवधि के लिए बनाया जाता है, जैसे एक वित्तीय वर्ष (भारत में 1 अप्रैल से 31 मार्च)। यह अवधि भविष्य की योजना बनाने और प्रदर्शन का मूल्यांकन करने के लिए एक ढांचा प्रदान करती है।

नीतिगत निर्णय (Policy Decisions)—बजट में सरकार के नीतिगत निर्णय स्पष्ट रूप से परिलक्षित होते हैं। उदाहरण के लिए, यदि सरकार शिक्षा पर अधिक खर्च करने का निर्णय लेती है, तो यह बजट में शिक्षा के लिए अधिक आवंटन के रूप में दिखाई देगा।

ये निर्णय अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों को प्रभावित करते हैं।

संतुलन या असंतुलन (Balance or Imbalance)—बजट या तो संतुलित, अधिशेष (नतचसने) या घाटे (deficit) का हो सकता है।

संतुलित बजट— जब अनुमानित आय अनुमानित व्यय के बराबर होती है।

अधिशेष बजट— जब अनुमानित आय अनुमानित व्यय से अधिक होती है।

घाटे का बजट— जब अनुमानित व्यय अनुमानित आय से अधिक होता है।

प्रत्येक प्रकार के बजट के अर्थव्यवस्था पर अलग-अलग प्रभाव होते हैं। घाटे का बजट अक्सर ऋण लेने की आवश्यकता को जन्म देता है, जबकि अधिशेष बजट करों को कम करने या नए कार्यक्रमों को वित्तपोषित करने का अवसर प्रदान कर सकता है।

लेखा-जोखा और जवाबदेही (Accounting and Accountability)—बजट एक लेखा-जोखा प्रणाली का हिस्सा होता है जो यह सुनिश्चित करता है कि धन का उपयोग निर्धारित उद्देश्यों के लिए किया जा रहा है। यह वित्तीय पारदर्शिता और जवाबदेही के लिए एक महत्वपूर्ण उपकरण है। सरकार के लिए, यह संसद और जनता के प्रति वित्तीय जवाबदेही सुनिश्चित करता है।

निष्कर्ष—बजट अर्थशास्त्र में एक महत्वपूर्ण उपकरण है जो संसाधनों के कुशल आवंटन, आर्थिक स्थिरता बनाए रखने, सामाजिक कल्याण को बढ़ावा देने और दीर्घकालिक विकास को प्राप्त करने में मदद करता है। इसके आवश्यक तत्व — आय और व्यय का सटीक अनुमान, स्पष्ट उद्देश्य, निर्धारित अवधि, नीतिगत निर्णय और जवाबदेही — इसे एक प्रभावी वित्तीय प्रबंधन उपकरण बनाते हैं।

प्रश्न नं० 4— हीनार्थ प्रबंधन से क्या तात्पर्य है?

उत्तर— “हीनार्थ प्रबंधन” (Deficit Financing) का अर्थ उस वित्तीय व्यवस्था से है जिसमें सरकार अपने आय से अधिक व्यय करती है, जिससे बजट में घाटा उत्पन्न होता है। इस घाटे को पूरा करने के लिए सरकार विभिन्न तरीकों का सहारा लेती है, जिनमें सबसे प्रमुख है केंद्रीय बैंक (भारत में भारतीय रिजर्व बैंक — RBI) से ऋण लेना और नई मुद्रा जारी करना।

हीनार्थ प्रबंधन का अर्थ और प्रक्रिया—

जब सरकार की आय (कर राजस्व, गैर-कर राजस्व, आदि) उसके द्वारा किए जाने वाले सार्वजनिक व्यय (विकास कार्य, सामाजिक कल्याण योजनाएं, रक्षा व्यय, प्रशासन, आदि) से कम होती है, तो बजट में घाटा हो जाता है। इस घाटे को पूरा करने के लिए सरकार निम्न उपाय अपनाती है— केंद्रीय बैंक से ऋण— सरकार केंद्रीय बैंक से सीधे ऋण लेती है। केंद्रीय बैंक इस ऋण को चुकाने के लिए नई मुद्रा जारी कर सकता है।

बाजार से ऋण— सरकार आम जनता, बैंकों और अन्य वित्तीय संस्थानों से विभिन्न सरकारी प्रतिभूतियां (जैसे ट्रेजरी बिल, बॉन्ड, राष्ट्रीय बचत पत्र) बेचकर ऋण लेती है।

अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थानों से ऋण— सरकार अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (IMF), विश्व बैंक जैसे संस्थानों से भी ऋण ले सकती है।

जब घाटे की भरपाई के लिए नई मुद्रा छपी जाती है, तो इसे हीनार्थ प्रबंधन कहा जाता है। यह अर्थव्यवस्था में मुद्रा की आपूर्ति (Money Supply) को बढ़ाता है।

हीनार्थ प्रबंधन के उद्देश्य—हीनार्थ प्रबंधन का उपयोग अक्सर कई उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए किया जाता है, जिनमें शामिल हैं—

आर्थिक विकास को गति देना— विकासशील देशों में, पूंजी की कमी होती है। हीनार्थ प्रबंधन के माध्यम से सरकार विकास परियोजनाओं, जैसे कि आधारभूत संरचना (सड़क, बिजली, सिंचाई) के निर्माण में निवेश कर सकती है, जिससे आर्थिक गतिविधियों को बढ़ावा मिलता है।

मंदी से निपटना— मंदी के दौरान, निजी निवेश और खपत कम हो जाती है, जिससे बेरोजगारी बढ़ जाती है। हीनार्थ प्रबंधन के द्वारा सरकार सार्वजनिक व्यय बढ़ाकर मांग को प्रोत्साहित करती है, जिससे उत्पादन और रोजगार में वृद्धि होती है।

आकस्मिक वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति— युद्ध, प्राकृतिक आपदाएं, या अन्य अप्रत्याशित वित्तीय संकटों के दौरान सरकार को भारी व्यय करने पड़ते हैं। ऐसे में हीनार्थ प्रबंधन एक त्वरित वित्तीय समाधान प्रदान करता है।

आधारभूत संरचना का विकास— देश में सड़कों, पुलों, बिजली संयंत्रों आदि के निर्माण के लिए बड़ी मात्रा में पूंजी की आवश्यकता होती है। हीनार्थ प्रबंधन इस पूंजी को जुटाने में मदद कर सकता है।

हीनार्थ प्रबंधन के प्रभाव—हीनार्थ प्रबंधन के सकारात्मक और नकारात्मक दोनों तरह के प्रभाव हो सकते हैं—

सकारात्मक प्रभाव—

आर्थिक विकास को बढ़ावा— यदि व्यय उत्पादक क्षेत्रों में किया जाता है, तो यह उत्पादन क्षमता को बढ़ाता है और दीर्घकालिक आर्थिक विकास में सहायक होता है।

रोजगार सृजन— सार्वजनिक निवेश और व्यय से नए रोजगार के अवसर पैदा होते हैं, जिससे बेरोजगारी कम होती है।

कम ब्याज दरें— यदि सरकार केंद्रीय बैंक से सीधे ऋण लेती है, तो बाजार में ब्याज दरों पर सीधा दबाव नहीं पड़ता।

नकारात्मक प्रभाव—

मुद्रास्फीति (Inflation)— यह हीनार्थ प्रबंधन का सबसे बड़ा नकारात्मक प्रभाव है। जब नई मुद्रा छापी जाती है और लोगों की क्रय शक्ति बढ़ती है, तो वस्तुओं और सेवाओं की मांग बढ़ जाती है, जिससे कीमतें ऊपर चढ़ने लगती हैं। यदि उत्पादन में वृद्धि नहीं होती है, तो मुद्रास्फीति का खतरा बढ़ जाता है।

मुद्रा का अवमूल्यन— मुद्रास्फीति से देश की मुद्रा का अंतर्राष्ट्रीय मूल्य घट सकता है।

ऋण का बढ़ता बोझ— यदि सरकार घाटे की वित्त व्यवस्था के लिए लगातार ऋण लेती है, तो सार्वजनिक ऋण का बोझ बढ़ता जाता है, जिससे भविष्य में ब्याज भुगतान का दबाव बढ़ता है।

निजी निवेश पर नकारात्मक प्रभाव (Crowding Out)— यदि सरकार बाजार से भारी मात्रा में ऋण लेती है, तो निजी क्षेत्र के लिए पूंजी की उपलब्धता कम हो सकती है, जिससे निजी निवेश पर नकारात्मक प्रभाव पड़ सकता है।

गैर-उत्पादक व्यय को बढ़ावा— यदि सरकार घाटे की वित्त व्यवस्था का उपयोग गैर-उत्पादक व्यय (जैसे सब्सिडी, अनावश्यक प्रशासनिक व्यय) के लिए करती है, तो इसके दीर्घकालिक नकारात्मक परिणाम हो सकते हैं और यह केवल मुद्रास्फीति को बढ़ावा देगा।

निष्कर्ष—हीनार्थ प्रबंधन एक दोधारी तलवार है। यह आर्थिक विकास को गति देने और संकटों से निपटने के लिए एक महत्वपूर्ण उपकरण हो सकता है, खासकर विकासशील देशों के लिए जहां पूंजी की कमी होती है। हालांकि, इसका उपयोग सावधानी और विवेकपूर्ण तरीके से किया जाना चाहिए। यदि इसका अत्यधिक या अनुत्पादक रूप से उपयोग किया जाता है, तो यह मुद्रास्फीति, ऋण संकट और आर्थिक अस्थिरता जैसी गंभीर समस्याओं को जन्म दे सकता है। इसलिए, सरकारों को हीनार्थ प्रबंधन का उपयोग करते समय मुद्रास्फीति पर नियंत्रण, उत्पादक निवेश पर ध्यान केंद्रित करने और राजकोषीय अनुशासन बनाए रखने पर विशेष ध्यान देना चाहिए।

प्रश्न नं 5— सार्वजनिक व्यय का वर्गीकरण किस प्रकार किया जा सकता है?

उत्तर— सार्वजनिक व्यय, जिसे सरकारी व्यय भी कहा जाता है, एक देश की सरकार द्वारा अपने नागरिकों की सामूहिक या व्यक्तिगत आवश्यकताओं और सार्वजनिक वस्तुओं और सेवाओं पर किया गया खर्च है। इसका मुख्य उद्देश्य नागरिकों के समग्र कल्याण को बढ़ाना और आर्थिक विकास और स्थिरता को बढ़ावा देना है। सार्वजनिक व्यय को विभिन्न आधारों पर वर्गीकृत किया जा सकता है, जो इसके विश्लेषण और नीति निर्माण में सहायता करते हैं।

सार्वजनिक व्यय के प्रमुख वर्गीकरण इस प्रकार हैं—

1. **राजस्व व्यय और पूंजीगत व्यय (Revenue Expenditure and Capital Expenditure)—** यह वर्गीकरण सबसे महत्वपूर्ण और व्यापक रूप से उपयोग किए जाने वाले वर्गीकरणों में से एक है।

राजस्व व्यय (Revenue Expenditure)—

1. ये सरकार द्वारा दिन-प्रतिदिन के कामकाज और सेवाओं के प्रावधान के लिए किए जाने वाले नियमित और आवर्ती व्यय होते हैं।

2. इनसे कोई संपत्ति (asset) का निर्माण नहीं होता है और न ही सरकार की देनदारियों (liabilities) में कमी आती है।

3. उदाहरण— सरकारी कर्मचारियों का वेतन, पेंशन, राष्ट्रीय ऋण पर ब्याज का भुगतान, विभिन्न सब्सिडी (जैसे खाद्य सब्सिडी, उर्वरक सब्सिडी), कानून और व्यवस्था बनाए रखने पर खर्च, प्रशासनिक व्यय, रक्षा सेवाओं पर रखरखाव का खर्च आदि।

4. यह व्यय उपभोग-प्रकृति का होता है।

पूंजीगत व्यय (Capital Expenditure)—

1. ये वे व्यय होते हैं जो सरकार के लिए संपत्ति का निर्माण करते हैं या सरकार की देनदारियों को कम करते हैं।

2. ये दीर्घकालिक निवेश होते हैं जिनका उद्देश्य देश की उत्पादक क्षमता को बढ़ाना और भविष्य में लाभ उत्पन्न करना होता है।

3. उदाहरण— सड़कों, पुलों, बांधों, अस्पतालों, स्कूलों, बिजली संयंत्रों जैसे बुनियादी ढांचे का निर्माण,

4. सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों में निवेश, ऋणों का पुनर्भुगतान, मशीनरी और उपकरण खरीदना आदि।

5. यह व्यय निवेश-प्रकृति का होता है और आर्थिक विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

2. विकासात्मक व्यय और गैर-विकासात्मक व्यय (Developmental Expenditure and Non-Developmental Expenditure)—यह वर्गीकरण आर्थिक विकास पर व्यय के प्रभाव पर आधारित है।

विकासात्मक व्यय (Developmental Expenditure)—

1. ये वे व्यय होते हैं जिनका सीधा संबंध देश के आर्थिक और सामाजिक विकास से होता है।

2. इनका उद्देश्य उत्पादन क्षमता बढ़ाना, रोजगार के अवसर पैदा करना और लोगों के जीवन स्तर में सुधार करना होता है।

3. उदाहरण— शिक्षा, स्वास्थ्य, कृषि, सिंचाई, उद्योग, ऊर्जा, परिवहन, संचार आदि पर खर्च।

4. यह व्यय सीधे उत्पादक और विकास-उन्मुख होता है।

गैर-विकासात्मक व्यय (Non-Developmental Expenditure)—

1. ये वे व्यय होते हैं जो देश के विकास में सीधे योगदान नहीं करते हैं, बल्कि सरकार के सामान्य कामकाज और अस्तित्व के लिए आवश्यक होते हैं।

2. इनका उत्पादन पर सीधा प्रभाव नहीं पड़ता है, लेकिन वितरण पर प्रभाव पड़ सकता है।

3. उदाहरण— रक्षा व्यय, कानून और व्यवस्था पर व्यय, ब्याज भुगतान, पेंशन, प्रशासनिक व्यय, सब्सिडी (कुछ हद तक) आदि।

हालांकि ये सीधे विकास-उन्मुख नहीं होते, ये एक स्थिर और सुरक्षित वातावरण प्रदान करके अप्रत्यक्ष

4. रूप से विकास का समर्थन करते हैं।

3. योजना व्यय और गैर-योजना व्यय (Plan Expenditure and Non-Plan Expenditure)—यह वर्गीकरण भारत जैसे योजनाबद्ध अर्थव्यवस्था वाले देशों में विशेष रूप से प्रासंगिक था (हालांकि अब “योजना” की अवधारणा बदल गई है)।

योजना व्यय (Plan Expenditure)—

1. ये व्यय उन कार्यक्रमों और परियोजनाओं पर किए जाते हैं जिनकी सिफारिश योजना आयोग (अब नीति आयोग) द्वारा की गई थी और जो पंचवर्षीय योजनाओं का हिस्सा थे।

2. इनका उद्देश्य विशिष्ट विकास लक्ष्यों को प्राप्त करना होता है।

3. उदाहरण— कृषि, सिंचाई, ऊर्जा, ग्रामीण विकास, बाढ़ नियंत्रण, और खनिज संसाधनों से संबंधित योजनाबद्ध परियोजनाएं।

गैर-योजना व्यय (Non-Plan Expenditure)—

1. ये वे सभी व्यय होते हैं जो योजनाबद्ध विकास कार्यक्रमों के दायरे से बाहर होते हैं।

2. इनमें सरकार के नियमित और आवश्यक संचालन शामिल होते हैं।

3. उदाहरण— ब्याज भुगतान, रक्षा सेवाएं, सब्सिडी, वेतन और पेंशन, कानून और व्यवस्था पर व्यय आदि।

4. कार्यात्मक वर्गीकरण (Functional Classification)—यह वर्गीकरण इस बात पर आधारित है कि व्यय किस कार्य या उद्देश्य के लिए किया गया है। यह सरकार की विभिन्न सेवाओं के लिए किए गए खर्च को दर्शाता है।

उदाहरण—रक्षा व्यय, शिक्षा पर व्यय, स्वास्थ्य देखभाल पर व्यय, सामाजिक कल्याण पर व्यय (जैसे वृद्धावस्था पेंशन, छात्रवृत्ति, बेरोजगारी भत्ता), परिवहन पर व्यय, सामान्य प्रशासन पर व्यय, कृषि और ग्रामीण विकास पर व्यय, पर्यावरण संरक्षण पर व्यय।

5. हस्तांतरण भुगतान और वास्तविक व्यय (Transfer Payments and Real Expenditure)—

हस्तांतरण भुगतान (Transfer Payments)—

1. ये वे भुगतान होते हैं जो सरकार द्वारा व्यक्तियों या संस्थाओं को बिना किसी वस्तु या सेवा के बदले किए जाते हैं।

2. इनसे अर्थव्यवस्था में सीधे कोई उत्पादन या आय उत्पन्न नहीं होती, बल्कि आय का पुनर्वितरण होता है।

3. उदाहरण— पेंशन, छात्रवृत्ति, बेरोजगारी भत्ता, सब्सिडी (कुछ प्रकार की), ब्याज भुगतान।

वास्तविक व्यय (Real Expenditure)—

1. ये वे व्यय होते हैं जिनसे सरकार सीधे वस्तुओं और सेवाओं का अधिग्रहण करती है, या उत्पादक गतिविधियों में निवेश करती है।

2. ये अर्थव्यवस्था में वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन और आय सृजन को बढ़ावा देते हैं।

3. उदाहरण— सरकारी कर्मचारियों का वेतन (क्योंकि वे सेवाएं प्रदान करते हैं), बुनियादी ढांचे का निर्माण, रक्षा उपकरण खरीदना।

अन्य वर्गीकरण—कुछ अर्थशास्त्रियों ने सार्वजनिक व्यय को अन्य आधारों पर भी वर्गीकृत किया है—

स्थिर व्यय और परिवर्तनशील व्यय (Fixed Expenditure and Variable Expenditure)— कुछ व्यय निश्चित होते हैं और हमेशा बने रहते हैं (जैसे वेतन, पेंशन), जबकि कुछ आवश्यकतानुसार बदलते रहते हैं (जैसे आपातकालीन व्यय)।

प्राथमिक व्यय और गौण व्यय (Primary Expenditure and Secondary Expenditure)— प्राथमिक व्यय वे होते हैं जो राज्य के अस्तित्व के लिए आवश्यक होते हैं, जबकि गौण व्यय अतिरिक्त होते हैं।

उत्पादक व्यय और अनुत्पादक व्यय (Productive Expenditure and Unproductive Expenditure)— यह वर्गीकरण व्यय के उत्पादकता पर आधारित होता है। उत्पादक व्यय से अर्थव्यवस्था की उत्पादन क्षमता बढ़ती है, जबकि अनुत्पादक व्यय का सीधा उत्पादन पर कोई प्रभाव नहीं होता।

निष्कर्ष—सार्वजनिक व्यय का वर्गीकरण विभिन्न उद्देश्यों के लिए किया जाता है, जैसे कि बजट निर्माण, आर्थिक विश्लेषण, राजकोषीय नीति का निर्धारण, और सार्वजनिक धन के कुशल उपयोग की निगरानी। प्रत्येक वर्गीकरण सार्वजनिक व्यय के विभिन्न पहलुओं को उजागर करता है और सरकार को अपने वित्तीय संसाधनों का प्रभावी ढंग से प्रबंधन करने में मदद करता है ताकि अधिकतम सामाजिक कल्याण और सतत आर्थिक विकास सुनिश्चित किया जा सके। विभिन्न वर्गीकरणों का एक साथ विश्लेषण करके ही सार्वजनिक व्यय की समग्र तस्वीर को समझा जा सकता है।

प्रश्न न0 6— करारोपण से क्या आशय है। प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष कर में अन्तर स्पष्ट कीजिए?

उत्तर— करारोपण (Taxation) एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके तहत सरकार अपने खर्चों को पूरा करने और सार्वजनिक उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए व्यक्तियों और व्यवसायों से अनिवार्य रूप से वित्तीय योगदान (कर) एकत्र करती है। यह सरकार की आय का एक प्रमुख स्रोत है और इसके माध्यम से सरकार विभिन्न कल्याणकारी योजनाओं, बुनियादी ढांचे के विकास, प्रशासनिक सेवाओं और सुरक्षा पर व्यय करती है।

करारोपण केवल राजस्व एकत्र करने का साधन नहीं है, बल्कि यह आर्थिक और सामाजिक उद्देश्यों को प्राप्त करने का भी एक महत्वपूर्ण उपकरण है। इसके मुख्य उद्देश्य निम्न हो सकते हैं—

1. राजस्व प्राप्त करना— सरकार के नियमित और नियोजित विकास व्यय की पूर्ति के लिए आवश्यक वित्तीय संसाधनों को करों के माध्यम से ही एकत्रित किया जाता है।

2. धन के वितरण में समानता लाना— करों का उपयोग आय और संपत्ति की असमानता को कम करने के लिए किया जा सकता है, जैसे प्रगतिशील कर प्रणाली जिसमें उच्च आय वाले लोगों पर अधिक कर लगाया जाता है।

3. आर्थिक स्थिरता और विकास— करारोपण मुद्रास्फीति को नियंत्रित करने, निवेश को बढ़ावा देने और आर्थिक विकास को प्रोत्साहित करने में सहायक होता है।

4. संसाधनों का आवंटन— सरकार करारोपण के माध्यम से कुछ विशेष उद्योगों या क्षेत्रों को प्रोत्साहित या हतोत्साहित कर सकती है, जिससे संसाधनों का वांछित दिशा में आवंटन हो सके।

5. सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति— हानिकारक वस्तुओं (जैसे शराब, तंबाकू) पर अधिक कर लगाकर उनके उपभोग को कम किया जा सकता है, जिससे सामाजिक कल्याण में वृद्धि हो।

प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष कर में अन्तर स्पष्ट कीजिए—

करों को मुख्य रूप से दो श्रेणियों में बांटा जाता है— प्रत्यक्ष कर (Direct Taxes) और अप्रत्यक्ष कर (Indirect Taxes)। इन दोनों के बीच मुख्य अंतर कर के भार (incidence) और कराघात (impact) के हस्तांतरण पर आधारित है।

1. प्रत्यक्ष कर (Direct Taxes)— प्रत्यक्ष कर वे कर होते हैं जिनका भार सीधे उसी व्यक्ति या संस्था पर पड़ता है जिस पर वे लगाए जाते हैं, और इसे किसी अन्य व्यक्ति पर टाला नहीं जा सकता। इसमें कर का कराघात (जिस पर कर लगता है) और करापात (जो अंततः कर का भुगतान करता है) एक ही व्यक्ति होता है।

उदाहरण—

आयकर (Income Tax)— व्यक्तियों की आय पर लगाया जाने वाला कर।

कॉर्पोरेट कर (Corporate Tax)— कंपनियों के लाभ पर लगाया जाने वाला कर।

संपत्ति कर (Property Tax)— संपत्ति के स्वामित्व पर लगाया जाने वाला कर।

पूंजीगत लाभ कर (Capital Gains Tax)— संपत्ति, शेयर आदि की बिक्री से होने वाले लाभ पर लगाया जाने वाला कर।

प्रत्यक्ष करों की विशेषताएं—

भार का हस्तांतरण नहीं— इसका भार किसी और पर नहीं डाला जा सकता।

प्रगतिशील प्रकृति— आमतौर पर ये प्रगतिशील होते हैं, यानी आय बढ़ने के साथ कर की दर भी बढ़ती है। यह आय की असमानता को कम करने में सहायक होते हैं।

मुद्रास्फीति—रोधी— आय में कमी करके वस्तुओं और सेवाओं की मांग को कम करने में मदद करते हैं, जिससे मुद्रास्फीति को नियंत्रित किया जा सकता है।

संग्रह में जटिलता— इनका संग्रह अपेक्षाकृत जटिल हो सकता है क्योंकि यह व्यक्तिगत आय या लाभ से जुड़ा होता है।

2. अप्रत्यक्ष कर (Indirect Taxes)—अप्रत्यक्ष कर वे कर होते हैं जिनका भार सीधे उस व्यक्ति पर नहीं पड़ता जिस पर वे पहली बार लगाए जाते हैं। इन करों का भार उपभोक्ताओं पर स्थानांतरित किया जा सकता है क्योंकि ये वस्तुओं और सेवाओं की कीमतों में शामिल होते हैं। इसमें कर का कराघात (जैसे निर्माता या विक्रेता) और करापात (अंतिम उपभोक्ता) अलग-अलग व्यक्ति होते हैं।

उदाहरण—

वस्तु एवं सेवा कर (GST & Goods and Services Tax)— वस्तुओं और सेवाओं की आपूर्ति पर लगाया जाने वाला एकीकृत कर।

सीमा शुल्क (Customs Duty)— आयातित और निर्यातित वस्तुओं पर लगाया जाने वाला कर।

उत्पाद शुल्क (Excise Duty)— वस्तुओं के उत्पादन पर लगाया जाने वाला कर (अब छेज में शामिल)।

बिक्री कर (Sales Tax)— वस्तुओं की बिक्री पर लगाया जाने वाला कर (अब छेज में शामिल)।

अप्रत्यक्ष करों की विशेषताएं—

भार का हस्तांतरण— इनका भार अंतिम उपभोक्ता पर स्थानांतरित किया जा सकता है।

प्रतिगामी प्रकृति— ये अक्सर प्रतिगामी होते हैं क्योंकि ये वस्तुओं और सेवाओं पर समान रूप से लगते हैं, चाहे उपभोक्ता की आय कुछ भी हो। यह गरीबों पर अधिक बोझ डाल सकते हैं।

व्यापक आधार— ये अधिक लोगों को कवर करते हैं क्योंकि हर कोई वस्तुओं और सेवाओं का उपभोग करता है।

संग्रह में आसानी— इनका संग्रह अपेक्षाकृत आसान होता है क्योंकि ये वस्तुओं और सेवाओं की कीमतों में शामिल होते हैं और व्यापारिक संस्थाओं द्वारा एकत्र किए जाते हैं।

कर चोरी में कमी— चूंकि ये वस्तुओं और सेवाओं की कीमतों में शामिल होते हैं, इसलिए उपभोक्ता उन्हें भुगतान करने से बच नहीं सकते।

प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष कर में मुख्य अंतरों का सारांश—

विशेषता	प्रत्यक्ष कर	अप्रत्यक्ष कर
करारोपण	आय, संपत्ति, लाभ पर	वस्तुओं और सेवाओं पर
भार का हस्तांतरण	संभव नहीं	संभव है (उत्पादक से उपभोक्ता तक)
कराघात और करापात	एक ही व्यक्ति पर	अलग-अलग व्यक्तियों पर
प्रकृति	आमतौर पर प्रगतिशील (Progressive)	आमतौर पर प्रतिगामी (Regressive)
कर चोरी	तुलनात्मक रूप से अधिक संभावना	तुलनात्मक रूप से कम संभावना
प्रशासन और संग्रह	अपेक्षाकृत जटिल	अपेक्षाकृत आसान
उद्देश्य	आय असमानता कम करना, आय प्राप्त करना	राजस्व प्राप्त करना, उपभोग को प्रभावित करना
उदाहरण	आयकर, कॉर्पोरेट कर, संपत्ति कर	GST, सीमा शुल्क

निष्कर्ष रूप में, किसी भी देश की कराधान प्रणाली को न्यायपूर्ण और प्रभावी बनाने के लिए प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष करों का एक संतुलित मिश्रण आवश्यक है। दोनों प्रकार के करों के अपने-अपने गुण और दोष होते हैं, और सरकार को आर्थिक लक्ष्यों और सामाजिक न्याय को ध्यान में रखते हुए इनका उचित संतुलन स्थापित करना होता है।

प्रश्न न0 7— अधिकतम सामाजिक लाभ के सिद्धान्त की विवेचना कीजिए?

उत्तर— अधिकतम सामाजिक लाभ का सिद्धान्त (Principle of Maximum Social Advantage) लोक वित्त (Public Finance) का एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त है, जिसे मुख्य रूप से डॉल्टन (वंसजवद) और पीगू (च्यहवन) जैसे अर्थशास्त्रियों ने प्रतिपादित किया है। यह सिद्धान्त सरकार के आय और व्यय संबंधी निर्णयों के लिए एक मार्गदर्शक सिद्धान्त के रूप में कार्य करता है, जिसका उद्देश्य समाज के लिए अधिकतम निवल लाभ (नेट बेनिफिट) प्राप्त करना है।

सिद्धान्त का अर्थ और मुख्य विचार—

यह सिद्धान्त बताता है कि सरकार को अपने वित्तीय कार्यों (सार्वजनिक व्यय और कराधान) को इस प्रकार से संचालित करना चाहिए जिससे समाज का समग्र कल्याण अधिकतम हो सके। डॉल्टन के शब्दों में, “लोक-वित्त की सर्वोत्तम प्रणाली वह है जो अपने कार्यों द्वारा अधिकतम सामाजिक लाभ उत्पन्न करती है।”

इस सिद्धान्त के अनुसार, अधिकतम सामाजिक लाभ उस बिंदु पर प्राप्त होता है जहाँ सार्वजनिक व्यय से प्राप्त होने वाली सीमांत सामाजिक उपयोगिता (Marginal Social Benefit & MSB) कराधान से होने वाले सीमांत सामाजिक त्याग (Marginal Social Sacrifice & MSS) के बराबर हो जाती है।

सीमांत सामाजिक उपयोगिता (MSB)— जब सरकार किसी सार्वजनिक परियोजना (जैसे सड़क, शिक्षा, स्वास्थ्य सेवा) पर व्यय करती है, तो समाज को उससे लाभ होता है। प्रत्येक अतिरिक्त इकाई व्यय से प्राप्त होने वाला अतिरिक्त लाभ सीमांत सामाजिक उपयोगिता कहलाता है। आमतौर पर, यह माना जाता है कि सार्वजनिक व्यय से सीमांत सामाजिक उपयोगिता घटती जाती है, क्योंकि सरकार पहले सबसे महत्वपूर्ण क्षेत्रों पर खर्च करती है और बाद में कम महत्वपूर्ण क्षेत्रों पर।

सीमांत सामाजिक त्याग (MSS)— जब सरकार कर लगाती है, तो जनता को कुछ आय का त्याग करना पड़ता है, जिससे उन्हें कुछ अनुपयोगिता या त्याग का अनुभव होता है। प्रत्येक अतिरिक्त इकाई कर लगाने से होने वाला अतिरिक्त त्याग सीमांत सामाजिक त्याग कहलाता है। यह माना जाता है कि कराधान से सीमांत सामाजिक त्याग बढ़ता जाता है, क्योंकि लोगों के पास कम पैसा बचने पर उन्हें अतिरिक्त कर चुकाने में अधिक कष्ट होता है।

संतुलन का बिंदु (Point of Equilibrium)—

अधिकतम सामाजिक लाभ उस बिंदु पर प्राप्त होता है जहाँ $MSB = MSS$ होता है। इस बिंदु से पहले, यदि $MSB > MSS$ है, तो सरकार को सार्वजनिक व्यय बढ़ाना चाहिए और अधिक कर लगाना चाहिए, क्योंकि इससे समाज को निवल लाभ प्राप्त होगा। यदि $MSB < MSS$ है, तो सरकार को सार्वजनिक व्यय कम करना चाहिए और करों में कमी करनी चाहिए, क्योंकि इससे समाज को नुकसान हो रहा है।

रेखाचित्र द्वारा स्पष्टीकरण—यदि हम एक ग्राफ पर क्षैतिज अक्ष पर सार्वजनिक आय और व्यय (कर और सार्वजनिक व्यय की मात्रा) और ऊर्ध्वाधर अक्ष पर सीमांत सामाजिक उपयोगिता-त्याग को दर्शाते हैं, तो—

1. MSB वक्र ऊपर से नीचे की ओर गिरता हुआ होता है (घटती सीमांत उपयोगिता के कारण)।
2. MSS वक्र नीचे से ऊपर की ओर बढ़ता हुआ होता है (बढ़ते सीमांत त्याग के कारण)।
3. जहाँ MSB वक्र डै वक्र को काटता है, वही अधिकतम सामाजिक लाभ का बिंदु होता है। इस बिंदु पर, समाज को अधिकतम निवल लाभ प्राप्त होता है।

सिद्धान्त की मान्यताएँ (Assumptions of the Principle)—यह सिद्धान्त कुछ मान्यताओं पर आधारित है—

1.कर हमेशा त्याग का कारण बनते हैं और सार्वजनिक व्यय हमेशा लाभ का कारण बनते हैं— यह एक सरलीकृत धारणा है।

2.सरकार के पास आय का एकमात्र स्रोत कर हैं— वास्तविक दुनिया में, सरकार के पास ऋण, शुल्क, सार्वजनिक उद्यमों से लाभ आदि जैसे अन्य स्रोत भी होते हैं।

3.सरकार का बजट हमेशा संतुलित होता है— अर्थात्, राजस्व व्यय के बराबर होता है, कोई घाटा या अधिशेष नहीं होता।

4.सार्वजनिक व्यय से सीमांत सामाजिक लाभ घटता जाता है।

5.करों से सीमांत सामाजिक त्याग बढ़ता जाता है।

6.उपयोगिता और अनुपयोगिता को मापा जा सकता है— यह एक महत्वपूर्ण मान्यता है, जो इस सिद्धान्त की व्यावहारिकता पर सवाल उठाती है।

सिद्धान्त की आलोचनाएँ (Criticisms of the Principle)—अधिकतम सामाजिक लाभ का सिद्धान्त सैद्धांतिक रूप से महत्वपूर्ण होते हुए भी, इसकी कई व्यावहारिक कठिनाइयाँ और आलोचनाएँ हैं—

1.उपयोगिता और त्याग को मापने की कठिनाई (Non&measurability of Utility and Sacrifice)—सबसे बड़ी आलोचना यह है कि सीमांत सामाजिक उपयोगिता और सीमांत सामाजिक त्याग को वस्तुनिष्ठ रूप से मापना असंभव है। ये व्यक्तिपरक अवधारणाएँ हैं जो व्यक्तियों की भावनाओं और प्राथमिकताओं पर निर्भर करती हैं।

2.अवधारणात्मक अस्पष्टता (Vague and Abstract Concepts)— “लाभ” और “त्याग” जैसे शब्द अस्पष्ट और अमूर्त हैं। विभिन्न व्यक्तियों और समूहों के लिए उनका अर्थ अलग-अलग हो सकता है।

3.सार्वजनिक वस्तुओं का विभाजन (Lack of Divisibility of Public Goods)— सार्वजनिक व्यय और कराधान की इकाइयों को बहुत छोटे टुकड़ों में विभाजित करना हमेशा संभव नहीं होता है, जिससे सीमांत लाभ और त्याग को बराबर करना मुश्किल हो जाता है। उदाहरण के लिए, एक बड़ी बांध परियोजना या एक रक्षा प्रणाली को छोटे-छोटे टुकड़ों में विभाजित नहीं किया जा सकता।

4.गैर-कर राजस्व की उपेक्षा (Ignores Non&Tax Revenue)— यह सिद्धान्त केवल करों पर ध्यान केंद्रित करता है और सार्वजनिक ऋण, शुल्क, जुर्माना, सार्वजनिक उद्यमों के लाभ आदि जैसे अन्य महत्वपूर्ण राजस्व स्रोतों की उपेक्षा करता है।

5.गतिशील स्थितियों की उपेक्षा (Assumes Static Conditions)— यह सिद्धान्त एक स्थिर अर्थव्यवस्था को मानता है जहाँ आय और व्यय के प्रभाव समय के साथ नहीं बदलते। वास्तविक अर्थव्यवस्था गतिशील होती है और सरकारी नीतियों के प्रभाव बदलते रहते हैं।

6.व्यावहारिक कठिनाई (Difficult to Implement in Practice)— सरकारें विभिन्न राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक दबावों के तहत काम करती हैं। अधिकतम सामाजिक लाभ प्राप्त करने के लिए कठोर आर्थिक गणनाएं करना व्यावहारिक रूप से बहुत कठिन होता है।

7.कल्याणकारी राज्य का बदलता स्वरूप (Changing Nature of Welfare State)— आधुनिक कल्याणकारी राज्य में, सरकार का उद्देश्य केवल लाभ को अधिकतम करना नहीं है, बल्कि आय असमानता को कम करना, स्थिरता बनाए रखना और विकास को बढ़ावा देना भी है।

8.समग्र व्यवस्था की उपेक्षा (Ignores Macro System)— यह सिद्धान्त कराधान और व्यय के व्यक्तिगत प्रभावों पर अधिक ध्यान केंद्रित करता है, जबकि अर्थव्यवस्था पर उनके व्यापक, मैक्रो-आर्थिक प्रभावों को अनदेखा कर सकता है (जैसे मुद्रास्फीति या बेरोजगारी)।

9. संतुलित बजट की अवास्तविक धारणा (Unrealistic Assumption of Balanced Budget)— आधुनिक अर्थव्यवस्थाओं में, सरकारें अक्सर घाटे या अधिशेष बजट का संचालन करती हैं, जो आर्थिक स्थिरता और विकास के उद्देश्यों के लिए महत्वपूर्ण हो सकता है।

निष्कर्ष—अधिकतम सामाजिक लाभ का सिद्धान्त, अपनी आलोचनाओं और व्यावहारिक कठिनाइयों के बावजूद, लोक वित्त के क्षेत्र में एक मौलिक अवधारणा बना हुआ है। यह सरकार के वित्तीय निर्णयों के लिए एक आदर्श लक्ष्य निर्धारित करता है और नीति निर्माताओं को सार्वजनिक व्यय और कराधान के माध्यम से सामाजिक कल्याण को अधिकतम करने के बारे में सोचने के लिए एक सैद्धांतिक ढाँचा प्रदान करता है। यद्यपि इसे पूरी तरह से व्यवहार में लाना कठिन है, फिर भी यह सरकारों को अपने वित्तीय कार्यों को अधिक कुशलता और न्यायसंगत तरीके से संचालित करने के लिए एक महत्वपूर्ण दिशा प्रदान करता है।

प्रश्न नं० 8— प्रगतिशील करारोपण क्या है?

उत्तर— अर्थशास्त्र में प्रगतिशील करारोपण (Progressive Taxation) एक ऐसी कर प्रणाली है जिसमें कर की दर कर योग्य आय या संपत्ति के बढ़ने के साथ बढ़ती जाती है। इसका सीधा सा अर्थ यह है कि जिनकी आय अधिक होती है, उन्हें अपनी आय का एक बड़ा प्रतिशत कर के रूप में चुकाना पड़ता है, जबकि कम आय वालों को अपनी आय का कम प्रतिशत कर के रूप में देना होता है। यह अवधारणा “भुगतान करने की क्षमता” के सिद्धांत पर आधारित है, जिसका मानना है कि जिन लोगों के पास अधिक वित्तीय क्षमता है, उन्हें समाज के लिए अधिक योगदान देना चाहिए।

प्रगतिशील करारोपण की मुख्य विशेषताएं—

आय के साथ बढ़ती दरें— प्रगतिशील कर प्रणाली में कर की दरें विभिन्न आय-वर्गों (tax brackets) में विभाजित होती हैं। जैसे-जैसे किसी व्यक्ति की आय एक वर्ग से अगले उच्च वर्ग में जाती है, उस पर लगने वाली कर की दर भी बढ़ जाती है। उदाहरण के लिए, 10% से 37% तक की दरें हो सकती हैं, जहां कम आय पर 10% और उच्च आय पर 37% की दर लागू होती है।

ऊर्ध्वाधर समानता (Vertical Equity)— प्रगतिशील करारोपण का मुख्य उद्देश्य ऊर्ध्वाधर समानता स्थापित करना है। इसका मतलब है कि अलग-अलग आय समूहों के लोगों पर अलग-अलग कर लगना चाहिए, और जो अधिक कमाते हैं, उन्हें अधिक योगदान देना चाहिए।

आय असमानता में कमी— यह कर प्रणाली आय और धन के वितरण में असमानता को कम करने में मदद करती है। यह धनी व्यक्तियों से अधिक कर एकत्रित करके सरकार को सामाजिक कल्याण कार्यक्रमों, जैसे शिक्षा, स्वास्थ्य सेवा, बुनियादी ढाँचा आदि पर खर्च करने में सक्षम बनाती है, जिससे गरीब और वंचित लोगों को लाभ होता है।

उदाहरण—

व्यक्तिगत आयकर (Personal Income Tax)— प्रगतिशील करारोपण का सबसे स्पष्ट उदाहरण है। इसके अलावा, संपत्ति कर (Estate Tax), पूंजीगत लाभ कर (Capital Gains Tax) और विलासिता वस्तुओं पर कर (Luxury Goods Tax) भी प्रगतिशील प्रभाव डाल सकते हैं।

प्रगतिशील करारोपण के लाभ—

आय असमानता में कमी— यह प्रणाली धनी और गरीब के बीच की खाई को पाटने में मदद करती है, जिससे सामाजिक न्याय को बढ़ावा मिलता है।

राजस्व सृजन— उच्च आय वर्ग से अधिक कर प्राप्त होने के कारण सरकार के लिए पर्याप्त राजस्व एकत्रित होता है, जिसका उपयोग सार्वजनिक सेवाओं और विकासात्मक परियोजनाओं के वित्तपोषण के लिए किया जा सकता है।

सामाजिक स्थिरता— आय असमानता में कमी से सामाजिक अशांति और अपराध में कमी आ सकती है, जिससे समाज में अधिक स्थिरता और सद्भाव आता है।

कम आय वाले लोगों पर बोझ कमरू यह प्रणाली कम आय वाले व्यक्तियों पर कर का बोझ कम करती है, जिससे उनकी क्रय शक्ति बनी रहती है और वे अपनी बुनियादी जरूरतों को पूरा कर पाते हैं।

मांग में वृद्धि— कम आय वाले लोगों की क्रय शक्ति बढ़ने से वस्तुओं और सेवाओं की मांग बढ़ सकती है, जिससे आर्थिक विकास को प्रोत्साहन मिल सकता है।

प्रगतिशील करारोपण की चुनौतियाँ/नुकसान—

कार्य करने और बचत करने के लिए हतोत्साहन— कुछ अर्थशास्त्रियों का तर्क है कि उच्च कर दरें लोगों को अधिक काम करने या बचत करने से हतोत्साहित कर सकती हैं, क्योंकि उनकी आय का एक बड़ा हिस्सा कर के रूप में ले लिया जाता है। इससे आर्थिक गतिविधि कम हो सकती है।

कर चोरी और टालना: उच्च कर दरों से कर चोरी और टालने (tax evasion and avoidance) की प्रवृत्ति बढ़ सकती है, जिससे सरकार के राजस्व पर नकारात्मक प्रभाव पड़ सकता है।

पूंजी पलायन (Capital Flight)— बहुत अधिक प्रगतिशील कर दरों वाले देशों से पूंजी का पलायन हो सकता है, क्योंकि धनी व्यक्ति अपनी पूंजी को कम कर वाले देशों में स्थानांतरित करना पसंद कर सकते हैं।

जटिलता— प्रगतिशील कर प्रणालियाँ अक्सर कई कर-वर्गों और कटौतियों के कारण जटिल हो सकती हैं, जिससे उनका अनुपालन और प्रशासन मुश्किल हो जाता है।

आर्थिक दक्षता पर प्रभाव— कुछ लोगों का मानना है कि प्रगतिशील कर प्रणाली निवेश और उद्यमिता को प्रभावित कर सकती है, जिससे समग्र आर्थिक दक्षता में कमी आ सकती है।

निष्कर्ष—प्रगतिशील करारोपण एक महत्वपूर्ण आर्थिक उपकरण है जिसका उद्देश्य सामाजिक न्याय को बढ़ावा देना और आय असमानता को कम करना है। यह सरकार को सार्वजनिक सेवाओं के लिए आवश्यक राजस्व जुटाने में मदद करता है। हालांकि, इसकी अपनी चुनौतियाँ भी हैं, जैसे कार्य प्रोत्साहन पर संभावित नकारात्मक प्रभाव और कर चोरी की प्रवृत्ति। एक सफल प्रगतिशील कर प्रणाली वह है जो इन लाभों और चुनौतियों के बीच संतुलन स्थापित करे, ताकि आर्थिक विकास को बाधित किए बिना सामाजिक उद्देश्यों को प्राप्त किया जा सके। भारत जैसे देश में, जहाँ आय असमानता एक बड़ी चुनौती है, प्रगतिशील आयकर प्रणाली को अपनाया गया है ताकि संसाधनों का अधिक न्यायसंगत वितरण सुनिश्चित किया जा सके।

प्रश्न न0 9— वैगनर के सार्वजनिक व्यय को समझाइए?

उत्तर— एडोल्फ वैगनर, एक जर्मन अर्थशास्त्री, ने 19वीं शताब्दी के अंत में “बढ़ती राजकीय गतिविधियों के नियम” (Law of Increasing State Activities) का प्रतिपादन किया, जिसे आमतौर पर वैगनर का सार्वजनिक व्यय का नियम (Wagner's Law of Public Expenditure) कहा जाता है। यह नियम बताता है कि जैसे-जैसे कोई देश आर्थिक रूप से विकसित होता है, उसकी प्रति व्यक्ति आय और उत्पादन बढ़ता है, वैसे-वैसे कुल आर्थिक गतिविधियों के अनुपात में सार्वजनिक क्षेत्र (सरकार द्वारा किए जाने वाले खर्च) का आकार और व्यय बढ़ता जाता है।

यह नियम एक अनुभवजन्य अवलोकन पर आधारित है कि औद्योगिक देशों में ऐतिहासिक रूप से सार्वजनिक व्यय में लगातार वृद्धि हुई है। वैगनर के अनुसार, यह वृद्धि आकस्मिक नहीं है बल्कि आर्थिक विकास की स्वाभाविक परिणति है।

वैगनर के नियम के मुख्य बिंदु और कारण—वैगनर ने सार्वजनिक व्यय में वृद्धि के कई कारण बताए, जिन्हें मोटे तौर पर तीन श्रेणियों में बांटा जा सकता है—

1.राज्य के प्रशासनिक और सुरक्षात्मक कार्यों में वृद्धि—

कानून और व्यवस्था— जैसे-जैसे अर्थव्यवस्था का आकार और जटिलता बढ़ती है, अपराध, विवाद और सामाजिक अशांति की संभावना भी बढ़ती है। सरकार को इन समस्याओं से निपटने के लिए अधिक पुलिस, न्यायपालिका और प्रशासनिक सेवाओं पर खर्च करना पड़ता है।

रक्षा— औद्योगिक विकास के साथ-साथ देशों की भू-राजनीतिक भूमिका बदलती है, जिससे राष्ट्रीय सुरक्षा और रक्षा पर अधिक व्यय की आवश्यकता हो सकती है।

शासन की जटिलता— आधुनिक अर्थव्यवस्थाओं में विभिन्न क्षेत्रों को विनियमित करने और नियंत्रित करने के लिए जटिल प्रशासनिक तंत्र की आवश्यकता होती है, जिससे सरकारी कर्मचारियों और कार्यालयों पर खर्च बढ़ता है।

2. सामाजिक और सांस्कृतिक कार्यों में वृद्धि (कल्याणकारी राज्य की अवधारणा)—

शिक्षा— आर्थिक विकास के लिए कुशल श्रमशक्ति की आवश्यकता होती है। इसलिए, सरकारें शिक्षा के बुनियादी ढांचे (स्कूल, कॉलेज, विश्वविद्यालय) और शिक्षकों पर अधिक खर्च करती हैं।

स्वास्थ्य— बढ़ती शहरीकरण और जीवन स्तर के साथ, लोग बेहतर स्वास्थ्य सेवाओं की मांग करते हैं। सरकारें अस्पताल, क्लीनिक, चिकित्सा अनुसंधान और सार्वजनिक स्वास्थ्य कार्यक्रमों पर अधिक व्यय करती हैं।

सामाजिक सुरक्षा— औद्योगिक समाज में शहरीकरण और नाभिकीय परिवार के बढ़ने से पारंपरिक सामाजिक सुरक्षा जाल कमजोर हो जाते हैं। सरकारें बेरोजगारी भत्ता, पेंशन, विकलांगता लाभ और अन्य सामाजिक कल्याण योजनाओं पर खर्च करती हैं।

सार्वजनिक सुविधाएं— शहरीकरण और जनसंख्या वृद्धि के साथ, सरकार को पानी, सीवेज, बिजली, सड़क, परिवहन जैसी सार्वजनिक सुविधाओं के विकास और रखरखाव पर अधिक खर्च करना पड़ता है।

3. सार्वजनिक क्षेत्र द्वारा निजी क्षेत्र का प्रतिस्थापन या पूरकता—

कुछ सेवाएं, जैसे कि आधारभूत संरचना (सड़क, पुल, बंदरगाह) या कुछ भारी उद्योग, निजी क्षेत्र के लिए पूरी तरह से लाभदायक नहीं हो सकते हैं या उनमें बहुत बड़े प्रारंभिक निवेश की आवश्यकता होती है। ऐसी स्थिति में, सरकारें इन क्षेत्रों में निवेश करती हैं, जिससे सार्वजनिक व्यय बढ़ता है।

कुछ सेवाओं में “प्राकृतिक एकाधिकार” की प्रवृत्ति होती है (जैसे पानी या बिजली आपूर्ति), जहाँ एक ही प्रदाता कुशलता से सेवा प्रदान कर सकता है। ऐसे मामलों में, सरकार अक्सर इन सेवाओं का स्वामित्व या विनियमन करती है, जिससे सार्वजनिक व्यय बढ़ता है।

आय में वृद्धि के साथ, जनता कुछ वस्तुओं और सेवाओं (जैसे संग्रहालय, पार्क, सार्वजनिक पुस्तकालय) की मांग करती है जो शायद निजी क्षेत्र द्वारा कुशलता से प्रदान न की जा सकें या जिनके “सार्वजनिक वस्तु” गुण हों। सरकारें इन सेवाओं को प्रदान करने के लिए खर्च करती हैं।

वैगनर के नियम का महत्व और आलोचना—

महत्व—

यह नियम सार्वजनिक व्यय में वृद्धि के पीछे के दीर्घकालिक रुझानों को समझने में मदद करता है।

यह आर्थिक विकास और राज्य की भूमिका के बीच संबंध पर प्रकाश डालता है।

यह सार्वजनिक वित्त नीति निर्माताओं के लिए एक महत्वपूर्ण अवधारणा है।

आलोचनाएं—

कार्य-कारण संबंध की अस्पष्टता— आलोचकों का तर्क है कि वैगनर का नियम केवल सहसंबंध दिखाता है, न कि कार्य-कारण संबंध। यह स्पष्ट नहीं है कि आर्थिक विकास से सार्वजनिक व्यय बढ़ता है, या बढ़ता हुआ सार्वजनिक व्यय आर्थिक विकास को बढ़ावा देता है, या दोनों एक साथ होते हैं।

अनुभवजन्य प्रमाण की भिन्नता— विभिन्न देशों और समय अवधियों में किए गए अध्ययनों में वैगनर के नियम के समर्थन में मिश्रित परिणाम मिले हैं। कुछ अध्ययनों में इसका समर्थन मिलता है, जबकि अन्य में नहीं।

अन्य कारकों की अनदेखी— वैगनर का नियम राजनीतिक, सामाजिक और संस्थागत कारकों की उपेक्षा करता है जो सार्वजनिक व्यय को भी प्रभावित करते हैं। उदाहरण के लिए, युद्ध, आर्थिक संकट, या राजनीतिक विचारधारा में परिवर्तन भी सार्वजनिक व्यय को प्रभावित कर सकते हैं।

सीमित व्याख्यात्मक शक्ति— यह नियम सार्वजनिक व्यय में होने वाली सभी वृद्धि को समझाने में सक्षम नहीं है, खासकर आधुनिक कल्याणकारी राज्यों में जहां सरकार का आकार और कार्य बहुत व्यापक हो गए हैं।

परिसंपत्ति की परिभाषा— वैगनर के नियम में “सार्वजनिक व्यय” की परिभाषा को लेकर भी कुछ अस्पष्टता रही है। क्या इसमें केवल उपभोग व्यय शामिल है, या निवेश व्यय भी?

संक्षेप में, वैगनर का सार्वजनिक व्यय का नियम एक महत्वपूर्ण सिद्धांत है जो आर्थिक विकास और सार्वजनिक व्यय के बीच एक ऐतिहासिक संबंध को दर्शाता है। यद्यपि इसकी कुछ सीमाएं और आलोचनाएं हैं, फिर भी यह सार्वजनिक वित्त के अध्ययन में एक मौलिक अवधारणा बनी हुई है और सरकार की बढ़ती भूमिका को समझने में मदद करती है।

प्रश्न न0 10— वैगनर के सार्वजनिक व्यय को समझाइए?

उत्तर— कराधान का न्यूनतम त्याग सिद्धांत (Principle of Least Aggregate Sacrifice) लोक वित्त के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण सिद्धांत है, जो यह निर्धारित करने का प्रयास करता है कि सरकार को विभिन्न आय समूहों पर करों का वितरण किस प्रकार करना चाहिए ताकि समाज को कुल मिलाकर न्यूनतम त्याग (या कष्ट) उठाना पड़े। इस सिद्धांत को **समान सीमांत त्याग का सिद्धांत** (Principle of Equal Marginal Sacrifice) भी कहा जाता है, क्योंकि यह अंततः इसी निष्कर्ष पर पहुंचता है।

यह सिद्धांत **उपयोगिता के ह्रासमान सीमांत नियम** (Law of Diminishing Marginal Utility) पर आधारित है। इस नियम के अनुसार, जैसे-जैसे किसी व्यक्ति की आय या धन बढ़ता है, उसकी मुद्रा की सीमांत उपयोगिता घटती जाती है। दूसरे शब्दों में, एक अमीर व्यक्ति के लिए एक रुपये का नुकसान उतना कष्टदायक नहीं होता जितना कि एक गरीब व्यक्ति के लिए।

सिद्धांत की व्याख्या: यह सिद्धांत मानता है कि जब सरकार विभिन्न व्यक्तियों से करों के रूप में धन एकत्र करती है, तो हर करदाता को कुछ न कुछ त्याग (या अनुपयोगिता) का अनुभव होता है। इस सिद्धांत का मुख्य उद्देश्य यह है कि सभी करदाताओं द्वारा किए गए **कुल त्याग** (Total Sacrifice) को **न्यूनतम** किया जाना चाहिए।

इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए, सिद्धांत यह तर्क देता है कि सरकार को करों का इस प्रकार वितरण करना चाहिए कि प्रत्येक करदाता द्वारा किए गए **सीमांत त्याग** (Marginal Sacrifice) बराबर हों। सीमांत त्याग से तात्पर्य कर की एक अतिरिक्त इकाई के भुगतान से होने वाले त्याग से है।

इसे एक उदाहरण से समझा जा सकता है:

मान लीजिए समाज में दो व्यक्ति हैं - A (अमीर) और B (गरीब)।

- यदि सरकार A से ₹100 का कर लेती है, तो उसके लिए यह उतना त्याग नहीं है क्योंकि उसके पास बहुत अधिक आय है, और ₹100 उसकी कुल उपयोगिता पर बहुत कम प्रभाव डालते हैं।
- वहीं, यदि सरकार B से ₹100 का कर लेती है, तो उसके लिए यह बहुत अधिक त्याग होगा क्योंकि उसकी आय कम है, और ₹100 का नुकसान उसकी बुनियादी जरूरतों को पूरा करने की क्षमता को गंभीर रूप से प्रभावित कर सकता है।

न्यूनतम त्याग सिद्धांत के अनुसार, सरकार को A से अधिक कर लेना चाहिए और B से कम, जब तक कि दोनों द्वारा किए गए अतिरिक्त (सीमांत) त्याग बराबर न हो जाएं। इसका अर्थ है कि अमीर व्यक्तियों से अधिक कर और गरीब व्यक्तियों से कम कर लिया जाना चाहिए। यह **प्रगतिशील कराधान प्रणाली** (Progressive Taxation System) का समर्थन करता है, जहाँ आय बढ़ने के साथ कर की दरें भी बढ़ती जाती हैं।

सिद्धांत के विभिन्न रूप:

न्यूनतम त्याग सिद्धांत को अक्सर तीन रूपों में देखा जाता है:

1. **न्यूनतम कुल त्याग (Least Aggregate Sacrifice):** यह सबसे सामान्य रूप है। इसका अर्थ है कि सभी करदाताओं द्वारा किया जाने वाला कुल त्याग न्यूनतम होना चाहिए। इसे प्राप्त करने के लिए, जैसा कि ऊपर बताया गया है, प्रत्येक करदाता का सीमांत त्याग समान होना चाहिए।
2. **समान निरपेक्ष त्याग (Equal Absolute Sacrifice):** इस दृष्टिकोण के अनुसार, प्रत्येक करदाता द्वारा किया गया त्याग एक ही निरपेक्ष राशि में समान होना चाहिए। यदि एक गरीब व्यक्ति ₹10 का त्याग करता है, तो एक अमीर व्यक्ति को भी ₹10 का त्याग करना चाहिए। हालांकि, मुद्रा की सीमांत उपयोगिता के ह्रासमान नियम के कारण, यह वास्तव में गरीबों पर अधिक बोझ डालेगा, क्योंकि ₹10 का त्याग गरीब के लिए अधिक कष्टदायक होगा। इसलिए, यह रूप आमतौर पर स्वीकार्य नहीं है और न्यूनतम कुल त्याग के सिद्धांत के विपरीत है।
3. **समान आनुपातिक त्याग (Equal Proportional Sacrifice):** इस दृष्टिकोण के अनुसार, प्रत्येक करदाता की आय के अनुपात में त्याग समान होना चाहिए। यदि एक गरीब व्यक्ति अपनी आय का 10% त्याग करता है, तो एक अमीर व्यक्ति को भी अपनी आय का 10% त्याग करना चाहिए। यह प्रगतिशील कराधान का समर्थन करता है, लेकिन उतनी तीव्रता से नहीं जितना न्यूनतम कुल त्याग का सिद्धांत करता है।

मिल का योगदान:

जे. एस. मिल (J.S. Mill) ने भी कराधान के सिद्धांतों पर महत्वपूर्ण विचार दिए। उन्होंने "क्षमता के सिद्धांत" (Ability to Pay Principle) का समर्थन किया, जो न्यूनतम त्याग सिद्धांत के साथ मेल खाता है। मिल का मानना था कि करों का भार लोगों पर उनकी भुगतान क्षमता के अनुसार वितरित किया जाना चाहिए, और यह भुगतान क्षमता उनकी आय या धन पर निर्भर करती है। उन्होंने यह भी तर्क दिया कि सरकार को व्यक्तियों की मूलभूत आवश्यकताओं पर कर नहीं लगाना चाहिए।

सिद्धांत का उद्देश्य और प्रभाव:

इस सिद्धांत का मुख्य उद्देश्य कराधान के माध्यम से समाज में **सामाजिक कल्याण को अधिकतम करना** है। जब करों का भार न्यूनतम त्याग के सिद्धांत के अनुसार वितरित किया जाता है, तो समाज को कुल मिलाकर कम कष्ट होता है, जिससे सामाजिक कल्याण बढ़ता है।

आलोचनाएं:

न्यूनतम त्याग सिद्धांत, हालांकि सैद्धांतिक रूप से आकर्षक है, व्यवहार में इसकी कई आलोचनाएं हैं:

1. **उपयोगिता की माप की असंभवता:** सबसे बड़ी आलोचना यह है कि उपयोगिता (या त्याग) एक व्यक्तिपरक अवधारणा है जिसे मात्रात्मक रूप से मापना असंभव है। हम यह नहीं जान सकते कि एक व्यक्ति के लिए ₹100 का त्याग कितना है और दूसरे व्यक्ति के लिए कितना। विभिन्न व्यक्तियों के बीच उपयोगिता की तुलना करना (इंटरपर्सनल कंपैरिजन ऑफ यूटिलिटी) एक आर्थिक समस्या है।
2. **मान्यताएं अव्यावहारिक:** यह सिद्धांत इस मान्यता पर आधारित है कि सरकार के पास प्रत्येक व्यक्ति की आय और उसकी मुद्रा की सीमांत उपयोगिता के बारे में पूरी जानकारी है, जो व्यवहार में संभव नहीं है।

3. **आर्थिक दक्षता पर प्रभाव:** अत्यधिक प्रगतिशील कराधान, जैसा कि यह सिद्धांत सुझाता है, काम करने, बचत करने और निवेश करने के प्रोत्साहन को कम कर सकता है। इससे समग्र आर्थिक उत्पादन और दक्षता पर नकारात्मक प्रभाव पड़ सकता है। यदि लोग जानते हैं कि उनकी अतिरिक्त आय पर बहुत अधिक कर लगेगा, तो वे कड़ी मेहनत करने या निवेश करने से हतोत्साहित हो सकते हैं।
4. **राज्य की भूमिका की नैतिक धारणा:** यह सिद्धांत एक मजबूत, हस्तक्षेप करने वाले राज्य की कल्पना करता है जो व्यक्तियों की आय का पुनर्वितरण करने में सक्षम है। यह कुछ राजनीतिक विचारधाराओं के साथ संघर्ष कर सकता है जो न्यूनतम राज्य हस्तक्षेप का समर्थन करती हैं।
5. **कराधान के अन्य उद्देश्य:** कराधान केवल राजस्व एकत्र करने या त्याग को न्यूनतम करने के लिए नहीं होता है। इसके अन्य उद्देश्य भी होते हैं, जैसे आर्थिक स्थिरता, संसाधनों का आवंटन, और आय असमानता को कम करना। यह सिद्धांत इन अन्य उद्देश्यों की उपेक्षा करता है।

इन आलोचनाओं के बावजूद, न्यूनतम त्याग सिद्धांत कराधान नीति के लिए एक महत्वपूर्ण वैचारिक आधार प्रदान करता है। यह इस विचार का समर्थन करता है कि करों का बोझ उन लोगों पर अधिक होना चाहिए जो इसे वहन करने में अधिक सक्षम हैं, और इस प्रकार यह प्रगतिशील कराधान का एक सैद्धांतिक औचित्य प्रदान करता है, जो आधुनिक कल्याणकारी राज्यों की कर प्रणालियों का एक अभिन्न अंग है।

प्रश्न न0 11— करापात एवं कराघात में अन्तर बताइए?

उत्तर— अर्थशास्त्र में, कराधान के संदर्भ में 'कराघात' (Impact of Tax) और 'करापात' (Incidence of Tax) दो महत्वपूर्ण अवधारणाएं हैं, जो किसी कर के वास्तविक भार को समझने में मदद करती हैं। इन दोनों में सूक्ष्म लेकिन महत्वपूर्ण अंतर होता है।

आइए, इन्हें विस्तार से समझते हैं:

1. कराघात (Impact of Tax)

कराघात का अर्थ है **कर का प्रारंभिक या तात्कालिक मौद्रिक भार** यह उस व्यक्ति या इकाई पर पड़ता है जिस पर सरकार कानूनी रूप से कर लगाने का दायित्व डालती है।

- **परिभाषा:** कराघात उस व्यक्ति पर होता है जो सरकार को सबसे पहले कर का भुगतान करता है। यह कर का पहला आघात होता है।
- **दायित्व:** यह व्यक्ति वह होता है जो कानूनी रूप से कर का भुगतान करने के लिए बाध्य होता है। उदाहरण के लिए, यदि सरकार किसी वस्तु के उत्पादक पर उत्पादन शुल्क (Excise Duty) लगाती है, तो इस कर का कराघात उत्पादक पर पड़ेगा, क्योंकि उसे ही सरकार को यह कर चुकाना है। इसी तरह, आयकर का कराघात उस व्यक्ति पर पड़ता है जिसकी आय पर यह कर लगाया जाता है।
- **प्रकृति:** कराघात केवल कर के कानूनी और प्रारंभिक भुगतान से संबंधित है। यह इस बात की गारंटी नहीं देता कि वही व्यक्ति अंततः कर का बोझ वहन करेगा।
- **उदाहरण:**
 - o **उत्पादन शुल्क:** सरकार किसी फैक्ट्री मालिक पर ₹10 प्रति इकाई उत्पादन शुल्क लगाती है। इस कर का कराघात फैक्ट्री मालिक पर है, क्योंकि उसे ही यह पैसा सरकार को चुकाना है।

- o **आयकर:** किसी वेतनभोगी व्यक्ति की आय पर आयकर लगता है। इस आयकर का कराघात उसी वेतनभोगी व्यक्ति पर पड़ता है, क्योंकि वह कानूनी रूप से इसे सीधे सरकार को भुगतान करता है।
- o **आयात शुल्क:** आयातकर्ता पर लगाए गए आयात शुल्क का कराघात आयातकर्ता पर होता है।

2. करापात (Incidence of Tax)

करापात का अर्थ है **कर का अंतिम या वास्तविक मौद्रिक बोझ** यह उस व्यक्ति या इकाई पर पड़ता है जो अंततः कर का भार वहन करता है और जिसे वह किसी अन्य व्यक्ति पर हस्तांतरित नहीं कर सकता। करापात "कर विवर्तन" (Tax Shifting) की प्रक्रिया का अंतिम परिणाम है।

- **परिभाषा:** करापात उस व्यक्ति पर पड़ता है जो अंततः कर के भार को सहन करता है और उसे आगे किसी और पर नहीं डाल सकता। यह कर का अंतिम आघात होता है।
- **वास्तविक बोझ:** यह वह बिंदु है जहां कर का वास्तविक आर्थिक बोझ आकर रुकता है। जिस व्यक्ति पर करापात होता है, उसकी क्रय शक्ति (purchasing power) में कमी आती है या उसे अपनी आय का एक हिस्सा गंवाना पड़ता है।
- **प्रकृति:** करापात कर विवर्तन की प्रक्रिया के बाद होता है। यदि कराघात वाला व्यक्ति कर को आगे बढ़ा पाता है (जैसे कीमतों में वृद्धि करके), तो करापात किसी और पर पड़ता है।
- **उदाहरण:**
 - o **उत्पादन शुल्क (उपरोक्त उदाहरण जारी):** फैक्ट्री मालिक पर ₹10 प्रति इकाई उत्पादन शुल्क लगा। अब यदि फैक्ट्री मालिक इस शुल्क को वस्तु की कीमत में जोड़कर उपभोक्ता को बेचता है, तो अंततः ₹10 का वास्तविक बोझ उपभोक्ता पर पड़ेगा। इस स्थिति में, कर का कराघात (फैक्ट्री मालिक) और करापात (उपभोक्ता) अलग-अलग व्यक्तियों पर है।
 - o **बिक्री कर/जीएसटी:** दुकानदार पर बिक्री कर या जीएसटी लगाया जाता है। कराघात दुकानदार पर है, क्योंकि उसे सरकार को भुगतान करना है। लेकिन दुकानदार इस कर को वस्तु की कीमत में जोड़कर उपभोक्ता से वसूलता है। अतः, करापात अंततः उपभोक्ता पर पड़ता है।
 - o **प्रत्यक्ष करों में:** आयकर जैसे प्रत्यक्ष करों में, कराघात और करापात आमतौर पर एक ही व्यक्ति पर होते हैं, क्योंकि करदाता आमतौर पर अपनी आय पर लगे आयकर के बोझ को किसी और पर नहीं डाल सकता।

करापात और कराघात के बीच मुख्य अंतर

अंतर का आधार	कराघात (Impact of Tax)	करापात (Incidence of Tax)
अर्थ	कर का प्रारंभिक/तात्कालिक मौद्रिक भार।	कर का अंतिम/वास्तविक मौद्रिक बोझ।
पहला बिंदु	उस व्यक्ति पर पड़ता है जो सरकार को सर्वप्रथम कर का भुगतान करता है।	उस व्यक्ति पर पड़ता है जो कर के भार को अंततः वहन करता है और उसे आगे नहीं टाल सकता।
प्रकृति	यह केवल कानूनी दायित्व का बिंदु है।	यह वास्तविक आर्थिक बोझ का बिंदु है।

विवर्तन	कर विवर्तन (Tax Shifting) की प्रक्रिया कराघात के बिंदु से शुरू होती है।	कर विवर्तन की प्रक्रिया करापात के बिंदु पर समाप्त होती है। (यदि कर विवर्तन संभव हो)
स्थायित्व	यह स्थायी नहीं होता, क्योंकि कर का भार आगे बढ़ाया जा सकता है।	यह स्थायी होता है, क्योंकि यह अंतिम बोझ है।
अध्ययन का महत्व	कराघात के अध्ययन से यह पता चलता है कि सरकार किससे कर एकत्र करती है, यह उतना महत्वपूर्ण नहीं है।	करापात के अध्ययन से यह पता चलता है कि वास्तविक बोझ किस पर पड़ा है, जो नीति-निर्माण के लिए अधिक महत्वपूर्ण है।
उदाहरण	उत्पादक पर उत्पादन शुल्क, आयातकर्ता पर आयात शुल्क, वेतनभोगी पर आयकर।	उपभोक्ता पर बिक्री कर/उत्पादन शुल्क, वेतनभोगी पर आयकर (यदि आगे न बढ़ाए)।
प्रत्यक्ष/अप्रत्यक्ष कर	प्रत्यक्ष करों में: कराघात और करापात आमतौर पर एक ही व्यक्ति पर होते हैं।	अप्रत्यक्ष करों में: कराघात और करापात अक्सर अलग-अलग व्यक्तियों पर होते हैं।

सारांश में:

कराघात वह व्यक्ति है जो कर का पहला झटका खाता है और सरकार को सीधे भुगतान करता है। करापात वह व्यक्ति है जो उस कर का अंतिम भुगतान करता है, यानी वह व्यक्ति जिसकी जेब से अंत में पैसा निकलता है और जिसे वह किसी और पर स्थानांतरित नहीं कर सकता। अप्रत्यक्ष करों (जैसे जीएसटी, उत्पादन शुल्क) में कराघात और करापात अलग-अलग होते हैं, जबकि प्रत्यक्ष करों (जैसे आयकर) में वे आमतौर पर एक ही व्यक्ति पर होते हैं। अर्थशास्त्र में, करापात का अध्ययन अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि यह समाज के विभिन्न वर्गों पर कर के वास्तविक प्रभाव को दर्शाता है।

प्रश्न न0 12— करापात एवं कराघात में अन्तर बताइए?

उत्तर— अर्थशास्त्र में **कर विवर्तन (Tax Shifting)** एक महत्वपूर्ण अवधारणा है जो यह बताती है कि सरकार द्वारा लगाए गए कर का वास्तविक आर्थिक बोझ (करापात) उस व्यक्ति या इकाई से अलग हो सकता है जिस पर कानूनी रूप से कर का प्रारंभिक भार (कराघात) डाला गया है।

संक्षेप में, **कर विवर्तन वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा एक व्यक्ति या इकाई जिस पर कानूनी रूप से कर लगाया गया है, उस कर के भार को आंशिक या पूर्ण रूप से किसी अन्य व्यक्ति या इकाई पर डाल देता है।** यह प्रक्रिया तब होती है जब करदाता अपने व्यवहार (जैसे कीमत, उत्पादन, मजदूरी) में बदलाव करके कर के बोझ को दूसरों पर स्थानांतरित करने का प्रयास करता है।

कर विवर्तन की आवश्यकता क्यों पड़ती है?

सरकारें विभिन्न उद्देश्यों के लिए कर लगाती हैं, जैसे राजस्व जुटाना, आय का पुनर्वितरण करना, या विशिष्ट व्यवहारों को हतोत्साहित करना। जब सरकार किसी वस्तु या सेवा पर कर लगाती है, तो वह किसी विशेष इकाई (जैसे उत्पादक या विक्रेता) को कानूनी रूप से कर का भुगतान करने के लिए बाध्य करती है। यह कर का **कराघात** है।

हालांकि, यह आवश्यक नहीं है कि जिस पर कराघात हुआ है, वही अंततः कर का बोझ भी वहन करे। यदि उस इकाई के पास बाजार में इतनी शक्ति है कि वह कर के बोझ को कीमतों में वृद्धि करके या

मजदूरी कम करके आगे बढ़ा सके, तो वह ऐसा करने का प्रयास करेगी। इस प्रक्रिया को ही **कर विवर्तन** कहा जाता है। अंततः, जिस व्यक्ति या इकाई पर कर का वास्तविक बोझ पड़ता है, उसे **करापात** कहा जाता है।

कर विवर्तन के प्रकार:

कर विवर्तन मुख्य रूप से तीन प्रकार का हो सकता है:

1. अग्र विवर्तन (Forward Shifting):

- o यह तब होता है जब कर का बोझ **आगे की ओर**, यानी उपभोक्ता की ओर, स्थानांतरित किया जाता है।
- o **कैसे होता है:** विक्रेता या उत्पादक जिस पर कर लगाया गया है, वह अपनी वस्तु या सेवा की कीमत में वृद्धि करके कर के बोझ को खरीदार (उपभोक्ता) पर डाल देता है।
- o **उदाहरण:**
 - **जीएसटी/बिक्री कर:** जब एक दुकानदार को जीएसटी या बिक्री कर का भुगतान करना पड़ता है, तो वह अक्सर उस राशि को उत्पाद की अंतिम कीमत में जोड़ देता है, जिससे उपभोक्ता को अधिक भुगतान करना पड़ता है।
 - **उत्पादन शुल्क:** यदि सरकार किसी पेय पदार्थ के निर्माता पर उत्पादन शुल्क लगाती है, तो निर्माता उस शुल्क को पेय पदार्थ की प्रति बोतल कीमत में जोड़ देगा, और अंततः उपभोक्ता को बड़ी हुई कीमत चुकानी पड़ेगी।

2. पश्च विवर्तन (Backward Shifting):

- o यह तब होता है जब कर का बोझ **पीछे की ओर**, यानी उत्पादन के कारकों (जैसे श्रम, पूंजी, कच्चा माल) के आपूर्तिकर्ताओं की ओर, स्थानांतरित किया जाता है।
- o **कैसे होता है:** जिस पर कर लगाया गया है, वह अपने इनपुट (कच्चा माल, श्रम) की कीमतों में कमी की मांग करके या उनके भुगतान में कटौती करके कर के बोझ को आपूर्तिकर्ताओं पर डाल देता है।

o उदाहरण:

- **निगम कर (Corporate Tax):** यदि किसी कंपनी पर निगम कर लगाया जाता है, तो कंपनी अपने लाभ को बनाए रखने के लिए श्रमिकों की मजदूरी कम कर सकती है, आपूर्तिकर्ताओं से सस्ते कच्चे माल की मांग कर सकती है, या शेयरधारकों को कम लाभांश दे सकती है। इस प्रकार, कर का बोझ श्रमिकों, आपूर्तिकर्ताओं या शेयरधारकों पर स्थानांतरित हो जाता है।
- **भवन कर (Property Tax) पर किराएदार:** यदि मकान मालिक पर संपत्ति कर बढ़ जाता है, तो वह किरायेदार से अधिक किराया वसूल कर कर के बोझ को किरायेदार पर विवर्तित कर सकता है (यह एक प्रकार का अग्र विवर्तन है)। लेकिन, यदि भवन मालिक को कर बढ़ाना पड़े और वह किराया न बढ़ा पाए, तो हो सकता है कि वह भवन के रखरखाव पर कम खर्च करे या श्रमिकों को कम भुगतान करे, जिससे बोझ श्रमिकों या सेवा प्रदाताओं पर विवर्तित हो।

3. पार्श्व विवर्तन (Lateral Shifting) या दोहरी विवर्तन (Double Shifting):

- o यह तब होता है जब कर का बोझ एक उद्योग से दूसरे उद्योग या एक उत्पाद से दूसरे उत्पाद पर स्थानांतरित होता है।
- o **कैसे होता है:** करदाता अपने उत्पादन या खपत के पैटर्न को बदलकर कर के बोझ को दूसरे बाजार में स्थानांतरित करता है।
- o **उदाहरण:** यदि सरकार किसी विशेष उद्योग पर भारी कर लगाती है, तो उस उद्योग के संसाधन (श्रम, पूंजी) कम कर वाले या बिना कर वाले उद्योगों में स्थानांतरित हो सकते हैं, जिससे पहले उद्योग में उत्पादन कम हो और कीमतें बढ़ें, जबकि दूसरे उद्योग में स्थितियां प्रभावित हों।

कर विवर्तन को प्रभावित करने वाले कारक:

कर विवर्तन की सीमा और दिशा कई कारकों पर निर्भर करती है:

1. **मांग की लोच (Elasticity of Demand):**
 - o **बेलोचदार मांग (Inelastic Demand):** यदि किसी वस्तु की मांग बेलोचदार है (यानी कीमत में बदलाव का मांग पर बहुत कम प्रभाव पड़ता है), तो विक्रेता कर के अधिकांश बोझ को उपभोक्ताओं पर अग्र विवर्तित करने में सक्षम होगा। आवश्यक वस्तुओं (जैसे दवाएं) पर अक्सर बेलोचदार मांग होती है।
 - o **लोचदार मांग (Elastic Demand):** यदि मांग लोचदार है, तो कीमत में थोड़ी भी वृद्धि मांग को काफी कम कर देगी। इस स्थिति में, विक्रेता कर के बोझ को उपभोक्ताओं पर पूरी तरह से विवर्तित नहीं कर पाएगा, और कर का अधिकांश बोझ विक्रेता या उत्पादक पर ही रहेगा।
2. **आपूर्ति की लोच (Elasticity of Supply):**
 - o **बेलोचदार आपूर्ति (Inelastic Supply):** यदि आपूर्ति बेलोचदार है (जैसे कृषि उत्पाद जिनकी आपूर्ति जल्दी नहीं बढ़ाई जा सकती), तो कर का अधिकांश बोझ उत्पादकों पर ही रहेगा।
 - o **लोचदार आपूर्ति (Elastic Supply):** यदि आपूर्ति लोचदार है, तो उत्पादक आसानी से उत्पादन कम करके कर के बोझ को उपभोक्ताओं पर अग्र विवर्तित कर सकते हैं।
3. **बाजार संरचना (Market Structure):**
 - o **पूर्ण प्रतियोगिता (Perfect Competition):** पूर्ण प्रतियोगिता वाले बाजार में, व्यक्तिगत फर्मों के पास कीमत तय करने की शक्ति कम होती है, इसलिए कर विवर्तन की क्षमता भी सीमित होती है।
 - o **एकाधिकार (Monopoly) / अल्पाधिकार (Oligopoly):** एकाधिकार या अल्पाधिकार वाले बाजारों में, फर्मों के पास अधिक बाजार शक्ति होती है और वे कर के बोझ को उपभोक्ताओं पर अधिक आसानी से अग्र विवर्तित कर सकते हैं।
4. **उत्पादन की लागत संरचना (Cost Structure of Production):** यदि कर कुल लागत का एक बड़ा हिस्सा है, तो विवर्तन अधिक महत्वपूर्ण हो जाता है।
5. **समय अवधि (Time Period):** अल्पकाल में, विवर्तन की क्षमता सीमित हो सकती है क्योंकि उत्पादन पैटर्न या कीमतें तुरंत समायोजित नहीं की जा सकतीं। दीर्घकाल में, उत्पादकों और उपभोक्ताओं दोनों के पास अपने व्यवहार को समायोजित करने के लिए अधिक समय होता है, जिससे कर विवर्तन अधिक पूर्ण हो सकता है।
6. **कर का प्रकार (Type of Tax):**

- o **प्रत्यक्ष कर (Direct Taxes):** आयकर जैसे प्रत्यक्ष करों का विवर्तन आम तौर पर कठिन होता है क्योंकि वे सीधे आय या धन पर लगाए जाते हैं और करदाता के पास इसे आगे बढ़ाने का कोई सीधा तंत्र नहीं होता। इसलिए, प्रत्यक्ष करों में कराघात और करापात अक्सर एक ही व्यक्ति पर होते हैं।
- o **अप्रत्यक्ष कर (Indirect Taxes):** बिक्री कर, जीएसटी, उत्पादन शुल्क जैसे अप्रत्यक्ष करों का विवर्तन अपेक्षाकृत आसान होता है क्योंकि वे वस्तुओं और सेवाओं पर लगाए जाते हैं, और विक्रेता उन्हें कीमतों में शामिल करके उपभोक्ताओं पर डाल सकते हैं।

निष्कर्ष:

कर विवर्तन सार्वजनिक वित्त का एक महत्वपूर्ण पहलू है क्योंकि यह दर्शाता है कि करों का वास्तविक बोझ किस पर पड़ता है, न कि केवल कानूनी रूप से किसे भुगतान करना है। नीति निर्माताओं के लिए यह समझना महत्वपूर्ण है कि कर विवर्तन कैसे काम करता है, ताकि वे कराधान के इच्छित सामाजिक और आर्थिक प्रभावों को प्राप्त कर सकें। यदि कर विवर्तन का सही अनुमान नहीं लगाया जाता है, तो एक कर का परिणाम अप्रत्याशित हो सकता है, जिससे आय असमानता बढ़ सकती है या आर्थिक अक्षमताएँ पैदा हो सकती हैं।

B.A.L.L.B.-4th Sem. Paper-III History (History of India 1707-1747)

प्रश्न नं० 1— नादिरशाह के आक्रमण का कारण एवं प्रभाव की विवेचना कीजिए?

उत्तर— नादिरशाह का भारत पर आक्रमण (1739 ई.) भारतीय इतिहास की एक महत्वपूर्ण और विनाशकारी घटना थी। इस आक्रमण के पीछे कई कारण थे और इसके भारत पर दूरगामी और गंभीर प्रभाव पड़े।

नादिरशाह के आक्रमण के कारण:

1. **नादिरशाह की महत्वाकांक्षा और विस्तारवादी नीति:** नादिरशाह एक अत्यंत महत्वाकांक्षी और युद्धप्रिय शासक था। उसने ईरान में अपनी स्थिति मजबूत करने के बाद अपने साम्राज्य का विस्तार करना चाहा। पश्चिम में संतुष्ट होने के बाद, उसने पूर्व की ओर ध्यान केंद्रित किया और भारत की असीम दौलत पर उसकी नजर थी।
2. **ईरान की आर्थिक स्थिति:** लगातार युद्धों के कारण ईरान की आर्थिक स्थिति खराब हो चुकी थी। नादिरशाह को अपनी सेना का पेट भरने और अपने अभियानों को जारी रखने के लिए धन की आवश्यकता थी। भारत की अपार धन-संपदा के बारे में सुनकर उसे यह लगा कि भारत से लूटा गया धन इस समस्या का हल हो सकता है।
3. **मुगल साम्राज्य की कमजोरी और पतन:** औरंगजेब की मृत्यु (1707 ई.) के बाद मुगल साम्राज्य पतन की ओर अग्रसर था। केंद्रीय सत्ता कमजोर हो गई थी, प्रांतों में स्वायत्तता बढ़ रही थी, और आंतरिक कलह, भ्रष्टाचार और प्रशासनिक अक्षमता चरम पर थी। मुगल शासक मुहम्मद शाह 'रंगीला' विलासिता में डूबा हुआ था और अपने nobles पर नियंत्रण रखने में असमर्थ था। सीमांत क्षेत्रों की सुरक्षा व्यवस्था भी पूरी तरह से ध्वस्त हो चुकी थी। नादिरशाह ने इस कमजोरी को भांप लिया और इसे अपने आक्रमण का सही अवसर समझा।
4. **अफगानों का पीछा और कंधार पर कब्जा:** नादिरशाह ने ईरान में अफगानों को खदेड़ दिया था। अफगानों की शक्ति को पूरी तरह से नष्ट करने के लिए उसने 1738 ई. में कंधार पर आक्रमण करके उसे अपने अधीन कर लिया। कई अफगान सरदार मुगल साम्राज्य में शरण ले रहे थे। नादिरशाह ने मुगल सम्राट से इन भगोड़े अफगानों को शरण न देने का अनुरोध किया था, लेकिन मुगल दरबार ने इस पर कोई ध्यान नहीं दिया।
5. **राजनयिक अपमान:** कुछ इतिहासकारों का मानना है कि मुगल बादशाह मुहम्मद शाह ने नादिरशाह के दूतों के साथ उचित व्यवहार नहीं किया और राजनयिक शिष्टाचार का पालन नहीं किया। नादिरशाह के एक दूत की जलालाबाद में मुगल सैनिकों द्वारा हत्या कर दी गई, जिसे नादिरशाह ने अपने आक्रमण का बहाना बनाया।
6. **भारतीय अमीरों का निमंत्रण:** कुछ भारतीय सरदारों, जैसे कि सआदत खां और निजाम-उल-मुल्क, ने आपसी कलह और व्यक्तिगत स्वार्थों के चलते नादिरशाह को भारत पर आक्रमण करने के लिए उकसाया। उन्होंने मुगल बादशाह से अपनी नाराजगी के चलते नादिरशाह को भारत की कमजोरियों के बारे में जानकारी दी।

नादिरशाह के आक्रमण के प्रभाव:

नादिरशाह के आक्रमण के भारत पर विनाशकारी और दूरगामी प्रभाव पड़े:

1. आर्थिक विनाश:

- **अपार धन की लूट:** नादिरशाह ने दिल्ली से अपार धन-संपदा लूटी। इसमें शाहजहाँ द्वारा बनवाया गया प्रसिद्ध 'तख्त-ए-ताऊस' (मयूर सिंहासन) और कोहिनूर हीरा भी शामिल था। अनुमान है कि उसने लगभग 70 करोड़ रुपये की संपत्ति (सोना, चांदी, हीरे, जवाहरात) लूटी।
- **शाही खजाने का खाली होना:** इस लूट से मुगल साम्राज्य का शाही खजाना पूरी तरह से खाली हो गया, जिससे साम्राज्य की वित्तीय व्यवस्था चरमरा गई।
- **जनता का उत्पीड़न:** दिल्ली और आसपास के क्षेत्रों में व्यापक लूटपाट और नरसंहार हुआ। जिन लोगों ने धन छिपाने की कोशिश की, उन्हें बेरहमी से प्रताड़ित किया गया। दिल्ली शहर कई दिनों तक विनाश का शिकार रहा, जिससे व्यापार और अर्थव्यवस्था को भारी नुकसान हुआ।

2. मुगल साम्राज्य का राजनीतिक पतन:

- **प्रतिष्ठा का नुकसान:** नादिरशाह के आक्रमण ने मुगल साम्राज्य की आंतरिक कमजोरी और अक्षमता को पूरी तरह से उजागर कर दिया। मुगल सेना, जो कभी अजेय मानी जाती थी, करनाल के युद्ध में नादिरशाह की छोटी लेकिन अनुशासित सेना के सामने आसानी से पराजित हो गई। इससे मुगल साम्राज्य की रही-सही प्रतिष्ठा भी समाप्त हो गई।
- **क्षेत्रीय शक्तियों का उदय:** आक्रमण ने मराठों, ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी और अन्य क्षेत्रीय शक्तियों को मुगल साम्राज्य की कमजोरी का एहसास कराया। इससे इन शक्तियों को अपने प्रभाव क्षेत्र का विस्तार करने का अवसर मिला और मुगल साम्राज्य का विघटन तेज हो गया।

○ **पश्चिमी सीमा का कमजोर होना:** सिंधु नदी के पश्चिम के सभी मुगल क्षेत्र नादिरशाह को सौंप दिए गए। इससे भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा पूरी तरह से असुरक्षित हो गई , जिसने बाद में अहमद शाह अब्दाली जैसे आक्रमणकारियों के लिए मार्ग प्रशस्त किया।

3. सामाजिक और मानवीय क्षति:

- **नरसंहार और भय का माहौल:** दिल्ली में हुए नरसंहार में हजारों लोग मारे गए (अनुमानित 20,000 से 30,000)। इस क्रूरता ने पूरे भारत में भय और अस्थिरता का माहौल पैदा किया।
- **सामाजिक विघटन:** बड़े पैमाने पर लूटपाट और विनाश ने सामाजिक व्यवस्था को बाधित किया और लोगों में असुरक्षा की भावना को बढ़ाया।
- **धार्मिक ध्रुवीकरण:** कुछ हद तक, नादिरशाह की क्रूरता और नरसंहार ने भारत में धार्मिक समुदायों के बीच तनाव को भी बढ़ावा दिया।

4. दीर्घकालिक प्रभाव:

- **मुगल साम्राज्य के अंत की शुरुआत:** नादिरशाह का आक्रमण मुगल साम्राज्य के ताबूत में आखिरी कील साबित हुआ। इसके बाद यह साम्राज्य कभी भी अपनी पुरानी शक्ति और गौरव को पुनः प्राप्त नहीं कर सका।
- **उत्तराधिकारी आक्रमणों का मार्ग:** नादिरशाह के सफल आक्रमण ने बाद में अहमद शाह अब्दाली जैसे आक्रमणकारियों को भारत पर बार-बार आक्रमण करने के लिए प्रेरित किया , जिससे भारत की राजनीतिक अस्थिरता और बढ़ गई।
- **औपनिवेशिक शक्तियों का उदय:** मुगल साम्राज्य के पतन और भारत की राजनीतिक शून्यता ने यूरोपीय व्यापारिक कंपनियों, विशेषकर ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी को अपनी राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं को पूरा करने और भारत पर नियंत्रण स्थापित करने का सुनहरा अवसर प्रदान किया।

सारांश में, नादिरशाह का आक्रमण केवल एक सैन्य विजय नहीं था, बल्कि यह मुगल साम्राज्य के पतन की प्रक्रिया में एक महत्वपूर्ण मोड़ था। इसने भारत की आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक संरचनाओं पर गहरा और स्थायी नकारात्मक प्रभाव डाला, जिससे भारत में औपनिवेशिक शासन की नींव रखी गई।

प्रश्न न० 2— पानीपत के तृतीय युद्ध की व्याख्या कीजिए?

उत्तर— पानीपत का तृतीय युद्ध भारतीय इतिहास की एक अत्यंत महत्वपूर्ण और निर्णायक घटना थी। यह युद्ध 14 जनवरी, 1761 ई. को दिल्ली से लगभग 95 किलोमीटर उत्तर में स्थित पानीपत के मैदान में लड़ा गया था। यह युद्ध मराठा साम्राज्य और अफगानिस्तान के शासक अहमद शाह अब्दाली (दुर्रानी) के बीच हुआ था। इस युद्ध ने भारतीय उपमहाद्वीप के राजनीतिक परिदृश्य को हमेशा के लिए बदल दिया।

पानीपत के तृतीय युद्ध के कारण:

1. **मराठों का बढ़ता प्रभाव और विस्तारवादी नीति:**
 - 18वीं शताब्दी के मध्य तक मराठा शक्ति अपने चरमोत्कर्ष पर थी। उन्होंने मुगलों की कमजोरियों का लाभ उठाते हुए लगभग पूरे उत्तर भारत पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था। उनकी शक्ति दक्षिण से उत्तर तक फैली हुई थी और उन्होंने दिल्ली, आगरा, मालवा, गुजरात, बुंदेलखंड, पंजाब और राजपूताना के बड़े हिस्सों पर नियंत्रण स्थापित कर लिया था।
 - मराठों ने मुगलों से चौथ (राजस्व का एक-चौथाई) और सरदेशमुखी (राजस्व का दसवां हिस्सा) वसूलना शुरू कर दिया था, जिससे मुगल दरबार और अन्य क्षेत्रीय शक्तियां उनसे नाराज थीं।
 - उनके विस्तार ने पड़ोसी राज्यों और शासकों , विशेषकर अफगान शासक अहमद शाह अब्दाली के हितों से टकराव पैदा किया।
2. **अहमद शाह अब्दाली की महत्वाकांक्षा और भारत पर नियंत्रण की इच्छा:**
 - अहमद शाह अब्दाली, नादिरशाह के उत्तराधिकारी के रूप में, एक शक्तिशाली अफगान साम्राज्य का निर्माण कर रहा था। वह भारत की अपार धन-संपदा से आकर्षित था और पंजाब को अपने साम्राज्य का हिस्सा बनाना चाहता था।
 - अब्दाली ने 1748 और 1757 के बीच भारत पर कई बार आक्रमण किए थे और पंजाब पर अपना दावा स्थापित किया था।
3. **पंजाब पर नियंत्रण का विवाद:**
 - पानीपत युद्ध का तात्कालिक कारण पंजाब पर नियंत्रण का संघर्ष था। 1758 ई. में, मराठों ने रघुनाथराव के नेतृत्व में पंजाब पर आक्रमण कर दिया और अब्दाली के गवर्नर तैमूर शाह दुर्रानी को निष्कासित कर दिया। उन्होंने

लाहौर पर कब्जा कर लिया और अटॉक तक अपने प्रभाव का विस्तार किया , जिससे मराठा पताका सिंधु नदी तक पहुँच गई।

- 0 अब्दाली इसे अपनी प्रतिष्ठा और साम्राज्य के लिए चुनौती मानता था। वह अपनी खोई हुई प्रतिष्ठा और पंजाब पर नियंत्रण वापस पाने के लिए दृढ़ संकल्प था।

4. राजपूतों, जाटों और रूहेलाओं की मराठों से नाराजगी:

- 0 मराठों ने अपनी विस्तारवादी नीति के तहत कई राजपूत राज्यों, जाटों और रूहेलाओं पर भारी चौथ और अन्य कर लगाए थे। इससे इन शक्तियों में मराठों के प्रति गहरी नाराजगी थी।
- 0 रूहेला सरदार नजीब-उद-दौला (नजीब खान) मराठों का कट्टर विरोधी था और उसने अब्दाली को भारत पर आक्रमण करने के लिए आमंत्रित किया था। उसने अब्दाली के लिए गुप्त रूप से समर्थन जुटाया।
- 0 अवध के नवाब शुजा-उद-दौला भी शुरू में तटस्थ थे , लेकिन नजीब-उद-दौला और अब्दाली के आग्रह पर अंततः उन्होंने अब्दाली का साथ दिया।

5. मुगल साम्राज्य की कमजोरी:

- 0 मुगल साम्राज्य नाममात्र का था और दिल्ली पर जिसका नियंत्रण था, वह वास्तव में कमजोर था। मराठों ने दिल्ली पर कब्जा कर लिया था और मुगलों को अपने कठपुतली के रूप में इस्तेमाल कर रहे थे।
- 0 मुगल सम्राट शाह आलम द्वितीय भी मराठों की शक्ति से असंतुष्ट था और उसने अब्दाली को मराठों के खिलाफ सहायता के लिए आमंत्रित किया था।

युद्ध की घटनाएँ और प्रमुख व्यक्ति:

अब्दाली ने 1759 ई. के अंत में भारत पर आक्रमण किया और अपनी सेना के साथ पंजाब में प्रवेश किया। मराठा सेना , सदाशिवराव भाऊ (पेशवा बालाजी बाजीराव के चचेरे भाई) के नेतृत्व में , दिल्ली की ओर बढ़ी। युद्ध में निम्नलिखित प्रमुख व्यक्ति शामिल थे:

• मराठा पक्ष:

- 0 सदाशिवराव भाऊ: मराठा सेना के मुख्य सेनापति।
- 0 विश्वासराव: पेशवा बालाजी बाजीराव के पुत्र और नाममात्र के सेनापति।
- 0 मल्हारराव होलकर, जानकोजी शिंदे, इब्राहिम खान गार्दी: अन्य प्रमुख मराठा सरदार। इब्राहिम खान गार्दी मराठा सेना में तोपखाने के प्रमुख थे, जिन्होंने फ्रांसीसी पद्धति से मराठा तोपखाने को प्रशिक्षित किया था।

• अफगान पक्ष:

- 0 अहमद शाह अब्दाली: अफगान सेना का सर्वोच्च सेनापति।
- 0 नजीब-उद-दौला: रूहेला सरदार, अब्दाली का प्रमुख समर्थक और सलाहकार।
- 0 शुजा-उद-दौला: अवध का नवाब, अब्दाली का सहयोगी।
- 0 हाफिज रहमत खान: एक और रूहेला सरदार।

युद्ध की घटनाएँ:

- प्रारंभिक झड़पें: अब्दाली ने यमुना नदी पार की और मराठा सेना के साथ पानीपत के पास डेरा डाला। दोनों सेनाओं के बीच कई छोटी-छोटी झड़पें हुईं।
- मराठा सेना की रणनीति और कमजोरियाँ:
 - 0 मराठा सेना में लगभग 45,000-60,000 सैनिक, 20,000 पिण्डारी (अनियमित सैनिक) और बड़ी संख्या में गैर-लड़ाके (तीर्थयात्री, परिवार के सदस्य) थे, जिनकी संख्या लगभग 1 लाख से अधिक थी।
 - 0 मराठों ने युद्ध की मुगल शैली अपनाई थी, जिसमें भारी तोपखाने पर बहुत अधिक निर्भरता थी, लेकिन वे गुरिल्ला युद्ध (जो उनकी पारंपरिक शैली थी) की अपनी ताकत भूल गए थे।
 - 0 उनके पास पर्याप्त रसद नहीं थी, और अब्दाली ने उनके आपूर्ति मार्गों को काट दिया था, जिससे मराठा शिविर में भुखमरी फैल गई।
 - 0 मराठा शिविर में आंतरिक मतभेद भी थे। कुछ सरदार, जैसे मल्हारराव होलकर, भाऊ की रणनीति से असहमत थे।
- अब्दाली की बेहतर रणनीति:
 - 0 अब्दाली की सेना लगभग 75,000-80,000 सैनिकों की थी, जिसमें बेहतर प्रशिक्षित घुड़सवार सेना और तोपखाने शामिल थे।
 - 0 उसने मराठा सेना के आपूर्ति मार्गों को काट दिया और उन्हें भूखा मरने पर मजबूर किया।
 - 0 उसने मराठा सेना को घेरने के लिए चालाक रणनीति अपनाई।

- अब्दाली के पास कुशल युद्ध प्रबंधक और सलाहकार थे, जिनमें नजीब-उद-दौला प्रमुख था।
- **युद्ध का दिन (14 जनवरी, 1761):**
 - भूखमरी और बीमारी से त्रस्त मराठा सेना ने 14 जनवरी, 1761 को अब्दाली पर हमला करने का फैसला किया।
 - शुरुआत में मराठा सेना ने कुछ सफलता प्राप्त की। इब्राहिम खान गार्दी के तोपखाने ने अफगान सेना को काफी नुकसान पहुंचाया।
 - मराठों ने अफगान सेना के केंद्र को लगभग तोड़ दिया था, लेकिन निर्णायक क्षण में, जब जीत मराठों के करीब लग रही थी, तो विश्वासराव को एक गोली लगी और वे मारे गए।
 - विश्वासराव की मृत्यु की अफवाहें फैलते ही मराठा सेना में हड़कंप मच गया और वे तितर-बितर होने लगे।
 - सदाशिवराव भाऊ ने वीरता से लड़ाई लड़ी, लेकिन वे भी युद्ध में मारे गए।
 - अब्दाली ने इस स्थिति का फायदा उठाया और अपनी आरक्षित सेना को आगे बढ़ाया, जिससे मराठा सेना पूरी तरह से ध्वस्त हो गई।
 - युद्ध नरसंहार में बदल गया और हजारों मराठा सैनिक और गैर-लड़ाके मारे गए। अनुमान है कि 50,000 से 70,000 मराठा मारे गए।

पानीपत के तृतीय युद्ध के प्रभाव:

पानीपत के तृतीय युद्ध के भारतीय इतिहास पर दूरगामी और विनाशकारी प्रभाव पड़े:

1. **मराठा शक्ति का पतन:**
 - यह मराठा साम्राज्य के लिए एक जबरदस्त झटका था। इस युद्ध में मराठों की 'स्वर्ण पीढ़ी' का अंत हो गया, जिसमें पेशवा के पुत्र विश्वासराव, सदाशिवराव भाऊ और कई अन्य प्रमुख सरदार मारे गए।
 - मराठा शक्ति का यह झटका ऐसा था कि वे फिर कभी अपनी पूर्व प्रतिष्ठा और वर्चस्व को पूरी तरह से हासिल नहीं कर पाए।
 - पेशवा बालाजी बाजीराव इस सदमे को सहन नहीं कर सके और युद्ध के कुछ महीनों बाद ही उनकी मृत्यु हो गई।
 - इस हार ने मराठा परिसंघ को कमजोर कर दिया और आंतरिक कलह को बढ़ावा दिया, जिससे होलकर, शिंदे, गायकवाड़ और भोंसले जैसे मराठा सरदारों की स्वायत्तता बढ़ गई।
2. **अफगान प्रभुत्व का अंत:**
 - हालांकि अब्दाली ने युद्ध जीता, लेकिन उसे भी भारी नुकसान उठाना पड़ा। उसकी सेना कमजोर पड़ गई थी और वह भारत में लंबे समय तक रुकना नहीं चाहता था।
 - अब्दाली वापस अफगानिस्तान लौट गया और फिर कभी भारत में स्थायी रूप से शासन स्थापित नहीं कर सका। इससे यह साबित हो गया कि भारत पर शासन करने के लिए अफगानों में पर्याप्त शक्ति नहीं थी।
3. **ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी का उदय:**
 - यह युद्ध भारतीय इतिहास में एक महत्वपूर्ण मोड़ साबित हुआ, जिसने भारत में ब्रिटिश शासन के विस्तार के लिए रास्ता साफ कर दिया।
 - मराठा शक्ति के कमजोर होने से भारत में कोई ऐसी प्रमुख शक्ति नहीं बची, जो अंग्रेजों को चुनौती दे सके।
 - 1757 में प्लासी के युद्ध के बाद बंगाल में ब्रिटिश प्रभाव स्थापित हो चुका था। पानीपत के बाद, उन्हें उत्तर भारत में विस्तार करने का खुला मैदान मिल गया।
 - ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी ने इस शक्ति शून्य का लाभ उठाया और अगले कुछ दशकों में भारत में अपनी पकड़ मजबूत कर ली, अंततः भारतीय उपमहाद्वीप पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया।
4. **मुगल साम्राज्य की नाममात्र की सत्ता का पूर्ण अंत:**
 - मुगल साम्राज्य तो पहले से ही कमजोर था, लेकिन इस युद्ध ने उसकी रही-सही प्रतिष्ठा को भी समाप्त कर दिया। मुगल बादशाह केवल नाममात्र का शासक बन गया।
5. **क्षेत्रीय शक्तियों का अस्थायी लाभ:**
 - रुहेलाओं और अवध के नवाब जैसे क्षेत्रीय शासकों ने इस युद्ध में अब्दाली का समर्थन करके अस्थायी लाभ प्राप्त किया, लेकिन यह अल्पकालिक था क्योंकि बाद में वे भी अंग्रेजों के प्रभाव में आ गए।
6. **आर्थिक और मानवीय क्षति:**
 - युद्ध में बड़े पैमाने पर जान-माल का नुकसान हुआ। हजारों सैनिक और गैर-लड़ाके मारे गए।
 - युद्ध के कारण दिल्ली और आसपास के क्षेत्रों में आर्थिक अस्थिरता बढ़ी।

संक्षेप में, पानीपत का तृतीय युद्ध भारतीय इतिहास की एक त्रासदी थी , जिसने मराठा साम्राज्य के विस्तार को रोक दिया और ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी के भारत में प्रमुख शक्ति के रूप में उभरने का मार्ग प्रशस्त किया। यह युद्ध भारत के भविष्य की दिशा निर्धारित करने में निर्णायक सिद्ध हुआ।

प्रश्न न0 3— वारेनहेस्टिंग के शासन के सुधारों की विवेचना कीजिए?

उत्तर— वॉरेन हेस्टिंग्स (1772-1785 ई.) को भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का वास्तविक संस्थापक माना जाता है। रॉबर्ट क्लाइव ने भले ही नींव रखी थी , लेकिन हेस्टिंग्स ने उस नींव पर एक सुव्यवस्थित प्रशासन का निर्माण किया। उन्होंने बंगाल में द्वैध शासन प्रणाली (Dual System) को समाप्त किया, जिसे क्लाइव ने शुरू किया था और जो अत्यधिक भ्रष्टाचार और प्रशासनिक अव्यवस्था का कारण बन गई थी। हेस्टिंग्स का शासनकाल कई प्रशासनिक, न्यायिक, राजस्व और व्यापारिक सुधारों के लिए जाना जाता है, हालांकि उन पर भ्रष्टाचार के आरोप भी लगे और बाद में उन पर महाभियोग भी चलाया गया।

वॉरेन हेस्टिंग्स के प्रमुख सुधार:

1. प्रशासनिक सुधार:

- **द्वैध शासन की समाप्ति (1772 ई.):** हेस्टिंग्स ने बंगाल में द्वैध शासन प्रणाली को समाप्त कर दिया। इस प्रणाली के तहत, कंपनी के पास राजस्व संग्रह का अधिकार था , जबकि प्रशासन की जिम्मेदारी नवाब के पास थी। इससे कंपनी को वित्तीय लाभ होता था , लेकिन प्रशासन की जिम्मेदारी न होने के कारण जनता का शोषण होता था। हेस्टिंग्स ने नवाब के पद को समाप्त कर दिया और बंगाल का सीधा प्रशासन कंपनी के अधीन ले लिया।
- **शाही खजाने का हस्तांतरण:** उन्होंने मुर्शिदाबाद से शाही खजाने को कलकत्ता स्थानांतरित कर दिया , जिससे कलकत्ता ब्रिटिश भारत की राजधानी बन गई।
- **नवाब की पेंशन में कमी:** उन्होंने नवाब मुबारकुद्दौला की पेंशन 32 लाख रुपये वार्षिक से घटाकर 16 लाख रुपये वार्षिक कर दी, जिससे कंपनी के वित्तीय बोझ में कमी आई।
- **अल्पसंख्यक नवाब का संरक्षक:** उन्होंने मीरजाफर की विधवा मुन्नी बेगम को अल्पवयस्क नवाब मुबारकुद्दौला का संरक्षक नियुक्त किया।
- **कलेक्टर का पद:** प्रत्येक जिले में एक कलेक्टर की नियुक्ति की गई , जो राजस्व संग्रह के साथ-साथ न्यायिक और प्रशासनिक कार्यों की भी देखरेख करता था। बाद में , कलेक्टरों से न्यायिक कार्य ले लिए गए , लेकिन वे राजस्व प्रशासन के केंद्र बने रहे।

2. न्यायिक सुधार:

- **न्याय प्रणाली का पुनर्गठन (1772 ई.):** हेस्टिंग्स ने एक नई न्याय प्रणाली की स्थापना की , जो मुगल प्रणाली पर आधारित थी, लेकिन इसमें कुछ महत्वपूर्ण बदलाव किए गए।
 - **प्रत्येक जिले में अदालतें:** प्रत्येक जिले में दो प्रकार की अदालतें स्थापित की गईं:
 - **दीवानी अदालत (सिविल कोर्ट):** इसकी अध्यक्षता कलेक्टर करता था। यहां दीवानी (सिविल) मामलों और 500 रुपये तक की राशि वाले मामलों का निपटारा किया जाता था। हिन्दुओं के लिए हिन्दू कानूनों और मुसलमानों के लिए मुस्लिम कानूनों का पालन किया जाता था।
 - **फौजदारी अदालत (आपराधिक कोर्ट):** इसकी अध्यक्षता भारतीय अधिकारी (काजी और मुफ्ती) करते थे , लेकिन यूरोपीय कलेक्टर की निगरानी में। यहां आपराधिक मामलों का निपटारा किया जाता था और इस्लामी कानून का पालन किया जाता था।
 - **अपीलीय अदालतें (कलकत्ता में):** कलकत्ता में दो अपीलीय अदालतें स्थापित की गईं:
 - **सदर दीवानी अदालत (सर्वोच्च दीवानी अदालत):** यह दीवानी मामलों की अपील सुनती थी।
 - **सदर निजामत अदालत (सर्वोच्च फौजदारी अदालत):** यह फौजदारी मामलों की अपील सुनती थी।
 - **कानूनों का संहिताबद्धकरण:** हेस्टिंग्स ने हिंदू और मुस्लिम कानूनों को संहिताबद्ध करने का प्रयास किया। 1775 में 'अ कोड ऑफ जेंटू लॉज ' (A Code of Gentoo Laws) शीर्षक से हिंदू कानूनों का संकलन किया गया , जिसका अंग्रेजी में अनुवाद हॉलबेड ने किया।
- **रेग्युलेंटिंग एक्ट 1773 के तहत सर्वोच्च न्यायालय:** 1773 के रेग्युलेंटिंग एक्ट के तहत कलकत्ता में एक सर्वोच्च न्यायालय (Supreme Court) की स्थापना की गई। इसने एक स्वतंत्र न्यायपालिका की नींव रखी , हालांकि इसके अधिकार क्षेत्र को लेकर अक्सर सर्वोच्च न्यायालय और गवर्नर-जनरल की परिषद के बीच विवाद होता रहता था।

3. राजस्व सुधार:

- **पंचवर्षीय बंदोबस्त (1772 ई.):** राजस्व संग्रह को व्यवस्थित करने के लिए हेस्टिंग्स ने भू-राजस्व की 'पंचवर्षीय बंदोबस्त' (Five-Year Settlement) प्रणाली शुरू की। इसके तहत , भूमि को 5 वर्षों के लिए सबसे ऊंची बोली लगाने

वाले को पट्टे पर दिया जाता था। इसका उद्देश्य कंपनी के लिए एक स्थिर और अनुमानित राजस्व स्रोत सुनिश्चित करना था। हालांकि, यह प्रणाली अक्सर विफल रही क्योंकि ठेकेदार उच्च बोलियां लगाते थे और फिर किसानों का शोषण करते थे।

- **राजस्व बोर्ड:** राजस्व प्रशासन को बेहतर बनाने के लिए कलकत्ता में एक राजस्व बोर्ड (Board of Revenue) की स्थापना की गई।
- **भू-राजस्व अधिकारियों का परिवर्तन:** पहले, राजस्व संग्रह का काम जमींदारों के पास था। हेस्टिंग्स ने इसे हटाकर कलेक्टरों के अधीन कर दिया, जिससे कंपनी का नियंत्रण सीधे राजस्व पर हो गया।

4. व्यापारिक सुधार:

- **दस्तकों का उन्मूलन:** हेस्टिंग्स ने 'दस्तकों' (ब्रिटिश कंपनी के अधिकारियों को दी गई निःशुल्क व्यापार की अनुमति) के दुरुपयोग को समाप्त किया। इन दस्तकों का कंपनी के कर्मचारी अपने निजी व्यापार के लिए इस्तेमाल करते थे, जिससे भारतीय व्यापारियों को भारी नुकसान होता था और कंपनी को राजस्व का नुकसान होता था। हेस्टिंग्स ने इस प्रथा को समाप्त करके व्यापार में समानता लाने का प्रयास किया।
- **कस्टम हाउसों का पुनर्गठन:** उन्होंने कई चुंगी चौकियों (Custom Houses) को समाप्त कर दिया और केवल पांच मुख्य कस्टम हाउस (कलकत्ता, हुगली, मुर्शिदाबाद, ढाका और पटना) रखे।
- **एकसमान शुल्क:** उन्होंने सभी व्यापारियों (भारतीय और यूरोपीय) के लिए व्यापारिक शुल्क को घटाकर 2.5% कर दिया, जिससे व्यापारिक गतिविधियां सुचारू हो सकें।
- **दस्तनी प्रथा का अंत:** उन्होंने दस्तनी प्रथा (कच्चे माल के लिए अग्रिम भुगतान) का भी अंत किया, जो बुनकरों और कारीगरों के शोषण का एक स्रोत थी।

5. अन्य सुधार:

- **भारतीय संस्कृति और शिक्षा को प्रोत्साहन:** हेस्टिंग्स भारतीय भाषाओं और संस्कृति के प्रति उत्सुक थे। उन्होंने अरबी और फारसी सीखने के लिए मदरसा (1781 ई.) की स्थापना की। उन्होंने एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल (1784 ई.) की स्थापना में सर विलियम जोन्स का भी समर्थन किया, जिसने भारतीय इतिहास, संस्कृति और कानूनों के अध्ययन को बढ़ावा दिया।
- **पुलिस सुधार:** उन्होंने पुलिस व्यवस्था को भी सुधारने का प्रयास किया, जिससे अपराधों को नियंत्रित किया जा सके।

वॉरेन हेस्टिंग्स के सुधारों का मूल्यांकन:

वॉरेन हेस्टिंग्स के सुधारों ने कंपनी को एक व्यापारिक संस्था से एक प्रभावी प्रशासनिक शक्ति में बदल दिया। उन्होंने भारत में ब्रिटिश शासन के लिए एक सुदृढ़ प्रशासनिक और न्यायिक ढांचा तैयार किया। उनके सुधारों ने कंपनी की वित्तीय स्थिति को मजबूत किया और प्रशासन को अधिक केंद्रीकृत बनाया।

हालांकि, उनके सुधारों में कुछ खामियां भी थीं:

- **पंचवर्षीय बंदोबस्त की विफलता:** पंचवर्षीय बंदोबस्त किसानों के लिए शोषणकारी साबित हुई, क्योंकि ठेकेदार अधिकतम राजस्व वसूलने का प्रयास करते थे, जिससे ग्रामीण गरीबी बढ़ी।
- **भ्रष्टाचार के आरोप:** हेस्टिंग्स पर स्वयं भ्रष्टाचार के कई आरोप लगे, जिनमें नंद कुमार का मामला, चेत सिंह से जबर्न धन वसूली और अवध की बेगमों का मामला शामिल है। इन आरोपों के कारण उन्हें ब्रिटिश संसद में महाभियोग का सामना करना पड़ा, हालांकि अंततः उन्हें बरी कर दिया गया।
- **भारतीयों का प्रतिनिधित्व कम:** उनके सुधारों ने भारतीयों को प्रशासन में उच्च पदों से दूर रखा, जिससे भारतीयों की प्रशासन में भागीदारी कम रही।

निष्कर्ष रूप में, वॉरेन हेस्टिंग्स के सुधारों ने भारत में ब्रिटिश प्रशासन को व्यवस्थित किया और उसे एक शक्तिशाली राजनीतिक इकाई में बदल दिया। इन सुधारों ने ब्रिटिश साम्राज्य की नींव को मजबूत किया और भविष्य के ब्रिटिश गवर्नरों के लिए एक मार्ग प्रशस्त किया, हालांकि इन सुधारों के कारण भारतीय समाज और अर्थव्यवस्था पर कुछ नकारात्मक प्रभाव भी पड़े।

प्रश्न न0 4— लार्ड कार्नवालिस के सुधारों की विवेचना कीजिए?

उत्तर— लॉर्ड कॉर्नवालिस (1786-1793 ई.) को भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का एक और महत्वपूर्ण निर्माता माना जाता है, खासकर प्रशासनिक और न्यायिक सुधारों के लिए। उन्हें 'भारत में सिविल सेवा का जनक' (Father of Civil Service in India) कहा जाता है। उन्होंने वॉरेन हेस्टिंग्स द्वारा शुरू किए गए सुधारों को आगे बढ़ाया और उन्हें एक स्थायी और सुव्यवस्थित रूप दिया। उनका उद्देश्य कंपनी के प्रशासन को भ्रष्टाचार मुक्त बनाना, दक्षता लाना और भारतीय प्रशासन को यूरोपीय तर्ज पर पुनर्गठित करना था।

लॉर्ड कॉर्नवालिस के प्रमुख सुधार:

1. प्रशासनिक सुधार (सिविल सेवा का पुनर्गठन):

- **सेवा संहिता (Service Code) का निर्माण:** कॉर्नवालिस ने कंपनी के कर्मचारियों के लिए एक आचार संहिता बनाई , जिससे भ्रष्टाचार को नियंत्रित किया जा सके।
- **उच्च पदों का यूरोपीकरण:** उन्होंने कंपनी के प्रशासन में सभी उच्च पदों (जैसे कलेक्टर , न्यायाधीश, वरिष्ठ सैन्य अधिकारी) को केवल अंग्रेजों के लिए आरक्षित कर दिया। उनका मानना था कि भारतीय भ्रष्ट होते हैं और उन पर भरोसा नहीं किया जा सकता, जबकि अंग्रेज ईमानदार और कुशल होते हैं। इस नीति ने भारतीयों को प्रशासन में उच्च पदों से वंचित कर दिया।
- **कर्मचारियों के वेतन में वृद्धि:** भ्रष्टाचार को रोकने के लिए, कॉर्नवालिस ने कंपनी के कर्मचारियों के वेतन में भारी वृद्धि की। उनका मानना था कि कम वेतन भ्रष्टाचार का एक प्रमुख कारण है। वेतन वृद्धि ने कंपनी के कर्मचारियों को अपने निजी व्यापार पर ध्यान केंद्रित करने के बजाय अपने आधिकारिक कर्तव्यों पर ध्यान केंद्रित करने के लिए प्रेरित किया।
- **निजी व्यापार पर प्रतिबंध:** उन्होंने कंपनी के कर्मचारियों के निजी व्यापार पर सख्त प्रतिबंध लगा दिया, जिससे कंपनी के हितों और राजस्व को नुकसान होता था।
- **योग्यता पर जोर:** उन्होंने नियुक्तियों में योग्यता को महत्व दिया, हालांकि यूरोपीय होने की शर्त के साथ।

2. न्यायिक सुधार:

कॉर्नवालिस ने भारत में न्याय प्रणाली को पूरी तरह से पुनर्गठित किया, जिसे 'कॉर्नवालिस कोड' (Cornwallis Code) के नाम से जाना जाता है (1793 ई.)। उन्होंने कार्यपालिका (प्रशासन) और न्यायपालिका को अलग करने का महत्वपूर्ण कदम उठाया।

- **शक्तियों का पृथक्करण:** उन्होंने कलेक्टरों से न्यायिक शक्तियाँ ले लीं और उन्हें केवल राजस्व संग्रह तक सीमित कर दिया। न्यायपालिका को प्रशासन से स्वतंत्र कर दिया गया।
- **न्यायालयों का पदानुक्रम:** उन्होंने दीवानी और फौजदारी अदालतों का एक विस्तृत पदानुक्रम स्थापित किया:
 - **सबसे निचली अदालतें (मूंसिफ कोर्ट):** ये छोटे मामलों के लिए निचली दीवानी अदालतें थीं, जिनका नेतृत्व भारतीय अधिकारी करते थे।
 - **रजिस्ट्रार कोर्ट:** मूंसिफ कोर्ट से ऊपर, कुछ बड़े मामलों को देखते थे।
 - **जिला दीवानी अदालतें:** प्रत्येक जिले में यूरोपीय न्यायाधीश की अध्यक्षता में ये अदालतें स्थापित की गईं।
 - **प्रांतीय अपीलीय अदालतें (Provincial Courts of Appeal):** कलकत्ता, ढाका, मुर्शिदाबाद और पटना में चार प्रांतीय अदालतें स्थापित की गईं, जो जिला अदालतों के फैसलों के खिलाफ अपीलें सुनती थीं। प्रत्येक में तीन यूरोपीय न्यायाधीश होते थे।
 - **सदर दीवानी अदालत (सर्वोच्च दीवानी अपील):** कलकत्ता में सदर दीवानी अदालत सर्वोच्च अपीलीय न्यायालय थी, जिसमें गवर्नर-जनरल और उनकी परिषद के सदस्य बैठते थे।
- **फौजदारी न्याय (Criminal Justice):**
 - **सर्किट कोर्ट (Circuit Courts):** चार प्रांतीय अदालतों के समानांतर , चार सर्किट कोर्ट (भ्रमणशील अदालतें) स्थापित की गईं। ये अदालतें साल में दो बार प्रांतों का दौरा करती थीं और गंभीर आपराधिक मामलों की सुनवाई करती थीं।
 - **सदर निजामत अदालत (सर्वोच्च फौजदारी अपील):** कलकत्ता में सदर निजामत अदालत सर्वोच्च फौजदारी अपीलीय न्यायालय थी, जिसमें गवर्नर-जनरल और उनकी परिषद के सदस्य और काजी और मुफ्ती जैसे भारतीय कानूनी विशेषज्ञ बैठते थे।
- **वकीलों की प्रणाली:** उन्होंने न्यायिक प्रणाली में वकीलों (pleaders) की प्रणाली शुरू की , ताकि न्याय के लिए योग्य व्यक्ति उपलब्ध हों।
- **कानून का शासन (Rule of Law):** कॉर्नवालिस ने 'कानून के शासन' के सिद्धांत को लागू करने का प्रयास किया , जिसका अर्थ था कि प्रशासन में सभी व्यक्ति , चाहे वे अंग्रेज हों या भारतीय , कानून के प्रति जवाबदेह थे। यह उस समय एक क्रांतिकारी विचार था।
- **पुलिस सुधार:** उन्होंने पुराने जमींदारी पुलिस प्रणाली को समाप्त कर दिया और प्रत्येक जिले को 'थाना' में विभाजित किया, जिसमें एक दरोगा (भारतीय अधिकारी) होता था, जिसकी देखरेख एक यूरोपीय मजिस्ट्रेट करता था।

3. राजस्व सुधार (स्थायी बंदोबस्त -Permanent Settlement 1793 ई.):

- **पृष्ठभूमि:** वॉरेन हेस्टिंग्स द्वारा शुरू की गई पंचवर्षीय बंदोबस्त प्रणाली असफल रही थी और इससे किसानों का शोषण हो रहा था। कॉर्नवालिस का मानना था कि भू-राजस्व की एक निश्चित और स्थायी प्रणाली की आवश्यकता है, जिससे कृषि का विकास हो और कंपनी को एक स्थिर आय मिल सके।
- **स्थायी बंदोबस्त की विशेषताएं:**
 - **जमींदारों को भूमि का मालिक बनाना:** इस प्रणाली के तहत, जमींदारों को भूमि का वास्तविक स्वामी (Proprietor) बना दिया गया। पहले वे केवल राजस्व संग्रहकर्ता थे।
 - **निश्चित भू-राजस्व:** जमींदारों को एक निश्चित भू-राजस्व (लगभग 89% भू-राजस्व) कंपनी को देना होता था, जो हमेशा के लिए तय कर दिया गया। इसका मतलब था कि कंपनी को हमेशा एक निश्चित आय प्राप्त होगी, चाहे फसल अच्छी हो या खराब।
 - **राजस्व न चुकाने पर जमींदारी की नीलामी:** यदि जमींदार तय तिथि तक राजस्व जमा नहीं कर पाता था, तो उसकी जमींदारी जब्त कर ली जाती थी और नीलाम कर दी जाती थी।
 - **जमींदारों को प्रोत्साहन:** यह उम्मीद की गई थी कि भूमि के मालिक बनने से जमींदार कृषि में सुधार करने और भूमि का विकास करने के लिए प्रेरित होंगे, क्योंकि किसी भी अतिरिक्त उत्पादन का लाभ उन्हें मिलेगा।
- **स्थायी बंदोबस्त के प्रभाव:**
 - **कंपनी को लाभ:** कंपनी को एक स्थिर और अनुमानित राजस्व स्रोत मिला।
 - **जमींदारों को लाभ:** जमींदार एक शक्तिशाली और वफादार वर्ग के रूप में उभरे, जिन्होंने ब्रिटिश शासन का समर्थन किया।
 - **किसानों पर नकारात्मक प्रभाव:** किसानों को इस प्रणाली से सबसे ज्यादा नुकसान हुआ। वे जमींदारों की दया पर निर्भर हो गए, और जमींदारों ने अक्सर मनमाना किराया वसूल किया और उन्हें बेदखल कर दिया। किसानों के अधिकारों की रक्षा के लिए कोई प्रावधान नहीं था।
 - **कृषि विकास में बाधा:** कई जमींदारों ने भूमि के विकास में निवेश नहीं किया, बल्कि केवल किराया वसूलने पर ध्यान दिया।
 - **सामाजिक और आर्थिक असमानता में वृद्धि:** इसने ग्रामीण समाज में सामाजिक और आर्थिक असमानता को बढ़ाया।

4. व्यापारिक सुधार:

- **कंपनी के निवेश में सुधार:** उन्होंने कंपनी के निवेश (investment) की प्रणाली को सुव्यवस्थित किया, जिससे कंपनी के व्यापारिक संचालन में अधिक दक्षता आई।
- **अफीम और नमक के व्यापार पर नियंत्रण:** उन्होंने अफीम और नमक के व्यापार पर कंपनी के एकाधिकार को मजबूत किया, जिससे कंपनी के राजस्व में वृद्धि हुई।

लॉर्ड कॉर्नवालिस के सुधारों का मूल्यांकन:

लॉर्ड कॉर्नवालिस के सुधारों का भारतीय प्रशासन पर गहरा और स्थायी प्रभाव पड़ा।

- **सकारात्मक पहलू:**
 - **कुशल प्रशासन:** उन्होंने ब्रिटिश प्रशासन को अधिक कुशल, व्यवस्थित और भ्रष्टाचार मुक्त (खासकर कंपनी के अधिकारियों के बीच) बनाया।
 - **कानून का शासन:** 'कानून का शासन' और न्यायपालिका का कार्यपालिका से पृथक्करण एक महत्वपूर्ण सैद्धांतिक प्रगति थी।
 - **स्थायी बंदोबस्त:** इसने कंपनी को वित्तीय स्थिरता प्रदान की, जो उनके विस्तार के लिए आवश्यक थी।
- **नकारात्मक पहलू:**
 - **उच्च पदों से भारतीयों का बहिष्कार:** यह सुधार सबसे महत्वपूर्ण नकारात्मक पहलू था। इसने भारतीयों को प्रशासन में उच्च पदों से वंचित कर दिया और उन्हें अधीनस्थ भूमिकाओं तक सीमित कर दिया। यह नस्लीय भेदभाव पर आधारित था।
 - **स्थायी बंदोबस्त के दोष:** इसने किसानों के शोषण को बढ़ावा दिया और ग्रामीण क्षेत्रों में सामाजिक-आर्थिक असमानता को बढ़ाया।
 - **भारी प्रशासनिक लागत:** वेतन वृद्धि और यूरोपीय अधिकारियों की बड़ी संख्या के कारण प्रशासन की लागत बहुत बढ़ गई।

कुल मिलाकर, लॉर्ड कॉर्नवालिस ने भारत में ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के लिए एक मजबूत , सुसंगठित और केंद्रीकृत प्रशासनिक और न्यायिक ढाँचा स्थापित किया। उनके सुधारों ने ब्रिटिश साम्राज्य के विस्तार और स्थायित्व में महत्वपूर्ण योगदान दिया, हालांकि उन्होंने भारतीय जनता के अधिकारों और हितों की उपेक्षा की और भारतीय समाज में नई समस्याएं भी पैदा कीं।

प्रश्न न0 5— लॉर्ड वेलेजली की सहायक संधि की शर्तों की विवेचना कीजिए?

उत्तर— लॉर्ड वेलेजली (Lord Wellesley) 1798 से 1805 ई. तक भारत के गवर्नर-जनरल रहे। उन्हें 'बंगाल टाइगर' के नाम से भी जाना जाता है। उनका मुख्य उद्देश्य भारत में ब्रिटिश सर्वोच्चता स्थापित करना और फ्रांसीसी प्रभाव को पूरी तरह समाप्त करना था। इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए उन्होंने 'सहायक संधि प्रणाली' (Subsidiary Alliance System) का प्रभावी ढंग से उपयोग किया, जिसे फ्रांसीसी गवर्नर डुप्लेक्स ने पहले शुरू किया था, लेकिन वेलेजली ने इसे एक सुनियोजित और व्यापक रूप दिया। यह संधि प्रणाली भारतीय राज्यों को ब्रिटिश नियंत्रण में लाने का एक महत्वपूर्ण और प्रभावी साधन साबित हुई।

लॉर्ड वेलेजली की सहायक संधि की मुख्य शर्तें और उनकी विवेचना:

सहायक संधि अनिवार्य रूप से एक ऐसी व्यवस्था थी जिसके तहत भारतीय शासक ब्रिटिश संप्रभुता को स्वीकार करते थे और बदले में ब्रिटिश उन्हें बाहरी आक्रमणों और आंतरिक विद्रोहों से सुरक्षा प्रदान करते थे। हालांकि , इन शर्तों का भारतीय राज्यों पर अत्यधिक नकारात्मक प्रभाव पड़ा।

1. ब्रिटिश सेना की स्थायी तैनाती (और उसका खर्च):

- **शर्त:** सहायक संधि स्वीकार करने वाले भारतीय शासक को अपने राज्य में एक स्थायी ब्रिटिश सेना की टुकड़ी रखनी होती थी। इस सेना का कमांडर एक ब्रिटिश अधिकारी होता था और यह टुकड़ी कंपनी के नियंत्रण में रहती थी।
- **विवेचना:**
 - **आर्थिक बोझ:** इस सेना के रखरखाव का पूरा खर्च संबंधित भारतीय राज्य को उठाना पड़ता था। अक्सर , यह खर्च इतना अधिक होता था कि राज्य की अर्थव्यवस्था पर भारी बोझ पड़ता था, और कई बार राज्य को इस खर्च की भरपाई के लिए अपने क्षेत्र का एक हिस्सा अंग्रेजों को सौंपना पड़ता था (जैसे कि निजाम ने 1800 ई. में कुछ क्षेत्र सौंपे)।
 - **संप्रभुता का हनन:** भारतीय शासक अपनी ही सेना का उपयोग करने में अक्षम हो जाते थे और बाहरी सुरक्षा के लिए पूरी तरह अंग्रेजों पर निर्भर हो जाते थे। यह उनकी संप्रभुता पर पहला और सबसे महत्वपूर्ण प्रहार था।
 - **ब्रिटिश सैन्य शक्ति का विस्तार:** अंग्रेजों को बिना अतिरिक्त खर्च के अपनी सेना को भारतीय राज्यों में फैलाने और उसकी शक्ति को मजबूत करने का अवसर मिला।

2. ब्रिटिश रेजिडेंट की नियुक्ति:

- **शर्त:** जिस भारतीय राज्य ने सहायक संधि पर हस्ताक्षर किए थे , उसे अपनी राजधानी में एक ब्रिटिश रेजिडेंट (प्रतिनिधि) नियुक्त करना होता था।
- **विवेचना:**
 - **आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप:** यह रेजिडेंट शासक के आंतरिक मामलों में लगातार हस्तक्षेप करता था। वह राज्य के प्रशासन, उत्तराधिकार के मामलों और अन्य महत्वपूर्ण निर्णयों में अपनी राय और दबाव डालता था। यह प्रभावी रूप से शासक को एक कठपुतली बना देता था और उसकी निर्णय लेने की शक्ति को छीन लेता था।
 - **खुफिया जानकारी:** रेजिडेंट ब्रिटिश कंपनी के लिए राज्य की आंतरिक स्थिति और नीतियों के बारे में महत्वपूर्ण खुफिया जानकारी जुटाता था।

3. अन्य यूरोपीय शक्तियों से संबंध विच्छेद:

- **शर्त:** सहायक संधि स्वीकार करने वाले भारतीय शासक को अपनी सेना से सभी गैर-ब्रिटिश यूरोपीय (विशेषकर फ्रांसीसी) अधिकारियों को बर्खास्त करना होता था और किसी भी यूरोपीय व्यक्ति को अपनी सेवा में नियुक्त करने से पहले कंपनी की अनुमति लेनी होती थी।
- **विवेचना:**
 - **फ्रांसीसी प्रभाव का अंत:** वेलेजली का मुख्य उद्देश्य भारत से फ्रांसीसी प्रभाव को पूरी तरह से समाप्त करना था। यह शर्त इस उद्देश्य को पूरा करने में अत्यंत प्रभावी रही , क्योंकि इसने भारतीय राज्यों में फ्रांसीसियों के लिए किसी भी foothold को बंद कर दिया।
 - **ब्रिटिश एकाधिकार:** इसने ब्रिटिश शक्ति के एकाधिकार को सुनिश्चित किया और किसी अन्य यूरोपीय शक्ति को भारत में पैर जमाने से रोका।

4. ब्रिटिश कंपनी की अनुमति के बिना किसी अन्य राज्य से संबंध नहीं:

- **शर्त:** भारतीय शासक कंपनी की अनुमति के बिना किसी अन्य भारतीय या विदेशी शक्ति के साथ कोई संधि , गठबंधन या संबंध स्थापित नहीं कर सकता था।
- **विवेचना:**
 - **विदेश नीति पर नियंत्रण:** इस शर्त ने भारतीय राज्यों की विदेश नीति पर ब्रिटिश नियंत्रण सुनिश्चित किया। वे अपनी इच्छा से युद्ध या शांति नहीं कर सकते थे, जिससे उनकी स्वतंत्र पहचान समाप्त हो गई।
 - **भारतीय राज्यों का अलगाव:** इसने भारतीय राज्यों को एक-दूसरे से अलग-थलग कर दिया , जिससे वे ब्रिटिशों के खिलाफ एक साथ मिलकर काम करने में अक्षम हो गए।

5. बाहरी आक्रमण और आंतरिक विद्रोह से सुरक्षा का वादा (नाममात्र का):

- **शर्त:** ब्रिटिश कंपनी भारतीय राज्य को किसी भी बाहरी आक्रमण और आंतरिक विद्रोह से सुरक्षा प्रदान करने का वादा करती थी।
- **विवेचना:**
 - **खोखला वादा:** यह वादा अक्सर खोखला साबित होता था। सुरक्षा के नाम पर , भारतीय राज्य अपनी स्वतंत्रता खो देते थे। आंतरिक विद्रोह को दबाने के लिए ब्रिटिश सेना का उपयोग किया जाता था , लेकिन यह शासक को कंपनी के और भी अधीन कर देता था।
 - **सैन्य निर्भरता:** यह शर्त भारतीय राज्यों को अपनी सैन्य शक्ति विकसित करने से रोकती थी , जिससे वे पूरी तरह से अंग्रेजों पर निर्भर हो जाते थे।

6. कंपनी को क्षेत्र या वित्तीय भुगतान:

- **शर्त:** यदि कोई राज्य ब्रिटिश सेना के रखरखाव का भुगतान नकद में नहीं कर पाता था , तो उसे कंपनी को अपने क्षेत्र का एक हिस्सा (भू-राजस्व के बदले) सौंपना पड़ता था।
- **विवेचना:**
 - **क्षेत्रीय विस्तार:** यह ब्रिटिश साम्राज्य के क्षेत्रीय विस्तार का एक प्रमुख तरीका बन गया। कंपनी ने इस बहाने कई उपजाऊ और रणनीतिक रूप से महत्वपूर्ण क्षेत्रों पर कब्जा कर लिया।
 - **राज्य का सिकुड़ना:** भारतीय राज्यों का आकार धीरे-धीरे सिकुड़ता गया और उनकी वित्तीय स्थिति बिगड़ती गई।

सहायक संधि के परिणाम:

- **ब्रिटिश सर्वोच्चता की स्थापना:** इस प्रणाली ने भारत में ब्रिटिश सर्वोच्चता को स्थापित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।
- **भारतीय राज्यों की स्वतंत्रता का हनन:** सहायक संधि स्वीकार करने वाले भारतीय राज्यों ने अपनी स्वतंत्रता खो दी और वे ब्रिटिश कठपुतली बन गए।
- **विशाल ब्रिटिश सेना का पोषण:** अंग्रेजों को भारतीय राज्यों के खर्च पर एक बड़ी और शक्तिशाली सेना बनाए रखने का अवसर मिला।
- **आर्थिक शोषण:** सहायक संधि ने भारतीय राज्यों को आर्थिक रूप से पंगु बना दिया और उनके संसाधनों का ब्रिटिश हितों के लिए शोषण किया।
- **राज्यों का विलय:** अंततः, कई सहायक संधि वाले राज्यों को विभिन्न बहानों से ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लिया गया (जैसे कि बाद में डलहौजी ने 'व्यपगत के सिद्धांत' के तहत)।
- **स्थिरता का भ्रम:** इसने ब्रिटिश नियंत्रण वाले क्षेत्रों में एक प्रकार की स्थिरता तो पैदा की, लेकिन यह स्थिरता भारतीय शासकों की कीमत पर थी।

सहायक संधि स्वीकार करने वाले प्रमुख राज्य:

- **हैदराबाद का निजाम:** 1798 में सहायक संधि स्वीकार करने वाला पहला राज्य।
- **मैसूर:** 1799 (चौथे आंग्ल-मैसूर युद्ध के बाद)।
- **तंजौर:** 1799।
- **अवध:** 1801।
- **पेशवा (मराठा):** 1802 (बसीन की संधि)।
- **बरार के भोंसले:** 1803।
- **सिंधिया:** 1804।
- **राजपूत राज्य:** कई राजपूत राज्यों ने भी धीरे-धीरे सहायक संधि स्वीकार की।

निष्कर्ष रूप में, लॉर्ड वेलेजली की सहायक संधि एक अत्यंत चालाक और प्रभावी कूटनीतिक उपकरण था, जिसने ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी को बिना अधिक सैन्य संघर्ष के भारतीय उपमहाद्वीप के एक बड़े हिस्से पर अपना नियंत्रण स्थापित करने में सक्षम बनाया। इसने भारतीय शासकों को अपनी ही स्वतंत्रता से वंचित कर दिया और भारत में ब्रिटिश साम्राज्य के विस्तार का मार्ग प्रशस्त किया।

प्रश्न न0 6— ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना के सम्बन्ध में लॉर्ड क्लाइव के योगदान की विवेचना कीजिए?

उत्तर— प्रोम्प्ट के अनुसार, मुझे लॉर्ड क्लाइव के ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना में योगदान पर चर्चा करनी है।

ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना के संबंध में लॉर्ड क्लाइव का योगदान

रॉबर्ट क्लाइव (1725-1774 ई.) को भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का संस्थापक माना जाता है। यद्यपि ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी मूल रूप से एक व्यापारिक इकाई थी , क्लाइव के सैन्य और राजनीतिक हस्तक्षेपों ने इसे एक क्षेत्रीय शक्ति में बदल दिया, जिसने अंततः भारत में एक विशाल साम्राज्य की नींव रखी। उनका योगदान मुख्य रूप से बंगाल पर ब्रिटिश प्रभुत्व स्थापित करने और ब्रिटिश सर्वोच्चता के लिए मार्ग प्रशस्त करने से संबंधित है।

क्लाइव का प्रारंभिक जीवन और भारत में आगमन:

क्लाइव 1744 में ईस्ट इंडिया कंपनी के एक क्लर्क के रूप में मद्रास (चेन्नई) आए थे। जल्दी ही उन्होंने सैन्य क्षमताओं का प्रदर्शन किया और एक सैनिक के रूप में अपनी पहचान बनाई। उन्हें विशेष रूप से कर्नाटक युद्धों में उनकी भूमिका के लिए जाना जाता है, जहाँ उन्होंने फ्रांसीसी प्रभाव को कम करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

क्लाइव के प्रमुख योगदान और नीतियां:

1. कर्नाटक युद्धों में भूमिका (1746-1763):

o **आर्काट की घेराबंदी (1751):** यह क्लाइव के सैन्य करियर का एक महत्वपूर्ण मोड़ था। जब फ्रांसीसी और उनके भारतीय सहयोगी त्रिचिनापल्ली में अंग्रेजों को घेर रहे थे, क्लाइव ने मात्र 200 यूरोपीय और 300 भारतीय सैनिकों के साथ आर्काट, कर्नाटक की राजधानी पर हमला किया। इस अचानक हमले ने फ्रांसीसी गठबंधन को विचलित कर दिया और त्रिचिनापल्ली से घेराबंदी हटाने पर मजबूर कर दिया। आर्काट की जीत ने क्लाइव को एक कुशल सैन्य रणनीतिकार के रूप में स्थापित किया और अंग्रेजों की प्रतिष्ठा बढ़ाई।

o **फ्रांसीसी प्रभाव को कम करना:** कर्नाटक युद्धों में क्लाइव की भूमिका ने दक्षिण भारत में फ्रांसीसी प्रभाव को कमजोर करने और ब्रिटिश प्रभाव को स्थापित करने में मदद की। इसने यह स्पष्ट कर दिया कि यूरोपीय शक्तियों के बीच भारत में ब्रिटिश ही सबसे शक्तिशाली होंगे।

2. प्लासी का युद्ध (1757) और बंगाल पर ब्रिटिश प्रभुत्व की स्थापना:

o **पृष्ठभूमि:** बंगाल भारत का सबसे धनी प्रांत था। 1756 में, बंगाल के नए नवाब सिराजुद्दौला ने कलकत्ता पर हमला किया और फोर्ट विलियम पर कब्जा कर लिया , क्योंकि उन्हें कंपनी के किलाबंदी और व्यापारिक विशेषाधिकारों के दुरुपयोग पर आपत्ति थी।

o **क्लाइव की भूमिका:** क्लाइव ने मद्रास से सेना लेकर कलकत्ता को पुनः प्राप्त किया। इसके बाद , उन्होंने नवाब को उखाड़ फेंकने के लिए एक सुनियोजित षड्यंत्र रचा। उन्होंने नवाब के सेनापति मीर जाफर, बैंकर जगत सेठ और अन्य दरबारियों को रिश्तित देकर अपनी ओर मिला लिया।

o **युद्ध और परिणाम:** 23 जून, 1757 को प्लासी के मैदान में हुआ युद्ध वास्तव में एक छोटी-सी झड़प थी, क्योंकि मीर जाफर की सेना निष्क्रिय रही। नवाब सिराजुद्दौला हार गया और बाद में उसकी हत्या कर दी गई।

o **महत्व:** प्लासी के युद्ध ने अंग्रेजों को बंगाल का वास्तविक स्वामी बना दिया। कंपनी को बंगाल में व्यापारिक विशेषाधिकार और राजस्व संग्रह के अधिकार प्राप्त हुए। मीर जाफर को नवाब बनाया गया, लेकिन वह अंग्रेजों की कठपुतली था। इस जीत ने कंपनी को भारत में एक व्यापारिक शक्ति से एक राजनीतिक शक्ति में बदल दिया , जिसने बाद के साम्राज्य के लिए वित्तीय और क्षेत्रीय आधार प्रदान किया।

3. मीर कासिम के साथ संघर्ष और बक्सर का युद्ध (1764):

o **पृष्ठभूमि:** मीर जाफर अंग्रेजों के अत्यधिक वित्तीय मांगों को पूरा करने में असमर्थ रहा , तो क्लाइव के समर्थन से मीर कासिम को नवाब बनाया गया। मीर कासिम एक सक्षम शासक था और उसने कंपनी के हस्तक्षेप को कम करने का प्रयास किया, जिससे अंग्रेजों से उसका संघर्ष शुरू हो गया।

o **क्लाइव का प्रभाव:** यद्यपि क्लाइव प्लासी के बाद इंग्लैंड लौट गए थे (1760-1765), लेकिन उनकी स्थापित प्रणाली और प्रभाव ने बक्सर के युद्ध के लिए मंच तैयार किया।

o **बक्सर का युद्ध:** 1764 में बक्सर में हेक्टर मुनरो के नेतृत्व में ब्रिटिश सेना ने मीर कासिम , अवध के नवाब शुजा-उद-दौला और मुगल सम्राट शाह आलम द्वितीय की संयुक्त सेना को निर्णायक रूप से हराया।

○ **महत्व:** बक्सर का युद्ध प्लासी से कहीं अधिक निर्णायक था। इसने सैन्य शक्ति के मामले में अंग्रेजों की श्रेष्ठता साबित कर दी और बंगाल, बिहार व उड़ीसा पर उनके पूर्ण प्रभुत्व को स्थापित कर दिया।

4. इलाहाबाद की संधि (1765) और द्वैध शासन की स्थापना:

○ **वापसी और संधि:** बक्सर के युद्ध के बाद, कंपनी की बिगड़ती प्रशासनिक और वित्तीय स्थिति को सुधारने के लिए क्लाइव को 1765 में दूसरी बार बंगाल का गवर्नर नियुक्त किया गया। उन्होंने मुगल सम्राट शाह आलम द्वितीय और अवध के नवाब शुजा-उद-दौला के साथ इलाहाबाद की संधि पर हस्ताक्षर किए।

○ संधि की शर्तें:

- मुगल सम्राट शाह आलम द्वितीय ने बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी (राजस्व संग्रह का अधिकार) कंपनी को सौंप दी। इसके बदले सम्राट को 26 लाख रुपये वार्षिक पेंशन मिली।
- अवध के नवाब को कंपनी को 50 लाख रुपये युद्ध क्षतिपूर्ति के रूप में देने पड़े और कंपनी ने उसे इलाहाबाद और कारा के जिले मुगल सम्राट को देने के लिए मजबूर किया।
- नवाब ने कंपनी को अपने राज्य में मुक्त व्यापार की अनुमति दी।

○ **द्वैध शासन (Dual System of Government):** क्लाइव ने बंगाल में 'द्वैध शासन' की प्रणाली शुरू की। इसके तहत, कंपनी के पास दीवानी (राजस्व संग्रह और वित्तीय मामले) के अधिकार थे, जबकि निजामत (कानून-व्यवस्था और न्याय) के अधिकार नवाब के पास थे।

- **उद्देश्य:** इस प्रणाली का उद्देश्य कंपनी के लिए अधिकतम राजस्व प्राप्त करना था, बिना प्रशासनिक जिम्मेदारी उठाए। यह कंपनी के लिए "शक्ति बिना जिम्मेदारी" और नवाब के लिए "जिम्मेदारी बिना शक्ति" की स्थिति थी।
- **परिणाम:** इस प्रणाली से बंगाल में अत्यधिक भ्रष्टाचार, अव्यवस्था और किसानों का शोषण हुआ। कंपनी के कर्मचारियों ने अपनी शक्ति का दुरुपयोग किया, जिससे बंगाल की अर्थव्यवस्था ध्वस्त हो गई और 1770 के अकाल की भयावहता बढ़ गई।

5. अन्य प्रशासनिक और सैन्य योगदान:

○ **सेना का पुनर्गठन:** क्लाइव ने कंपनी की सेना में अनुशासन और दक्षता लाने का प्रयास किया। उन्होंने 'श्वेत विद्रोह' (White Mutiny) को दबाया, जो कंपनी के यूरोपीय अधिकारियों द्वारा अपने भर्तों में कटौती के विरोध में किया गया था।

○ **भ्रष्टाचार पर अंकुश (अल्पकालिक):** उन्होंने कंपनी के कर्मचारियों के निजी व्यापार पर प्रतिबंध लगाने और भ्रष्टाचार को कम करने के कुछ प्रयास किए, हालांकि वे पूरी तरह सफल नहीं रहे और उन पर स्वयं भी भ्रष्टाचार के आरोप लगे।

क्लाइव के योगदान का मूल्यांकन:

लॉर्ड क्लाइव निस्संदेह ब्रिटिश साम्राज्य के एक महत्वपूर्ण वास्तुकार थे।

● सकारात्मक पक्ष:

- उन्होंने भारत में ब्रिटिश शक्ति के सैन्य वर्चस्व को स्थापित किया।
- प्लासी और बक्सर जैसे युद्धों के माध्यम से उन्होंने बंगाल पर ब्रिटिश नियंत्रण सुनिश्चित किया, जो ब्रिटिश साम्राज्य का आर्थिक आधार बना।
- उन्होंने ईस्ट इंडिया कंपनी को एक व्यापारिक इकाई से एक राजनीतिक और सैन्य शक्ति में बदल दिया।

● नकारात्मक पक्ष:

- उनकी नीतियों, विशेषकर द्वैध शासन ने बंगाल में भयानक कुशासन और आर्थिक शोषण को जन्म दिया, जिससे अकाल और गरीबी बढ़ी।
- उन्होंने भारतीय संसाधनों का बेरहमी से शोषण किया और भारतीय जनता के हितों की उपेक्षा की।
- उनके कार्यकाल में भ्रष्टाचार बहुत बढ़ गया, जिसके लिए उन्हें बाद में इंग्लैंड में महाभियोग का सामना भी करना पड़ा (हालांकि वे बरी हो गए)।

निष्कर्ष रूप में, लॉर्ड क्लाइव एक साहसी सैनिक और एक चतुर राजनेता थे, जिन्होंने अपनी सैन्य प्रतिभा और कूटनीति के बल पर भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की नींव रखी। उन्होंने ईस्ट इंडिया कंपनी को भारत में एक अग्रणी यूरोपीय शक्ति के रूप में स्थापित किया और बंगाल के समृद्ध प्रांत पर ब्रिटिश नियंत्रण सुनिश्चित किया, जिसने बाद के ब्रिटिश विस्तार के लिए वित्तीय और राजनीतिक आधार प्रदान किया। हालांकि, उनके तरीकों और उनके द्वारा स्थापित प्रशासनिक प्रणाली (द्वैध शासन) ने भारतीय जनता पर गहरा और विनाशकारी प्रभाव डाला।

प्रश्न न० 7— लॉर्ड विलियम बेंटिंक के सुधारों की विवेचना कीजिए?

उत्तर— लॉर्ड विलियम बेंटिंक (Lord William Bentinck) 1828 से 1835 ई. तक भारत के गवर्नर-जनरल रहे। उनका कार्यकाल भारत में ब्रिटिश शासन के इतिहास में एक महत्वपूर्ण मोड़ था , क्योंकि उन्हें शांति, सुधार और प्रगति के युग का अग्रदूत माना जाता है। डलहौजी के विपरीत , जो युद्ध और विस्तारवादी नीतियों के लिए जाने जाते हैं , बेंटिंक ने सुधारों और भारतीय समाज के उत्थान पर ध्यान केंद्रित किया। उन्हें 'भारत में आधुनिक पश्चिमी शिक्षा का जनक' भी कहा जाता है। **लॉर्ड विलियम बेंटिंक के प्रमुख सुधार:**

बेंटिंक के सुधारों को मुख्य रूप से तीन श्रेणियों में बांटा जा सकता है: प्रशासनिक सामाजिक और वित्तीय।

1. सामाजिक सुधार (Social Reforms):

सामाजिक सुधारों के क्षेत्र में बेंटिंक का योगदान सबसे उल्लेखनीय और मानवीय था।

• सती प्रथा का उन्मूलन (1829 ई.):

- **पृष्ठभूमि:** सती प्रथा, जिसमें विधवाओं को अपने मृत पति की चिता पर जलना पड़ता था , भारतीय समाज में एक भयावह कुप्रथा थी। राजा राममोहन राय जैसे भारतीय समाज सुधारक लंबे समय से इसके खिलाफ अभियान चला रहे थे।
- **बेंटिंक का कार्य:** बेंटिंक ने इस प्रथा को अमानवीय और बर्बर मानते हुए , 1829 में 'रेगुलेशन XVII' पारित कर सती प्रथा को अवैध और दंडनीय अपराध घोषित कर दिया। प्रारंभ में यह बंगाल प्रेसीडेंसी में लागू हुआ , और बाद में 1830 में मद्रास और बंबई प्रेसीडेंसी में भी इसका विस्तार किया गया।
- **प्रभाव:** यह एक साहसिक और दूरगामी कदम था जिसने भारतीय समाज में एक बड़ा बदलाव लाया और ब्रिटिश शासन को एक सामाजिक सुधारक के रूप में स्थापित किया।

• ठगी प्रथा का दमन (1830 ई.):

- **पृष्ठभूमि:** ठग एक संगठित गिरोह थे जो तीर्थयात्रियों और व्यापारियों को लूटते थे और उनकी हत्या कर देते थे। वे काली देवी के उपासक होने का दावा करते थे।
- **बेंटिंक का कार्य:** बेंटिंक ने कर्नल विलियम स्लीमैन को इस प्रथा को जड़ से खत्म करने का कार्य सौंपा। स्लीमैन ने एक विशेष पुलिस बल का गठन किया और बड़े पैमाने पर अभियान चलाया , जिसके परिणामस्वरूप हजारों ठगों को गिरफ्तार किया गया, मुकदमा चलाया गया और दंडित किया गया।
- **प्रभाव:** इस कदम से यात्रियों और व्यापारियों के लिए सड़कों को सुरक्षित बनाया गया और अपराध नियंत्रण में एक बड़ी सफलता मिली।

• शिशु-हत्या पर प्रतिबंध:

- **पृष्ठभूमि:** कुछ समुदायों में, विशेषकर राजपूतों में, कन्या शिशु-हत्या की प्रथा प्रचलित थी, जिसका कारण सामाजिक-आर्थिक दबाव और दहेज प्रथा थी।
- **बेंटिंक का कार्य:** बेंटिंक ने इस अमानवीय प्रथा को रोकने के लिए सख्त कदम उठाए और इसे अवैध घोषित किया।

• नरबलि प्रथा का दमन:

- कुछ जनजातीय क्षेत्रों , विशेषकर उड़ीसा की खोंड जनजाति में , देवी-देवताओं को प्रसन्न करने के लिए नरबलि (मानव बलि) की प्रथा प्रचलित थी। बेंटिंक ने इस प्रथा को भी रोकने के लिए प्रभावी कदम उठाए।

2. वित्तीय और प्रशासनिक सुधार:

बेंटिंक ने कंपनी की खराब वित्तीय स्थिति को सुधारने और प्रशासन को अधिक कुशल बनाने पर भी ध्यान दिया।

- **सेना के भत्तों में कमी:** कंपनी की वित्तीय स्थिति को सुधारने के लिए , बेंटिंक ने सैन्य अधिकारियों को दिए जाने वाले दोहरे भत्ते (Double Batta) को समाप्त कर दिया, जिससे काफी विरोध हुआ, लेकिन उन्होंने इसे दृढ़ता से लागू किया।
- **नागरिक सेवाओं में मितव्ययिता:** उन्होंने सिविल सेवा में भी फिजूलखर्ची को कम किया और सरकारी खर्चों में कटौती की।
- **राजस्व सुधार (बंगाल और उत्तर-पश्चिमी प्रांत):**
 - **भू-राजस्व सर्वेक्षण:** उन्होंने कृषि योग्य भूमि का उचित मूल्यांकन सुनिश्चित करने के लिए राजस्व सर्वेक्षण का आदेश दिया।
 - **महलवाड़ी व्यवस्था (Mahalwari System):** उत्तर-पश्चिमी प्रांतों (आधुनिक उत्तर प्रदेश) में आर.एम. बर्ड के नेतृत्व में महलवाड़ी व्यवस्था को लागू किया गया। इस प्रणाली के तहत, भू-राजस्व का समझौता सीधे किसानों के साथ

नहीं, बल्कि पूरे गाँव (महल) या गाँव के मुखियाओं के साथ किया जाता था। इससे राजस्व संग्रह अधिक कुशल और स्थिर बना।

- **अफीम व्यापार का नियमन:** उन्होंने अफीम व्यापार पर नियंत्रण स्थापित किया और लाइसेंसिंग प्रणाली लागू की , जिससे कंपनी के राजस्व में वृद्धि हुई।
- **प्रांतीय अपीलीय अदालतों का उन्मूलन:** कॉर्नवालिस द्वारा स्थापित चार प्रांतीय अपीलीय अदालतों (सदर दीवानी और सदर निजामत अदालतों को छोड़कर) को समाप्त कर दिया गया , जिससे न्यायिक प्रक्रिया में तेजी लाने और खर्च कम करने में मदद मिली।

3. न्यायिक और विधायी सुधार:

- **न्यायालयों का पुनर्गठन:** उन्होंने न्यायिक प्रणाली को पुनर्गठित किया , जिससे न्याय अधिक सुलभ हो सके। उन्होंने भारतीयों को निचले स्तर के न्यायिक पदों (जैसे 'मुंसिफ' और 'सदर अमीन') पर नियुक्त करने की अनुमति दी , जो पहले यूरोपीय लोगों के लिए आरक्षित थे। यह न्याय प्रणाली में भारतीयों की भागीदारी बढ़ाने का एक महत्वपूर्ण कदम था।
- **सरकारी भाषा में परिवर्तन:** बेंटिक ने 1835 में फारसी के स्थान पर अंग्रेजी को उच्च न्यायालयों की भाषा और प्रशासन की भाषा के रूप में स्वीकार किया। हालांकि, स्थानीय अदालतों में स्थानीय भाषाओं का उपयोग जारी रहा।
- **कानूनी संहिताबद्धीकरण:** उनके कार्यकाल में भारतीय कानूनों को संहिताबद्ध करने का कार्य शुरू हुआ , जो बाद में मैकाले के नेतृत्व में भारतीय दंड संहिता (IPC) के रूप में परिणत हुआ।

4. शिक्षा सुधार:

- **मैकाले का मिनट (1835):** बेंटिक ने लॉर्ड मैकाले की अध्यक्षता वाली 'लोक अनुदेश समिति' (Committee of Public Instruction) की सिफारिशों को स्वीकार किया, जिसमें पश्चिमी शिक्षा को बढ़ावा देने पर जोर दिया गया था। मैकाले ने अपनी प्रसिद्ध 'मिनट ऑन इंडियन एजुकेशन' में तर्क दिया कि भारतीय भाषाओं की तुलना में अंग्रेजी साहित्य और विज्ञान में श्रेष्ठ थी।
- **अंग्रेजी शिक्षा का प्रोत्साहन:** 1835 के एक प्रस्ताव द्वारा, अंग्रेजी को भारत में उच्च शिक्षा का माध्यम बना दिया गया। सरकारी स्कूलों और कॉलेजों में पश्चिमी विज्ञान और साहित्य पढ़ाना शुरू किया गया।
- **उद्देश्य:** इस नीति का उद्देश्य एक ऐसा भारतीय वर्ग तैयार करना था जो ब्रिटिश प्रशासन और व्यापार के लिए काम कर सके, और जो सांस्कृतिक रूप से ब्रिटिश विचारों को अपना सके।

बेंटिक के सुधारों का मूल्यांकन:

लॉर्ड विलियम बेंटिक के सुधारों ने भारतीय समाज और प्रशासन पर गहरा और स्थायी प्रभाव डाला।

- **सकारात्मक पहलू:**
 - **मानवीय सुधार:** सती प्रथा और ठगी का उन्मूलन उनके सबसे बड़े मानवीय योगदान थे , जिन्होंने भारतीय समाज से क्रूर प्रथाओं को खत्म करने में मदद की।
 - **कुशल प्रशासन:** उनके वित्तीय और प्रशासनिक सुधारों ने कंपनी की वित्तीय स्थिति को मजबूत किया और प्रशासन को अधिक कुशल बनाया।
 - **आधुनिक शिक्षा की नींव:** पश्चिमी शिक्षा को बढ़ावा देने की उनकी नीति ने भारत में आधुनिक विचारों और विज्ञान के प्रसार का मार्ग प्रशस्त किया, हालांकि इसके अपने नकारात्मक पहलू भी थे।
 - **भारतीयों को न्यायिक पदों पर:** निचले न्यायिक पदों पर भारतीयों की नियुक्ति ने भारतीयों को प्रशासन में थोड़ी भागीदारी दी।
- **नकारात्मक पहलू:**
 - **वित्तीय कटौती का विरोध:** सेना के भत्तों में कटौती और अन्य मितव्ययिता उपायों ने कंपनी के यूरोपीय अधिकारियों और सैनिकों में असंतोष पैदा किया।
 - **पश्चिमी शिक्षा की सीमाएँ:** अंग्रेजी शिक्षा को बढ़ावा देने की नीति ने भारतीय भाषाओं और पारंपरिक शिक्षा को हाशिये पर धकेल दिया और एक पश्चिमीकृत अभिजात वर्ग का निर्माण किया।
 - **राजस्व प्रणालियों के प्रभाव:** यद्यपि महलवाड़ी व्यवस्था को कुछ हद तक न्यायपूर्ण माना गया , लेकिन अंततः ये सभी ब्रिटिश राजस्व प्रणालियाँ किसानों के शोषण का कारण बनीं।

कुल मिलाकर , लॉर्ड विलियम बेंटिक को एक प्रगतिशील और सुधारवादी गवर्नर-जनरल के रूप में याद किया जाता है।

उन्होंने ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन को एक अधिक नैतिक और व्यवस्थित आधार प्रदान करने का प्रयास किया , जिससे

भारत में ब्रिटिश साम्राज्य को एक नई वैधता मिली। उनके सामाजिक सुधारों ने भारतीय समाज में गहरी जड़ें जमाई हुई बुराइयों को दूर करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

प्रश्न न० 8— लार्ड डलहौजी की हड़प नीति की व्याख्या कीजिए?

उत्तर— लॉर्ड डलहौजी (Lord Dalhousie) 1848 से 1856 ई. तक भारत के गवर्नर-जनरल रहे। उनका कार्यकाल ब्रिटिश भारत के इतिहास में सबसे महत्वपूर्ण और विस्तारवादी अवधियों में से एक था। डलहौजी का मुख्य उद्देश्य ब्रिटिश साम्राज्य का अधिकतम विस्तार करना और भारत में ब्रिटिश शक्ति को सर्वोपरि बनाना था। इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए उन्होंने 'व्यपगत का सिद्धांत' (Doctrine of Lapse) नामक अपनी एक प्रमुख नीति का उपयोग किया, जिसे आमतौर पर 'हड़प नीति' के नाम से जाना जाता है।

व्यपगत का सिद्धांत (हड़प नीति) क्या था

व्यपगत का सिद्धांत, डलहौजी द्वारा प्रतिपादित एक नीति थी जिसके तहत यदि किसी भारतीय शासक की प्राकृतिक उत्तराधिकारी (यानी अपना जैविक पुत्र) नहीं होता था और उसकी मृत्यु हो जाती थी, तो उसके राज्य को ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लिया जाता था। इस नीति के तहत, दत्तक पुत्र को राज्य का उत्तराधिकारी स्वीकार नहीं किया जाता था, यदि उसे ब्रिटिश सरकार की मंजूरी न मिली हो।

डलहौजी का तर्क था कि भारतीय राज्यों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है:

1. **स्वतंत्र राज्य (Independent States):** वे राज्य जो कभी भी किसी सर्वोच्च शक्ति के अधीन नहीं रहे थे और जिन्होंने ब्रिटिश संरक्षण स्वीकार नहीं किया था। इन राज्यों को दत्तक पुत्र लेने का अधिकार था।
2. **करद या सहायक राज्य (Tributary or Subsidiary States):** वे राज्य जो पहले किसी सर्वोच्च शक्ति (जैसे मुगल या मराठा) के अधीन थे, लेकिन बाद में ब्रिटिश संरक्षण स्वीकार कर लिया था। इन राज्यों को दत्तक पुत्र लेने के लिए ब्रिटिश सरकार की अनुमति लेनी होती थी।
3. **कंपनी द्वारा निर्मित राज्य (States created by the Company):** वे राज्य जिन्हें ब्रिटिश कंपनी ने स्वयं बनाया था या पुनर्स्थापित किया था। इन राज्यों को दत्तक पुत्र लेने का कोई अधिकार नहीं था, और शासक की मृत्यु पर उनके राज्य को सीधे ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लिया जाता था।

व्यवहार में, डलहौजी ने इस नीति को दूसरे और तीसरे प्रकार के राज्यों पर प्रमुख रूप से लागू किया, विशेषकर उन राज्यों पर जो आर्थिक या रणनीतिक रूप से ब्रिटिशों के लिए महत्वपूर्ण थे।

हड़प नीति के तहत ब्रिटिश साम्राज्य में मिलाए गए प्रमुख राज्य:

डलहौजी ने इस नीति का प्रयोग ब्रिटिश साम्राज्य के विस्तार के लिए एक शक्तिशाली उपकरण के रूप में किया। हड़प नीति के तहत निम्नलिखित प्रमुख राज्यों को ब्रिटिश साम्राज्य में मिलाया गया:

1. **सतारा (Satara - 1848 ई.):** यह हड़प नीति का पहला शिकार था। सतारा के राजा अप्पासाहेब की मृत्यु 1848 में बिना किसी प्राकृतिक उत्तराधिकारी के हो गई। डलहौजी ने उनके दत्तक पुत्र को उत्तराधिकारी मानने से इनकार कर दिया और राज्य को ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लिया।
2. **जैतपुर (Jaitpur - 1849 ई.):** बुंदेलखंड में स्थित इस छोटे से राज्य को भी बिना प्राकृतिक उत्तराधिकारी के कारण हड़प लिया गया।
3. **संभलपुर (Sambalpur - 1849 ई.):** उड़ीसा में स्थित यह राज्य भी इसी नीति का शिकार हुआ।
4. **बघाट (Baghat - 1850 ई.):** पंजाब में स्थित यह छोटा राज्य भी हड़प लिया गया।
5. **उदयपुर (Udaipur - 1852 ई.):** यह राज्य भी इसी नीति के तहत ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लिया गया।
6. **झांसी (Jhansi - 1853 ई.):** झांसी की रानी लक्ष्मीबाई के पति राजा गंगाधर राव की मृत्यु के बाद, डलहौजी ने उनके दत्तक पुत्र दामोदर राव को उत्तराधिकारी मानने से इनकार कर दिया। रानी लक्ष्मीबाई ने इसका कड़ा विरोध किया, लेकिन डलहौजी ने झांसी को हड़प लिया। यह 1857 के विद्रोह के प्रमुख कारणों में से एक बना।
7. **नागपुर (Nagpur - 1854 ई.):** नागपुर के राजा रघुजी तृतीय की बिना किसी प्राकृतिक वारिस के मृत्यु हो गई। डलहौजी ने राज्य को ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लिया, जिससे मराठा प्रभाव क्षेत्र में एक और महत्वपूर्ण शक्ति का अंत हो गया।

अन्य विलय और विस्तारवादी नीतियां:

हड़प नीति के अलावा, डलहौजी ने अन्य तरीकों से भी ब्रिटिश साम्राज्य का विस्तार किया:

1. **बर्मा (म्यांमार) का विलय (1852 ई.):** दूसरे एंग्लो-बर्मी युद्ध (1852) के बाद, डलहौजी ने निचले बर्मा (पेगू) को ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लिया। यह एक महत्वपूर्ण रणनीतिक और व्यापारिक क्षेत्र था।

2. **पंजाब का विलय (1849 ई.):** दूसरे एंग्लो-सिख युद्ध (1848-49) के बाद, डलहौजी ने पूरे पंजाब को ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लिया। सिख साम्राज्य के महाराजा दिलीप सिंह को पेंशन देकर इंग्लैंड भेज दिया गया।
3. **अवध का विलय (1856 ई.):** अवध के नवाब वाजिद अली शाह पर 'कुशासन' (misgovernance) का आरोप लगाकर डलहौजी ने अवध को ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लिया। यह विलय हड़प नीति के तहत नहीं था, क्योंकि अवध के नवाब के पास अपना जैविक उत्तराधिकारी था, लेकिन इसे भी डलहौजी की विस्तारवादी नीति का हिस्सा माना जाता है। अवध का विलय भारतीयों में, विशेषकर सैनिकों में, अत्यधिक अलोकप्रिय हुआ और यह 1857 के विद्रोह का एक प्रमुख कारण बना।
4. **अन्य विलय:** कर्नाटक के नवाब और तंजौर के राजा की उपाधियों को भी समाप्त कर दिया गया और उनके क्षेत्रों को ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लिया गया।

हड़प नीति के प्रभाव और परिणाम:

डलहौजी की हड़प नीति के भारतीय इतिहास पर दूरगामी और विनाशकारी प्रभाव पड़े:

1. **भारतीय शासकों में अविश्वास और असंतोष:** इस नीति ने भारतीय शासकों और रियासतों में ब्रिटिश सरकार के प्रति गहरा अविश्वास और भय पैदा किया। उन्हें लगा कि ब्रिटिश सरकार अपने स्वयं के स्थापित कानूनों और परंपराओं का उल्लंघन कर रही है।
2. **1857 के विद्रोह का एक प्रमुख कारण:** झांसी, नागपुर और अवध जैसे राज्यों का विलय 1857 के विद्रोह के प्रमुख कारणों में से एक बना। रानी लक्ष्मीबाई, नाना साहब (पेशवा बाजीराव द्वितीय के दत्तक पुत्र), और अवध के तालुकदारों और किसानों ने इस नीति के खिलाफ खुलकर विद्रोह किया।
3. **ब्रिटिश साम्राज्य का विस्तार:** डलहौजी के कार्यकाल में ब्रिटिश साम्राज्य का भौगोलिक रूप से अभूतपूर्व विस्तार हुआ, जिससे ब्रिटिशों का भारत पर नियंत्रण और मजबूत हुआ।
4. **आर्थिक शोषण में वृद्धि:** विलय किए गए राज्यों से ब्रिटिशों को अतिरिक्त राजस्व प्राप्त हुआ, जिसका उपयोग ब्रिटिश हितों के लिए किया गया। इन क्षेत्रों में ब्रिटिश प्रशासन और राजस्व प्रणालियों को लागू किया गया, जिससे अक्सर स्थानीय जनता का शोषण हुआ।
5. **भारतीय पहचान का संकट:** इस नीति ने भारतीय शासकों की सदियों पुरानी वंशानुगत परंपराओं और सांस्कृतिक पहचान पर प्रहार किया।
6. **प्रशासकीय सुधार:** डलहौजी ने विलय किए गए राज्यों में कुछ प्रशासनिक सुधार (जैसे रेलवे, तार, सार्वजनिक कार्य विभाग) भी लागू किए, हालांकि इनका प्राथमिक उद्देश्य ब्रिटिश हितों की पूर्ति करना था।

निष्कर्ष:

लॉर्ड डलहौजी की हड़प नीति ब्रिटिश साम्राज्य के विस्तारवादी चरित्र का प्रतीक थी। यह एक ऐसी नीति थी जिसने भारतीय शासकों के पारंपरिक अधिकारों का उल्लंघन किया और ब्रिटिश शासन के प्रति गहरा असंतोष पैदा किया। यद्यपि डलहौजी का उद्देश्य ब्रिटिश साम्राज्य को मजबूत करना था, लेकिन उनकी इस आक्रामक नीति ने 1857 के महान विद्रोह के लिए जमीन तैयार की, जिसने भारत में ब्रिटिश शासन को हिला कर रख दिया।

प्रश्न न० 9— अंग्रेजों एवं सिक्खों के बीच सम्बन्ध स्थापित करने में महाराजा रणजीत सिंह के कार्यों के सम्बन्ध में विवेचना कीजिए?

उत्तर— महाराजा रणजीत सिंह (1780-1839 ई.) 19वीं सदी के प्रारंभिक दशकों में पंजाब में एक शक्तिशाली सिख साम्राज्य के निर्माता थे। उन्हें 'शेर-ए-पंजाब' (पंजाब का शेर) के नाम से जाना जाता है। उनका कार्यकाल भारत में ब्रिटिश साम्राज्य के विस्तार के लिए एक महत्वपूर्ण अवधि थी, और अंग्रेजों के साथ उनके संबंधों को उनकी दूरदर्शिता, सैन्य शक्ति और राजनीतिक कुशलता का प्रतीक माना जाता है। उन्होंने अपनी मृत्यु तक सिख साम्राज्य को अंग्रेजों के सीधे प्रभाव से बचाए रखा, जो उनके बाद संभव नहीं हो पाया।

महाराजा रणजीत सिंह की अंग्रेज नीति को प्रभावित करने वाले कारक:

1. **उत्तरी-पश्चिमी सीमा पर सुरक्षा:** महाराजा रणजीत सिंह ने अपने साम्राज्य का विस्तार किया और अफगानों को पश्चिमी पंजाब से खदेड़ दिया, पेशावर और कश्मीर पर कब्जा कर लिया। यह उनके साम्राज्य की उत्तरी-पश्चिमी सीमा को सुरक्षित करने के लिए महत्वपूर्ण था। अंग्रेजों को भी अफगान आक्रमण का भय था, जिसने उन्हें रणजीत सिंह के साथ मित्रता बनाए रखने के लिए प्रेरित किया।
2. **ब्रिटिश शक्ति का ज्ञान:** रणजीत सिंह एक अत्यंत बुद्धिमान शासक थे। उन्हें भारत में ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी की बढ़ती शक्ति, उनकी सैन्य श्रेष्ठता और उनकी विस्तारवादी नीतियों का पूरा ज्ञान था। वे जानते थे कि अंग्रेजों के साथ सीधा टकराव उनके नवगठित साम्राज्य के लिए विनाशकारी हो सकता है।

3. **अपनी सेना का आधुनिकीकरण:** रणजीत सिंह ने अपनी 'खालसा सेना' को यूरोपीय पद्धति पर प्रशिक्षित किया और उसे एक दुर्जेय शक्ति बनाया। उन्होंने फ्रांसीसी, इतालवी और अन्य यूरोपीय अधिकारियों को अपनी सेना में नियुक्त किया ताकि तोपखाने और पैदल सेना को आधुनिक बनाया जा सके। उनकी सेना को ब्रिटिश सेना के समकक्ष माना जाता था। यह सैन्य शक्ति अंग्रेजों के लिए भी एक चिंता का विषय थी और उन्हें सिखों के साथ सतर्क रहने पर मजबूर करती थी।
4. **सतलुज पार के सिख सरदारों का दबाव:** सतलुज नदी के दक्षिण में स्थित सिख मिसलों (सरदारों) को रणजीत सिंह के बढ़ते प्रभाव से भय था। उन्होंने ब्रिटिशों से संरक्षण मांगा, जिसने अंग्रेजों को इस क्षेत्र में हस्तक्षेप करने का बहाना दिया।

अंग्रेजों और सिखों के बीच संबंध स्थापित करने में महाराजा रणजीत सिंह के कार्य:

महाराजा रणजीत सिंह ने अंग्रेजों के साथ संबंधों को सावधानीपूर्वक और व्यावहारिक दृष्टिकोण से संभाला। उन्होंने टकराव से बचते हुए अपने साम्राज्य के हितों की रक्षा की। उनके प्रमुख कार्य इस प्रकार हैं:

1. चतुराई भरी प्रारंभिक नीतियां:

- **मराठों से दूरी:** जब जसवंतराव होलकर (मराठा सरदार) ने अंग्रेजों से सहायता मांगी और अंग्रेजों के खिलाफ एक संयुक्त मोर्चा बनाने का प्रस्ताव रखा, तो रणजीत सिंह ने सावधानी बरती। उन्होंने होलकर को सहायता देने से इनकार कर दिया, क्योंकि वे ब्रिटिशों के साथ तत्काल टकराव से बचना चाहते थे। 1805 में अंग्रेजों ने रणजीत सिंह से होलकर को अपने राज्य से बाहर निकालने की संधि की, जिसे रणजीत सिंह ने मान लिया।
- **अमृतसर पर नियंत्रण (1805):** रणजीत सिंह ने अंग्रेजों के साथ प्रारंभिक संबंधों को मजबूत करने के लिए 1805 में अमृतसर पर नियंत्रण प्राप्त किया।

2. अमृतसर की संधि (1809 ई.):

- **पृष्ठभूमि:** 1808 में, अंग्रेजों ने मेटकाफ को रणजीत सिंह के दरबार में भेजा ताकि वे फ्रांसीसी खतरे (नेपोलियन के संभावित आक्रमण) के खिलाफ एक गठबंधन बना सकें और सतलुज के पूर्वी सिख राज्यों पर अपना प्रभाव स्थापित कर सकें। रणजीत सिंह सतलुज के पार के सिख राज्यों पर अपना नियंत्रण बढ़ाना चाहते थे।

○ शर्तें:

- सतलुज नदी को महाराजा रणजीत सिंह के राज्य और ब्रिटिश क्षेत्रों के बीच की सीमा के रूप में स्वीकार किया गया।
- रणजीत सिंह सतलुज के पूर्व में (यानी सतलुज के दक्षिणी राज्यों पर) अपना दावा छोड़ देंगे। इन राज्यों पर ब्रिटिशों का संरक्षण स्वीकार कर लिया गया।
- ब्रिटिश सरकार सतलुज के उत्तर में स्थित रणजीत सिंह के क्षेत्रों में हस्तक्षेप नहीं करेगी।
- दोनों पक्ष 'निरंतर मित्रता' बनाए रखेंगे।

- **महत्व:** यह संधि रणजीत सिंह की कूटनीतिक जीत थी। उन्होंने सतलुज के पूर्व के क्षेत्रों पर अपना दावा छोड़ दिया, लेकिन बदले में सतलुज के पश्चिम में अपने साम्राज्य को मजबूत करने और विस्तार करने की पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त कर ली, जिसे अंग्रेजों ने स्वीकार किया। इस संधि ने अगले 30 वर्षों तक अंग्रेजों और सिखों के बीच शांति और मित्रता का आधार प्रदान किया।

3. साम्राज्य का विस्तार और सैन्य आधुनिकीकरण (सतलुज के पश्चिम):

- अमृतसर की संधि के बाद, रणजीत सिंह ने अपनी ऊर्जा सतलुज के पश्चिम में साम्राज्य के विस्तार पर केंद्रित की। उन्होंने कश्मीर (1819), मुल्तान (1818), पेशावर (1834) और अन्य छोटे राज्यों को जीत कर एक विशाल सिख साम्राज्य का निर्माण किया।
- उन्होंने अपनी सेना, खालसा सेना, को अत्यधिक आधुनिक और अनुशासित बनाया। उन्होंने यूरोपीय प्रशिक्षकों को नियुक्त किया और तोपखाने पर विशेष ध्यान दिया, जिससे खालसा सेना भारत की सबसे दुर्जेय सेनाओं में से एक बन गई। यह सैन्य शक्ति अंग्रेजों को सिखों के साथ सीधे टकराव से बचाती थी।

4. सिंध के प्रश्न पर कूटनीति:

- 1830 के दशक में, सिंध पर अंग्रेजों की नजर थी क्योंकि वे मध्य एशियाई व्यापार मार्ग पर नियंत्रण चाहते थे। रणजीत सिंह भी सिंध पर अपना दावा रखते थे।
- हालांकि, जब अंग्रेजों ने सिंध पर दबाव डाला, तो रणजीत सिंह ने सीधे टकराव से बचने के लिए सावधानी बरती। उन्होंने 1832 में एक वाणिज्यिक संधि (सिंध में व्यापार के लिए) पर हस्ताक्षर किए, जिसमें सतलुज को माल के लिए एक व्यापार मार्ग के रूप में उपयोग करने की अनुमति दी गई।

- o 1838 की 'त्रिदलीय संधि' (Tripartite Treaty): अंग्रेजों ने अफगानिस्तान के अमीर दोस्त मोहम्मद को हटाने और शाह शुजा को गद्दी पर बिठाने के लिए रणजीत सिंह और शाह शुजा के साथ एक संधि की। इस संधि में अंग्रेजों ने रणजीत सिंह के सिंधु नदी के पार के क्षेत्रों पर दावे को स्वीकार किया, बशर्ते वे शाह शुजा को अफगानिस्तान में अपना प्रभाव स्थापित करने में मदद करें। यह रणजीत सिंह की एक और कूटनीतिक जीत थी , हालांकि इसका अंततः अंग्रेजों के लिए अधिक लाभ हुआ (पहला एंग्लो-अफगान युद्ध)।

5. **सतर्कता और दूरदर्शिता:**

- o रणजीत सिंह ब्रिटिशों के साथ मित्रतापूर्ण संबंध बनाए रखते थे , लेकिन वे उनकी विस्तारवादी प्रकृति से पूरी तरह वाकिफ थे। उन्होंने कभी भी अंग्रेजों को अपने आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप करने की अनुमति नहीं दी।
- o उन्होंने हमेशा यह सुनिश्चित किया कि सिख साम्राज्य इतना मजबूत रहे कि अंग्रेज उस पर आसानी से हमला न कर सकें। उनकी मृत्यु (1839) के बाद ही सिख साम्राज्य कमजोर पड़ा और अंग्रेजों ने इसका फायदा उठाया।

निष्कर्ष:

महाराजा रणजीत सिंह ने अपनी सैन्य प्रतिभा , कूटनीतिक कौशल और दूरदर्शिता के बल पर अंग्रेजों के साथ एक नाजुक संतुलन बनाए रखा। उन्होंने अपनी शर्तों पर अंग्रेजों के साथ संबंध स्थापित किए और अमृतसर की संधि के माध्यम से अपने साम्राज्य के लिए एक सुरक्षित क्षेत्र सुनिश्चित किया। उन्होंने अपनी खालसा सेना को इतना शक्तिशाली बनाया कि अंग्रेज उनके जीवनकाल तक पंजाब पर सीधे आक्रमण करने का साहस नहीं कर सके। रणजीत सिंह ने लगभग 40 वर्षों तक सिख साम्राज्य को ब्रिटिश प्रभुत्व से मुक्त रखा , और यह उनकी महानतम उपलब्धियों में से एक थी। उनकी मृत्यु के बाद , सिख साम्राज्य के भीतर आंतरिक कलह और कमजोर नेतृत्व के कारण अंग्रेजों को पंजाब पर नियंत्रण स्थापित करने का अवसर मिला , जिसके परिणामस्वरूप दो आंग्ल-सिख युद्ध हुए और अंततः सिख साम्राज्य का ब्रिटिश भारत में विलय हो गया।

प्रश्न न० 10— लार्ड रिपन के सुधारों की विवेचना कीजिए?

उत्तर— लॉर्ड रिपन (Lord Ripon) 1880 से 1884 ई. तक भारत के वायसराय रहे। उन्हें भारत में 'सबसे लोकप्रिय' और 'सुधारवादी' वायसरायों में से एक माना जाता है। उनके उदारवादी दृष्टिकोण और भारतीय जनता के प्रति सहानुभूति ने उन्हें अपने पूर्ववर्तियों से अलग किया। रिपन का मानना था कि ब्रिटिश शासन को भारतीयों के लाभ के लिए काम करना चाहिए और उन्हें प्रशासन में अधिक भागीदारी देनी चाहिए। उनके सुधारों ने भारतीय राष्ट्रवाद के विकास और आत्म-शासन की अवधारणा को बढ़ावा देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

लॉर्ड रिपन के प्रमुख सुधार:

रिपन के सुधारों को मुख्यतः चार श्रेणियों में बांटा जा सकता है: स्थानीय स्वशासन, वित्तीय, विधायी/न्यायिक और शिक्षा।

1. स्थानीय स्वशासन का विकास (Resolution on Local Self-Government, 1882):

लॉर्ड रिपन को 'भारत में स्थानीय स्वशासन का जनक' (Father of Local Self-Government in India) कहा जाता है। यह उनका सबसे महत्वपूर्ण और दूरगामी सुधार था।

- **उद्देश्य:** इस सुधार का मुख्य उद्देश्य भारतीयों को प्रशासन में अधिक भागीदारी देना , उन्हें अपने स्थानीय मामलों का प्रबंधन करने में सक्षम बनाना और लोकतांत्रिक सिद्धांतों को बढ़ावा देना था।
- **मुख्य विशेषताएं:**
 - o उन्होंने शहरी और ग्रामीण क्षेत्रों में स्थानीय बोर्डों (जैसे नगरपालिकाएं और जिला बोर्ड) की स्थापना का प्रस्ताव रखा।
 - o इन निकायों में गैर-सरकारी (निर्वाचित) सदस्यों का बहुमत होना था।
 - o सरकार का हस्तक्षेप न्यूनतम रखा गया, और इन निकायों को निश्चित कार्य और आय के साधन दिए गए।
 - o इन निकायों को स्थानीय आवश्यकताओं के अनुसार शिक्षा , स्वच्छता, जल आपूर्ति और सड़कों जैसे क्षेत्रों में जिम्मेदारी दी गई।
- **प्रभाव:** यद्यपि इन निकायों की शक्तियां सीमित थीं और नौकरशाही का प्रभाव बना रहा , लेकिन इस कदम ने भारत में लोकतांत्रिक विकेंद्रीकरण की नींव रखी। इसने भारतीयों को प्रशासन का अनुभव प्राप्त करने और राजनीतिक चेतना विकसित करने का अवसर दिया।

2. वित्तीय सुधार:

रिपन ने लॉर्ड मेयो द्वारा शुरू की गई वित्तीय विकेंद्रीकरण की नीति को आगे बढ़ाया।

- **राजस्व स्रोतों का वर्गीकरण:** उन्होंने राजस्व स्रोतों को तीन श्रेणियों में वर्गीकृत किया:
 - o **शाही शीर्ष (Imperial Heads):** केंद्रीय सरकार के लिए आरक्षित आय।

- **प्रांतीय शीर्ष (Provincial Heads):** प्रांतीय सरकारों को आवंटित राजस्व स्रोत।
- **विभाजित शीर्ष (Divided Heads):** केंद्र और प्रांतों के बीच साझा किए जाने वाले राजस्व स्रोत (जैसे आबकारी , स्टांप, वन, पंजीकरण)।
- **प्रांतीय सरकारों को अधिक जवाबदेही:** इसका उद्देश्य प्रांतीय सरकारों को अपने खर्च पर अधिक नियंत्रण रखने और अपनी आवश्यकताओं के अनुसार संसाधन जुटाने के लिए प्रोत्साहित करना था , जिससे वे अधिक जवाबदेह महसूस करें।
- **समय-समय पर समीक्षा:** केंद्र और प्रांतों के वित्तीय समझौतों की हर पांच साल में समीक्षा करने का भी निर्णय लिया गया।
- **नमक कर में कमी:** उन्होंने नमक कर को भी कम किया, जिससे आम जनता को कुछ राहत मिली।

3. विधायी और न्यायिक सुधार:

- **वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट का निरसन (1882 ई.):**
 - **पृष्ठभूमि:** लॉर्ड लिटन द्वारा 1878 में 'वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट ' पारित किया गया था , जिसने भारतीय भाषाओं के समाचार पत्रों पर कड़े प्रतिबंध लगाए थे और उन्हें सरकारी नीतियों की आलोचना करने से रोका था। इसे 'गैंगिंग एक्ट' के नाम से भी जाना जाता था।
 - **रिपन का कार्य:** रिपन ने इस दमनकारी अधिनियम को निरस्त कर दिया , जिससे भारतीय प्रेस को स्वतंत्रता प्राप्त हुई और वे ब्रिटिश शासन की आलोचना करने और भारतीय जनमत को व्यक्त करने में सक्षम हुए। इस कदम ने उन्हें भारतीय जनता के बीच अत्यधिक लोकप्रिय बना दिया।
- **इल्बर्ट बिल विवाद (1883 ई.):**
 - **पृष्ठभूमि:** इस बिल से पहले, यूरोपीय ब्रिटिश नागरिकों से जुड़े मामलों की सुनवाई केवल यूरोपीय न्यायाधीश ही कर सकते थे। भारतीय न्यायाधीशों को यूरोपीय लोगों का मुकदमा चलाने का अधिकार नहीं था , चाहे वे कितने भी वरिष्ठ क्यों न हों। यह नस्लीय भेदभाव पर आधारित था।
 - **रिपन का कार्य:** सर कोर्टने इल्बर्ट (वायसराय की परिषद के कानूनी सदस्य) द्वारा तैयार किए गए इस बिल का उद्देश्य इस नस्लीय असमानता को समाप्त करना था। इसने भारतीय न्यायाधीशों और मजिस्ट्रेटों को यूरोपीय ब्रिटिश नागरिकों से जुड़े मामलों की सुनवाई करने का अधिकार प्रदान किया।
 - **विवाद और परिणाम:** इस बिल ने भारत में यूरोपीय समुदाय , विशेषकर एंग्लो-इंडियन समुदाय में भारी विरोध को जन्म दिया। उन्होंने इसे अपने विशेष अधिकारों पर हमला माना और 'श्वेत विद्रोह' का रूप ले लिया। व्यापक विरोध के कारण बिल में संशोधन करना पड़ा, जिसमें यह प्रावधान किया गया कि यदि कोई यूरोपीय व्यक्ति एक भारतीय न्यायाधीश द्वारा मुकदमा चलाया जाता है , तो वह कम से कम 50% यूरोपीय सदस्यों वाली जूरी की मांग कर सकता है।
 - **महत्व:** भले ही इल्बर्ट बिल अपने मूल रूप में पारित नहीं हो सका , लेकिन इस विवाद ने भारतीयों को नस्लीय भेदभाव की गहराई का एहसास कराया और उन्हें राजनीतिक रूप से संगठित होने के लिए प्रेरित किया। इसने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के गठन (1885) के लिए भी मार्ग प्रशस्त किया।

4. शिक्षा सुधार:

- **हंटर आयोग (Hunter Commission, 1882):**
 - **पृष्ठभूमि:** 1854 के वुड डिस्पैच के बाद भारत में शिक्षा के विकास की समीक्षा करने के लिए लॉर्ड रिपन ने विलियम विल्सन हंटर की अध्यक्षता में एक शिक्षा आयोग का गठन किया।
 - **सिफारिशें:** आयोग ने प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा के सुधार पर विशेष जोर दिया। इसने प्राथमिक शिक्षा को स्थानीय निकायों के नियंत्रण में रखने और उच्च शिक्षा के लिए सरकारी सहायता के बजाय निजी प्रयासों को प्रोत्साहित करने की सिफारिश की।
- **प्रभाव:** हंटर आयोग की सिफारिशों ने भारत में शिक्षा के विकास , विशेषकर प्राथमिक शिक्षा के विस्तार में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

5. फैक्ट्री एक्ट (Factory Act, 1881):

- **उद्देश्य:** भारत में कारखानों में काम करने वाले श्रमिकों की स्थिति में सुधार करना।
- **मुख्य विशेषताएं:**
 - इसने 7 साल से कम उम्र के बच्चों के काम करने पर प्रतिबंध लगा दिया।
 - 7 से 12 साल के बच्चों के लिए काम के घंटे सीमित किए गए (प्रतिदिन अधिकतम 9 घंटे)।

0 महीने में चार अवकाश और काम के दौरान एक घंटे का ब्रेक अनिवार्य किया गया।

0 मशीनरी की सुरक्षा के लिए नियम बनाए गए।

- **सीमाएं:** यह अधिनियम केवल उन कारखानों पर लागू होता था जिनमें 100 से अधिक श्रमिक थे और यह चाय बागानों या कोयला खदानों पर लागू नहीं होता था। इसमें महिलाओं के काम के घंटों पर कोई प्रतिबंध नहीं था। फिर भी, यह भारत में श्रम कल्याण की दिशा में पहला कदम था।

6. मैसूर राज्य की बहाली (Mysore Rendition, 1881):

- मैसूर राज्य को 1831 में 'कुशासन' के आरोप में ब्रिटिश प्रशासन के अधीन कर लिया गया था। रिपन ने 1881 में मैसूर राज्य को उसके वास्तविक शासक (वाडियार वंश के महाराजा चामराजेंद्र वाडियार X) को वापस कर दिया। यह एक उदारवादी और न्यायसंगत कदम था जिसने भारतीय शासकों का विश्वास जीतने में मदद की।

लॉर्ड रिपन के सुधारों का मूल्यांकन:

लॉर्ड रिपन का कार्यकाल भारतीय इतिहास में एक महत्वपूर्ण अध्याय है।

- **सकारात्मक पहलू:**

- 0 उनके सुधारों ने भारत में स्थानीय स्वशासन की नींव रखी और भारतीयों को प्रशासन में भागीदारी के लिए प्रशिक्षित किया।
- 0 वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट को निरस्त कर उन्होंने प्रेस की स्वतंत्रता को बहाल किया, जो भारतीय राष्ट्रवाद के विकास के लिए महत्वपूर्ण था।
- 0 सामाजिक और औद्योगिक सुधारों (फैक्ट्री एक्ट) ने कमजोर वर्गों के हितों की रक्षा का प्रयास किया।
- 0 उनकी नीतियों ने ब्रिटिश शासन को एक अधिक मानवीय और प्रगतिशील चेहरा दिया , और भारतीय जनता के बीच उनकी लोकप्रियता अभूतपूर्व थी। उन्हें 'लॉर्ड रिपन द गुड' (Lord Ripon the Good) के नाम से जाना जाता था।

- **नकारात्मक पहलू:**

- 0 इल्बर्ट बिल विवाद ने ब्रिटिश समुदाय के गहरे नस्लीय पूर्वाग्रहों को उजागर किया और भारतीयों को यह समझने पर मजबूर किया कि उन्हें ब्रिटिश न्याय और समानता पर पूरी तरह से भरोसा नहीं करना चाहिए।
- 0 उनके सुधारों का यूरोपीय समुदाय ने कड़ा विरोध किया, जिससे उनके कार्यकाल में तनाव भी रहा।
- 0 फैक्ट्री एक्ट की सीमाएं थीं और यह सभी श्रमिकों को कवर नहीं करता था।

कुल मिलाकर, लॉर्ड रिपन ने भारत में ब्रिटिश शासन को अधिक उदार और जवाबदेह बनाने का प्रयास किया। उनके सुधारों ने भारतीय जनता में राजनीतिक चेतना को जागृत किया और भविष्य के राष्ट्रवादी आंदोलनों के लिए एक मंच तैयार किया। यद्यपि उनके प्रयास हमेशा सफल नहीं हुए और उन्हें विरोध का सामना करना पड़ा , फिर भी उन्हें भारत के सबसे प्रिय और सम्मानित वायसरायों में से एक माना जाता है।

B.A.L.L.B.-4th Sem. Paper-IV Interpretation of the Status

प्रश्न न0 1— निर्वचन को परिभाषित कीजिए। निर्वचन एवं अर्थान्वयन में अन्तर कीजिए।

उत्तर— कानूनों का निर्वचन(Interpretation of Statues)— कानूनों का निर्वचन विधि अध्ययन का एक महत्वपूर्ण पहलू है। यह ऐसी प्रक्रिया है, जिसके द्वारा विशिष्ट अधिनियम का अर्थ, भाव उद्देश्य व प्रकृति को अभिनिश्चित किया जाता है। निर्वचन एक ऐसा ढंग है, जिसके द्वारा किसी शब्द उपबन्ध या प्रावधान के सही भाव या अर्थ को समझा जाता है। इस प्रकार निर्वचन का तात्पर्य है अर्थ निरूपण, भाषान्तरण आदि। निर्वचन किसी तथ्य होता है तथा वह तरीका अर्थान्वयन कहलाता है, जिसके द्वारा निर्वचन प्राप्त किया जाता है। इस प्रकार निर्वचन साध्य है, तो अर्थान्वयन शब्दों को एक ही अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है और इन्हें एक-दूसरे का पर्यायवाची माना जाता है, परन्तु ये दोनों एक दूसरे से भिन्न हैं।

निर्वचन का अर्थ (Meaning of Interpretation)— वास्तविकता में निर्वचन का तात्पर्य है अधिनियम की भाषा के अन्तर्गत प्रयुक्त हुए शब्दों के प्राकृतिक अर्थों से ही उसके पहलू व सत्य स्वरूप का निर्धारण। जबकि अर्थान्वयन का तात्पर्य है अधिनियम में प्रयुक्त हुए शब्दों के बाहर जाकर उसकी आत्मा के आधार पर उसके पहलू व सत्यस्वरूप को जानने की प्रक्रिया। इन दोनों शब्दों को पर्यायवाची मानते हुए एक ही अर्थ में प्रयुक्त किया जाता रहा है।

“निर्वचन” शब्द अपने आप एक विस्तृत अर्थ लिए हुए हैं। इस शब्द का विभिन्न विधिशास्त्रियों ने भिन्न-भिन्न अर्थ लगाया हैं।

चैम्बर्स डिक्शनरी के अनुसार— “निर्वचन” शब्द का तात्पर्य है, व्याख्याकार द्वारा दी गई अभिव्यक्ति उसकी व्याख्या करने की शक्ति, किसी व्यक्ति द्वारा नाटक प्रस्तुत कर किसी शब्द की अभिव्यक्ति आदि।

सामण्ड के अनुसार— निर्वचन या अर्थान्वयन का अर्थ वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा न्यायालय विधानमण्डल का अर्थ उस माध्यम के द्वारा मालूम करते हैं जिस प्राधिकृत प्रकारों में वह अभिव्यक्त किया गया है।

कुल मिलाकर यही कहा जा सकता है कि न्यायालयों द्वारा संविधियों की भाषा, शब्दों एवं अभिव्यक्तियों के अर्थ निर्धारण की प्रक्रिया ही संविधियों का निर्वचन है।

निर्वचन के उद्देश्य (Objects of Interpretation)— मैक्सवेल ने निर्वचन के उद्देश्यों पर प्रकाश डालते हुए कहा कि—किसी संविधि की जो भी व्याख्या की जाती है उसका उद्देश्य यह होता है कि जिस भाषा को प्रयोग में लाया गया है उसका स्पष्टतः या विवक्षित रूप से आशय क्या है, इसे निर्धारित कर लिया जाये, और विशेष रूप में यह देख लिया जाये कि प्रस्तुत वाद की परिस्थितियों में व्याख्याकार द्वारा दी गई व्याख्या प्रयोज्य होती है या नहीं।” इस प्रकार व्याख्या वह प्रक्रिया है, जिसमें न्यायालय किसी विशिष्ट विधान के अर्थों का निर्धारण करते हैं।

निर्वचन के प्रकार (Types of Interpretation)— संविधि का निर्वचन यह प्रक्रिया है, जिसके द्वारा विधायन लाने का उद्देश्य प्रलक्षित होता है विधायन स्पष्ट और सरल होना चाहिए। यदि परिणियम के शब्द अस्पष्ट हो द्विअर्थी हो तो उनको इस्तेमाल करने से पहले यह देखना चाहिए कि विधायन लाने का उद्देश्य असफल तो नहीं होता है।

रघुनन्दन बनाम प्यारेलाल (1998) 2 एस.सी.जे. 413 में सुप्रीमकोर्ट ने मत व्यक्त किया कि यदि परिणियम की भाषा सरल है तो निर्वचन करने की आवश्यकता ननहीं होती है।

निर्वचन के उपर्युक्त उद्देश्य को पूरा करने के लिए निर्वचन को तात्त्विक रूप से दो भागों में बाटा जा सकता है।

(1) शाब्दिक निर्वचन

(2) तार्किक निर्वचन

(1) शाब्दिक निर्वचन (Literal Interpretation)— शाब्दिक निर्वचन को **Litera Scripta or Litera legis** शब्दों से भी अभिव्यक्त किया जाता है। शाब्दिक निर्वचन का प्रयोग उस समय किया जाता है, जबकि संविधि की भाषा स्पष्ट व संदिग्ध हो। संविधियों के निर्वचन में शाब्दिक निर्वचन का महत्वपूर्ण स्थान है। इस व्याख्या के अन्तर्गत संविधियों में प्रयुक्त भाषा एवं शब्दों को उन्हीं के अनुरूप अर्थ दिया जाता है।

(2) तार्किक निर्वचन (Logical Interpretation)— तार्किक निर्वचन का प्रयोग उस समय किया जाता है, जबकि शाब्दिक निर्वचन से अवाञ्छित व असंगत परिणाम उत्पन्न होने लगें। इसका तात्पर्य यह है कि जब शाब्दिक व्याख्या शब्दों के भिन्न-भिन्न अर्थ देने लगती है तब विधायिका के आशय का पता लगाने के लिए अन्य बातों पर ध्यान देते हुए तार्किक व्याख्या का सहारा लिया जाता है।

निर्वचन व अर्थान्वयन में अन्तर

क्रसं	निर्वचन (Interpretation)	अर्थान्वयन (Construction)
-------	----------------------------	-----------------------------

1	निर्वचन का तात्पर्य है अर्थनिरूपण भाषान्तरण आदि। निर्वचन किसी तथ्य का अर्थ होता है।	अर्थान्वयन वह तरीका है, जिसके द्वारा निर्वचन प्राप्त किया जाता है।
2	निर्वचन साध्य है।	अर्थान्वयन निर्वचन का साधन है।
3	अधिनियम की भाषा के अन्तर्गत प्रयुक्त हुए शब्दों के प्राकृतिक अर्थों से ही उसके पहलू व सत्य स्वरूप का निर्धारण कहलाता है।	अधिनियम में प्रयुक्त हुए शब्दों के उसके बाहर जाकर उसकी आत्मा के परे उसके सही पहलू व सत्य स्वरूप को जानने की प्रक्रिया अर्थान्वयन कहलाती है।
4	न्यायाधीश को निर्वचन करने में दो तथ्यों को ध्यान में रखना होता है— (क) उसका वास्तविक अर्थ क्या होना चाहिए? (ख) परिनियम को बनाते समय विधायिका का उद्देश्य।	अर्थान्वयन की प्रक्रिया में शब्द का अर्थ खोजना पड़ता है ताकि स्थिति का निपटारा हो सके। यह स्थिति विधायन बनाते समय उत्पन्न नहीं होती है।
5	निर्वचन में शाब्दिक तथा साधारण अर्थ लिया जाता है।	कभी-कभी शाब्दिक अर्थान्वयन में असंगत व अन्यायपूर्ण परिणाम दृष्टिगोचर होते हैं।
6	निर्वचन में विधायिका का आशय प्रमुख होता है।	अर्थान्वयन में परिनियम के परिभाषित शब्द का वास्तविक अर्थ देखना पड़ता है।

प्रश्न न0 2— निर्वचन का स्वर्णिम नियम निर्वचन का स्वतन्त्र नियम नहीं है बल्कि निर्वचन के शाब्दिक नियम का ही एक परिष्कृत रूप है। निर्णीत वादों की सहायता से उपर्युक्त कथन की व्याख्या कीजिए।

उत्तर— निर्वचन का स्वर्णिम नियम (Golden Rule of Interpretation) — निर्वचन का स्वर्णिम नियम वास्तव में शाब्दिक अर्थान्वयन का संशोधित रूप है। स्वर्णिम नियम के अनुसार शाब्दिक निर्वचन कानून का सामान्य अभिप्राय या आशय को निश्चित करने का एक साधन है। स्वर्णिम नियम के अनुसार जब शाब्दिक व्याख्या हमें अर्थहीनता या अतार्किक परिणाम की ओर ले जाती है, तो अधिनियम के उपबन्धों की व्याख्या इस रीति से की जानी चाहिए, ताकि यह समुचित व्यावहारिक परिणाम लाने वाली हो। अतः उपबन्धों के अर्थ अस्पष्ट, अनिश्चित या संदिग्ध अर्थ वाले होने या अन्य कोई कठिनाई होने पर न्यायालय कानून के शब्दों से परे जा सकता है।

इस सिद्धान्त के अनुसरण में सामान्य रूप से न्यायालय विधायिका के आशय को कानून में उसके द्वारा प्रयुक्त किये गये शब्दों से ही शब्दों के स्वाभाविक एवं प्राकृतिक अभिप्राय के आधार पर ज्ञात करते हैं। यदि न्यायालय के ऐसा करने में कोई अस्पष्टता, असुविधा अथवा निरर्थकता दृष्टिगोचर होती है तो उस अभिप्राय को केवल इतना ही रूपान्तरित किया जायेगा जितने से कि इस परिणाम को रोका सके। यह नियम वास्तव में अर्थान्वयन के दौरान आने वाली समस्याओं का समाधान करता है। इसे निर्वचन के रूपान्तरण प्रणाली के नाम से जाना जाता है, क्योंकि इसके अन्तर्गत किसी शब्द के शाब्दिक अर्थ को सुविधानुसार व आवश्यकतानुसार रूपान्तरित कर लिया जाता है।

व्याख्या के स्वर्णिम नियम के अनुसार व्याख्या के समय निम्नांकित बातें अनुसरित की जानी चाहिए—

आवश्यक शर्तें—

- (1) एकाधिक अर्थ देने वाले शब्दों में से सदैव ऐसे अर्थ को स्वीकार किया जाना चाहिए, जो संतुलित एवं विवेकपूर्ण हो।
- (2) विवेकरहित, असंगत अथवा असुविधाजनक परिणामों को टाला जाना चाहिए।
- (3) ऐसी व्याख्या से बचना चाहिए जिसका परिणाम प्रत्यक्ष रूप से अन्यायपूर्ण प्रतीत होता है।
- (4) निरर्थक व तर्कहीन व्याख्या को स्वीकार नहीं किया जाना चाहिए।

बैके बनाम स्मिथ—(1836) 2 एन एण्ड डब्लू 1991 में सर्वप्रथम पार्क बी ने स्वर्णिम नियम का प्रतिपादन किया। पार्क बी. के अनुसार निर्वचन का स्वर्णिम नियम है कि कानून में प्रयुक्त शब्दों के सामान्य अर्थ का तथा व्याकरणिक निर्वचन का अनुसरण किया चाहिये, जब तक कि वह स्वयं उस कानून से ध्वनित होने वाले विधानमण्डल के आशय से विरुद्ध न हो अथवा किसी स्पष्ट विसंगति या विरोध को प्रकट करता हो। यदि कानून के शब्द विधान के आशय के विरुद्ध अर्थ प्रकट करते हो या विसंगति उत्पन्न करते हो, तो ऐसे दोष को दूर करने के लिए कानून की भाषा परिवर्तित या संशोधित की जा सकती है, किन्तु उसे आवश्यकता से अधिक तोड़ा-मरोड़ा नहीं जा सकता है।

इस प्रकार अधिनियम की भाषा अर्थहीनता अथवा प्रतिकूलता को बचाने के लिए वहाँ बदली अथवा सुधारी जा सकती है जहाँ व्याकरण समस्त अर्थ हमें अर्थहीनता अथवा असंगति की ओर ले जाता है। सामान्य नियम यह है कि न्यायालयों द्वारा अधिनियम, विधि की व्याख्या शाब्दिक अर्थान्वयन के नियम के अनुसार नहीं करते हैं—

- (1) यदि कानून लेख में कोई अर्थाश्रित त्रुटि हो।
- (2) यदि कानून के मूल पाठ से ऐसा अयुक्तियुक्त परिणाम निकलना हो, जिससे यह प्रकट हो कि विधानमण्डल का वह अभिप्राय ही नहीं सकता था या मूल पाठ में कोई लिपिकीय भूल हो जैसे गलत संख्या द्वारा धारा का हवाला दिया जाना।

कानून की ऐसी विसंगति से बचने के लिए न्यायालय उसमें व्यक्त न किये गये व्यावृत्ति खण्डों की ओर संकेत करते हैं इसी को अर्थान्वयन का स्वर्णिम नियम कहते हैं। इस नियम के अनुसार कानून में प्रयुक्त शब्दों का अक्षरसः भावार्थ किया जाना चाहिये जब तक कि उसमें विसंगति ना हो और यदि विसंगति प्रतीत हो, तो शाब्दिक नियम को संशोधित किया जा सकता है।

ग्रे बनाम पीयरसन (1857) 6 एल.एल.सी. 61 में लार्ड बेन्सलेडेन ने कहा कि वसीयत पत्रों, संविधि और सभी लिखित प्रलेखों का अर्थ ग्रहण करने में शब्दों का व्याकरणमूलक और साधारण अर्थ ग्रहण किया जाना चाहिये, जब तक कि उसका परिणाम कोई अयुक्तता की सीमा तक न पहुँच रहा हो, या प्रलेख के अन्य भागों से कोई विरोधी या असंगति उत्पन्न नहीं हो रही हो। ऐसे प्रसंगों में शब्दों का व्याकरण मूलक और साधारण अर्थ उस सीमा तक सुधारने की आवश्यकता होती है कि उस अयुक्तता और असंगति का निवारण हो सके, किन्तु उससे आगे कोई संशोधन कदापि नहीं किया चाहिये।

रनन्जय सिंह बनाम बैजनाथ सिंह में विस्काउण्ट हाल्डेन, एल.सी. ने कहा कि “हम शब्दों के प्राकृतिक अर्थ से बाहर नहीं जा सकते हैं, जब तक कि सम्पूर्ण अधिनियम को पढ़ने पर सन्दर्भ हमें वैसा करने के लिए प्रेरित ना करें। तथा स्वर्णिम नियम यह है कि अधिनियम के शब्दों को प्रथम दृष्टया उनका सामान्य अर्थ देना चाहिए।”

प्रवर्तन निदेशालय बनाम दीपक महाजन ए.आई.आर. 1995 एस.सी. 1775 में सुप्रीम कोर्ट ने स्पष्ट किया कि न्यायालय विधायिका के आशय तथा अधिनियम के उद्देश्य की क्रियान्वित के लिए शब्दों की व्याकरणमूलक व्याख्या से बाहर जाकर भी अर्थान्वयन कर सकता है। ताकि विधायिका का आशय निरर्थक ना जाये।

मनुभाई एफ. पटेल बनाम गुजरात राज्य ए.आई.आर. 2000 गुजरात 120-बी. में न्यायालय ने कहा कि व्याख्या करते समय यदि संविधि के दो अर्थ निकलते हैं तो संविधि के निर्वचन के समय न्यायालय को क्रियाशील दृष्टि रखनी होगी और यदि आवश्यक हो तो शब्दों की परिधि से बाहर जाकर संविधि का आत्मनुरूप निर्वचन कर सकता है। जिससे निरर्थकता व व्यावहारिक असुविधा को दूर किया जा सके और विधायिका के लक्ष्य तक पहुँच जा सके।

क्वैरी ऑनर्स एसोसिएशन बनाम राज्य ए.आई.आर. एस.सी. 2870-बी में सुप्रीम कोर्ट ने कहा कि न्यायालय को संविधि की व्याख्या करते समय उस अर्थ को ग्रहण करना चाहिए जो उसके उद्देश्य के अनुरूप हो।

हरि सिंह नल्वा बनाम करतार सिंह ए.आई.आर. 2001 पी और एच 88-सी भडाना व अन्य ने कहा कि संविधि में प्रयुक्त शब्दों को साधारण अर्थ में ही ग्राह्य किया जाना चाहिए। उनमें आवश्यक संशोधन, परिवर्तन अथवा परिवर्द्धन किये जाने की आवश्यकता तब तक नहीं पड़ती है जब तक कि संविधि की भाषा अस्पष्ट, संदिग्ध अर्थ नहीं देती हो और आत्मनुरूप स्पष्ट ना हो।

इस प्रकार स्वर्णिम नियम, व्याकरणम निर्वचन के नियम का ही रूपान्तरण है। इसके अनुसार सामान्यतः न्यायालय विधायिका का आशय कानून में उसके द्वारा प्रयोग किये गये शब्दों से ही शब्दों के प्राकृतिक अभिप्राय के आधार पर ही ज्ञात करेगा। परन्तु ऐसा करने पर यदि कोई निरर्थकता, असंगति, स्पष्टता होती हो, तो अभिप्राय केवल इतना ही रूपान्तरित किया जायेगा, जितने से इस परिणाम को रोका जा सके। जब भी किसी उपबन्ध के एक से अधिक अर्थ प्रतीत होते हैं तो वह अर्थ प्रभावी होगा, जो संतुलित एवं विकेकी हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि स्वर्णिम नियम के अनुसार जब शाब्दिक व्याख्या हमें अर्थहीनता या अतर्किक परिणाम की ओर ले जाती है, तो अधिनियम के उपबन्धों की व्याख्या इस रीति से की जानी चाहिए, ताकि यह समुचित व्यावहारिक परिणाम लाने वाली हो। अतः निर्वचन के मूल उपबन्धों के अर्थ अस्पष्ट, अनिश्चित या संदिग्ध अर्थ वाले होने या अन्य कोई कठिनाई होने पर न्यायालय कानून के शब्दों से परे जा सकता है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि स्वर्णिम नियम के अनुसार व्याख्या के समय निम्नलिखित बातें ध्यान में रखनी चाहिए।

- (1) संविधि में प्रयुक्त भाषा यदि स्पष्ट असंदिग्ध और सामान्य है, तो उसी के अनुरूप अर्थ दिया जाना चाहिए।
- (2) संविधि की व्याख्या विधायिका के आशय को मूर्त रूप प्रदान करने उद्देश्य से की जानी चाहिए।
- (3) यदि संविधि की भाषा अस्पष्ट हो या एकाधिक अर्थ देने वाली हो या विधायिका के आशय को स्पष्ट नहीं कर रही हो तो विधायिका के आशय तक पहुँचने के लिए व्याख्या के अन्य नियमों की सहायता ली जा सकती हैं।

प्रश्न न0 3— संविधि को परिभाषित कीजिए। संविधि के विभिन्न अंगों की व्याख्या कीजिए। संविधि एवं अधिनियमन में अन्तर स्पष्ट कीजिए।

उत्तर— संविधि एक औपचारिक कानून या नियम है। चाहे वह किसी सरकार, कंपनी या अन्य संगठन द्वारा अधिनियमित किया गया हो एक कानून आम तौर पर लिखा जाता है। स्थानीय सरकारें अपने नागरिकों पर शासन करने के लिए सभी प्रकार के कानून या लिखित कानून पारित कर सकती हैं। संविधि के वर्गीकरण का अध्ययन करने के लिए व्यक्ति को यह जानना होगा कि संविधि क्या है और फिर उसका वर्गीकरण आदि। ब्लैक लॉ डिक्शनरी ‘संविधि’ शब्द को एक विधायी प्राधिकरण के औपचारिक लिखित अधिनियम के रूप में परिभाषित करती है जो किसी देश, राज्य या शहर को नियंत्रित करता है।

अवधि के संदर्भ में वर्गीकरण इस तरह की विधा किसी संविधि को इस प्रकार वर्गीकृत करती है—

- (1) अस्थायी संविधि।
- (2) स्थायी संविधि।

(1) अस्थायी संविधि— अस्थायी कानून वह होता है, जिसकी संचालन अवधि और वैधता कानून द्वारा ही तय की गई होती है। ऐसा अधिनियम तब तक लागू रहता है, जब तक कि उसे पहले निरस्त न कर दिया जाए, जब तक कि ऐसा तय समय न हो जाए। अधिनियम की समाप्ति के बाद यदि विधायिका इसे जारी रखना चाहती है, तो एक नया अधिनियम पारित करना आवश्यक है। वित्त अधिनियम एक अस्थायी अधिनियम है और इसे हर साल पारित करना आवश्यक है। जबकि, एक स्थायी संविधि वह होता है, जिसमें ऐसी कोई अवधि का उल्लेख नहीं किया गया

होता है, लेकिन इससे संविधि अपरिवर्तनीय नहीं हो जाता है, लेकिन ऐसे संविधि को किसी अन्य अधिनियम द्वारा संशोधित या निरस्त किया जा सकता है।

(2) स्थायी संविधि— स्थायी संविधि वह होता है, जिसके अस्तित्व की समय सीमा निर्धारित नहीं की जाती है, परन्तु वे समय-समय संशोधन योग्य होती है।

स्वरूप के सन्दर्भ में संविधियों को निम्न दो प्रकारों में बाँटा गया है।

(1) आज्ञापक, आदेशात्मक या बाध्यकर संविधि— अनिवार्य संविधि वह होता है जो कुछ चीजों के प्रदर्शन को बाध्य करता है या यह बाध्य करता है कि कुछ चीजों को एक निश्चित तरीके या रूप में किया जाना चाहिए। एक निर्देशिका संविधि किसी चीज को उसके प्रदर्शन को बाध्य किए बिना केवल करने का निर्देश देता है या अनुमति देता है। कुछ मामलों में, संविधि द्वारा निर्धारित शर्तों या रूपों को इसके द्वारा विनियमित कार्य या चीज के लिए आवश्यक माना गया है और उनकी चूक को इसकी वैधता के लिए घातक माना गया है। अन्य मामलों में ऐसे नुस्खों को केवल निर्देशिका माना गया है, उनकी उपेक्षा में अधिनियम के उल्लंघन के लिए लगाए गए दंड के दायित्व के अलावा कुछ भी शामिल नहीं है।

एच.वी. कामथ बनाम अहमद इशाक में यह माना गया कि अनिवार्य प्रावधान का सख्ती से पालन किया जाना चाहिए जबकि निर्देशिका प्रावधान का पर्याप्त अनुपालन पर्याप्त है।

(2) निदेशात्मक या अनुज्ञात्मक संविधि— निदेशात्मक या अनुज्ञात्मक संविधि मात्र निर्देश देती है कि किसी कार्य किया जाये लेकिन ऐसा करने के लिए बाध्य नहीं करती।

एक आज्ञापक उपबन्ध का कठोरता से पालन करना अनिवार्य है, जबकि निदेशात्मक, उपबन्ध की मात्र सारभूत अनुपालना ही पर्याप्त है।

क्षेत्र के सन्दर्भ में संविधियों को निम्न दो प्रकारों में बाँटा जा सकता है—

(1) सार्वजनिक संविधि— जिसका सम्बन्ध सार्वजनिक नीति से जुड़े मामलों से होता है। ऐसी संविधियों का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक होता है।

(2) निजी संविधि— जिसका सम्बन्ध व्यक्तिगत मामलों से होता है।

उद्देश्य के संदर्भ में वर्गीकरण—

किसी कानून को उसके उद्देश्य के संदर्भ में इस प्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है—

(1) संहिता संविधि (2) समेकनकारी संविधि (3) घोषणात्मक संविधि (4) उपचारात्मक संविधि (5) समर्थनकारी संविधि (6) असमर्थकारी संविधि (7) दाण्डिक संविधि (8) करारोपण संविधि (9) व्याख्यात्मक संविधि (10) संशोधनकारी संविधि (11) निरसनकारी संविधि (12) विधिमान्यकारी संविधि

संविधि एवं अधिनियम में अन्तर

पहलू	कार्य	कानून
परिभाषा	किसी विशेष विषय के लिए नियमों और विनियमों की रूपरेखा तैयार करते हुए विधायी निकाय द्वारा एक विशिष्ट विधायी प्रस्ताव पारित किया जाता है।	नियमों, विनियमों, सिद्धांतों और मिसालों का पूरा समूह एक समाज को नियंत्रित करता है।
विकास	कानून बनने से पहले इसे सांसदों द्वारा तैयार किया जाता है, उस पर बहस की जाती है और मतदान किया जाता है।	कानून, सामान्य कानून, संवैधानिक प्रावधान और कानूनी मिसालों सहित विभिन्न स्रोतों से प्राप्त।
बाध्यकारी प्राधिकार	इसमें कानून की ताकत होती है और जिस क्षेत्राधिकार में इसे अधिनियमित किया जाता है, उसके अंतर्गत इसका कानूनी रूप से बाध्यकारी प्रभाव होता है।	यह मानव व्यवहार को विनियमित करने तथा शासकीय निकायों और संस्थाओं द्वारा लागू सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने के लिए रूपरेखा का प्रतिनिधित्व करता है।
दायरा	कानून के किसी विशिष्ट विषय या क्षेत्र से संबंधित, विशेष मुद्दों को संबोधित करने वाला।	इसमें कानूनी मामलों की एक विस्तृत श्रृंखला शामिल है, जिसमें सिविल कानून, आपराधिक कानून, संवैधानिक कानून, प्रशासनिक कानून आदि शामिल हैं।

वैधानिक निकाय	किसी विधायी निकाय, जैसे संसद, कांग्रेस या विधान सभा द्वारा पारित।	संसद, न्यायालयों और प्रशासनिक एजेंसियों सहित शासकीय निकायों द्वारा स्थापित और लागू किया जाता है।
निर्माण प्रक्रिया	मतदान से पहले इसका मसौदा तैयार किया जाता है, इस पर बहस की जाती है और इसे संशोधित किया जाता है तथा औपचारिक रूप से कानून बनाया जाता है।	विधायी प्रक्रियाओं, न्यायिक निर्णयों, कानूनी मिसालों और संवैधानिक प्रावधानों के माध्यम से विकसित होता है।
कानूनी पदानुक्रम	यह किसी कानूनी प्रणाली के व्यापक कानून का एक घटक हो सकता है।	यह समाज को नियंत्रित करने वाले नियमों और विनियमों के व्यापक ढांचे का प्रतिनिधित्व करता है, जिसमें विभिन्न कानूनी घटक शामिल होते हैं।
पहचान	आसान पहचान और संदर्भ के लिए इसमें अक्सर विशिष्ट शीर्षक, संख्याएं और संदर्भ होते हैं।	कानूनी सिद्धांतों, सिद्धांतों, केस नामों, कानूनी उद्धरणों या प्रासंगिक कानूनी प्रावधानों के माध्यम से पहचाना गया।

प्रश्न न0 4— निर्वचन के आन्तरिक सहायक से आप क्या समझते हैं? भारतीय संविधान के निर्वचन में प्रस्तावना के महत्व (आन्तरिक सहायक रूप के रूप में) की व्याख्या कीजिए। निर्णीत वादों का हवाला दीजिए।

उत्तर— सहायता एक ऐसा उपकरण है जो मदद करता है। निर्माण या व्याख्या के उद्देश्य से, न्यायालय को विभिन्न आंतरिक और बाह्य सहायता का सहारा लेना पड़ता है। आंतरिक सहायता का अर्थ है वे सामग्री जो कानून में ही उपलब्ध हैं, हालाँकि वे अधिनियमन का हिस्सा नहीं हो सकती हैं। इन आंतरिक सहायता में लंबा शीर्षक, प्रस्तावना, शीर्षक, हाशिए पर टिप्पणी, चित्रण, विराम चिह्न, प्रावधान, अनुसूची, संक्रमणकालीन प्रावधान आदि शामिल हैं। जब आंतरिक सहायताएँ पर्याप्त नहीं होती हैं, तो न्यायालय को बाह्य सहायता का सहारा लेना पड़ता है। बाह्य सहायताएँ संसदीय सामग्री, ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, किसी समिति या आयोग की रिपोर्ट, आधिकारिक बयान, शब्दकोश अर्थ, विदेशी निर्णय आदि हो सकती हैं।

‘आंतरिक सहायता’ का अर्थ है वे सहायताएँ जो कानून में ही उपलब्ध हैं। किसी भी अधिनियम का प्रत्येक भाग व्याख्या में मदद करता है। हालाँकि, यह समझना महत्वपूर्ण है कि क्या ये भाग कानून की व्याख्या में किसी भी तरह से मददगार हो सकते हैं। व्याख्या के लिए आंतरिक सहायताएँ इस प्रकार हो सकती हैं—

- (1) नाम या शीर्षक
- (2) सन्दर्भ व प्रस्तावना
- (3) पाश्चात्तिक-टिप्पणियाँ या हशिया-टिप्पणी
- (4) अनुसूचियाँ
- (5) उदाहरण या दृष्टान्त
- (6) स्पष्टीकरण
- (7) परन्तुक
- (8) परिभाषाएँ या निर्वचन खण्ड
- (9) शीर्षक
- (10) विराम चिह्न
- (11) अपवाद

रामाश्रय बनाम डिस्ट्रिक्ट पंचायत राज ऑफिसर गोरखपुर, ए.आई.आर 1998, इलाहाबाद 87 में इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने कहा है कि “जहाँ किसी संविधि की भाषा स्पष्ट व असंदिग्ध हो वहाँ उसका शाब्दिक अर्थ ही ग्राह्य किया जाना चाहिए। परन्तु भाषा की अस्पष्टता की स्थिति में विधायिका के आशय का पता लगाने के लिए प्रस्तावना आदि की सहायता जी जा सकती है।”

दुर्गापुर प्रोजेक्ट लि. बनाम ग्रेफाइट इण्डिया लि. ए.आई.आर. 1998 कलकत्ता 319 में कलकत्ता उच्च न्यायालय ने कहा कि “संविधियों की व्याख्या करते समय परन्तुक का सामंजस्यपूर्ण अर्थान्वयन किया जाना चाहिए। यह ध्यान रखा जाना चाहिए कि परन्तुक मूल धारा के आशय अथवा अधिरोपित बाध्यता को कम या समाप्त नहीं करता हो।”

सन्दर्भ तथा प्रस्तावना— संदिग्ध संविधि की व्याख्या में संदिग्धता दूर करने में सन्दर्भ अत्यन्त सहायक हैं। **ब्लैक स्टोन के अनुसार—** “यदि शब्द द्विविधाजनक है, तो उसके सन्दर्भ को ध्यान में रखते हुए हम उसका अर्थ निर्धारण

कर सकते हैं और ऐसा करने में एक शब्द या वाक्य की तुलना हम अन्य शब्दों या वाक्यों से करते हुए संदिग्धता—निवारण हेतु निश्चित निष्कर्ष तक पहुँच सकते हैं।”

(1) सन्दर्भ में ही प्रस्तावना सम्मिलित है:— वास्तविकता में सन्दर्भ में ही प्रस्तावना अथवा उद्देशिका सम्मिलित है। यह कानून का वह प्रास्तावनात्मक कथन होता है, जो शीर्षक के पश्चात् तृतीयांश अधिनियमनकारी खण्ड के मध्य होता है। प्रस्तावना सम्बन्धित कानून की नीति तथा प्रयोजन की घोषणा ही नहीं करती बल्कि उसके कारण तथा उससे साबित किये जाने वाले उद्देश्य को भी भी बताती है। (इन री केरल एजुकेशन बिल (1954) एस.सी.आर. 995)

(2) प्रस्तावना अधिनियम की कुंजी:— अधिनियम की प्रस्तावना एक परिचयात्मक विवरण है, जो शीर्षक के ठीक नीचे दिया रहता है। तथा यह भी बताता है कि अधिनियम द्वारा किस प्रयोजन की पूर्ति की जानी है। प्रत्येक अधिनियम के कारण या उसकी आत्मा के विशेष रूप से प्रास्तावना में देख जा सकता है। प्रस्तावना उस समय बहुत ही उत्तम रीति से और समाधानकारक रूप से विधान मण्डल के आशय को व्यक्त करने में असमर्थ होती है, जबकि अधिनियम का निर्माण होता है।

(3) वर्तमान दृष्टिकोण प्रस्तावना पर अधिक भार देना नहीं है:— आधुनिक अधिनियमों में कुछ ही अधिनियम प्रस्तावना रखते हैं, अतः प्रस्तावना का यह महत्व पतन को प्राप्त हो रहा है। कि प्रस्तावना अधिनियम का अर्थ करने में सहायक होती है। यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक अधिनियम की प्रस्तावना सदैव लाभप्रद प्रयोजन की पूर्ति कर सके अथवा आवश्यकता के समय उनसे पथ प्रदर्शन मिल सके। अतः पूर्ण अधिनियम को पढ़ना आवश्यक है।

(4) प्रस्तावना अपनी सीमा रखनी है:— यद्यपि प्रस्तावना अधिनियमों को समझने की कुंजी है, परन्तु फिर यह अपनी सीमा रखती है। प्रस्तावना का यह अभिप्राय नहीं होता कि वह अधिनियमकारी भाग के अर्थ को काट दे, प्रतिबन्धित कर दे या विस्तृत कर दे या बहुत ही बढ़ा दे, जबकि ऐसे भाग की भाषा बहुत ही साफ और स्पष्ट है।

राष्ट्रीय मिल मजदूर संघ बनाम एनटीसी (दक्षिण महाराष्ट्र) मामले में, सुप्रीम कोर्ट ने कपड़ा उपक्रम (प्रबंधन का अधिग्रहण) अधिनियम, 1983 के कुछ प्रावधानों की व्याख्या करते हुए कहा कि जब अधिनियम की भाषा स्पष्ट है, तो प्रस्तावना को कम करने के लिए लागू नहीं किया जा सकता है। या किसी अधिनियम के दायरे को सीमित करना।

भारतीय संविधान के निर्वचन में उद्देशिका (प्रस्तावना) का महत्व

इनरी बेरुबारी ए.आई.आर 1960 एस.सी. के वाद में मुख्य डायर के अनुसार उद्देशिका संविधान निर्माताओं के मस्तिष्क की कुंजी है, इससे पता चलता है कि उसके मन किस अरिष्टि का उपचार था। इसलिए संविधान के निर्वचन में उद्देशिका को विशेष महत्व दिया जाता है। भारतीय संविधान में इसका और अधिक महत्व हो जाता है। क्योंकि इसे संविधान का एक अंग माना गया है। श्री अलदि कृष्णा स्वामी जिन्होंने भारतीय संविधान के निर्माण में भाग लिया था ने कहा था ‘हमारे संविधान के उद्देशिका में वह सब अभिव्यक्त है जिसके बारे में हम अभी तक सोचते रहे और स्वप्न देखते रहे।’

केशवानंद भारती बनाम केरल राज्य ए.आई.आर 1973 एस.सी. के वाद में उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायाधिवक्ता श्री एस.एम. सीकरी ने कहा था— ‘मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि हमारे संविधान की उद्देशिका अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उद्देशिका में अभिव्यक्त महान तथा उदात्त दृष्टि के प्रकाश में संविधान को पढ़ना व निर्वचन करना चाहिए।

प्रश्न नं० 5— निम्नलिखित में किन्हीं दो पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए।

उत्तर— (1) कैसस ओमिसस (अमान्य से मान्य करना अच्छा है) — कैसस ओमिसस एक लैटिन शब्द है जिसका अर्थ है “मामला छोड़ा गया।” यह ऐसी स्थिति को संदर्भित करता है जो किसी कानून या अनुबंध द्वारा कवर नहीं की जाती है, और इसलिए, यह कैस लॉ या नए न्यायाधीश द्वारा बनाए गए कानून द्वारा शासित होती है। जब कोई कैसस ओमिसस होता है, तो कानून की व्याख्या करना और मामले के तथ्यों के आधार पर निर्णय लेना अदालतों पर निर्भर करता है।

उदाहरण के लिए, मान लीजिए कि किसी राज्य में ऐसा कानून है जिसके अनुसार सभी ड्राइवरों को गाड़ी चलाते समय सीटबेल्ट पहनना जरूरी है। हालाँकि, कानून में यह स्पष्ट नहीं किया गया है कि किस तरह की सीटबेल्ट जरूरी है। अगर किसी ड्राइवर को सीटबेल्ट न पहनने के कारण रोका जाता है और वह कंधे की बेल्ट के बजाय लैप बेल्ट पहनता है, तो यह एक कैसस ओमिसस होगा। अदालत को यह तय करना होगा कि ड्राइवर ने कानून का उल्लंघन किया है या नहीं। कैसस ओमिसस का एक और उदाहरण तब होता है जब अनुबंध में यह निर्दिष्ट नहीं किया जाता है कि किसी निश्चित स्थिति में क्या होगा। उदाहरण के लिए, यदि लीज एग्रीमेंट में यह नहीं बताया गया है कि अगर किरायेदार खिड़की तोड़ता है तो क्या होगा, तो यह कैसस ओमिसस होगा। न्यायालय को यह तय करना होगा कि नुकसान की भरपाई के लिए कौन जिम्मेदार है। संक्षेप में, कैसस ओमिसस से तात्पर्य ऐसी स्थिति से है जो किसी कानून या अनुबंध के अंतर्गत नहीं आती है, और कानून की व्याख्या करना तथा मामले के तथ्यों के आधार पर निर्णय लेना न्यायालय पर निर्भर है।

(2) संविधियों के निर्वचन में “निर्वचन खण्ड की भूमिका— यह कानून के मुख्य भाग में अन्यत्र प्रयुक्त कुछ शब्दों को परिभाषित करता है, जिसका उद्देश्य विषय-वस्तु का वर्णन करते समय बार-बार दोहराव की आवश्यकता से बचना तथा कानून के अनुसार कुछ शब्दों के स्वाभाविक अर्थ को विस्तारित करना है। यह कानून में उल्लिखित शब्दों के संबंध में विधानमंडल की मंशा को भी परिभाषित करता है तथा भ्रम से बचाता है। व्याख्या का नियम यह है कि जब भी परिभाषा में ‘साधन’ या ‘साधन’ तथा ‘शामिल’ शब्दों का प्रयोग किया जाता है, तो यह परिभाषा को संपूर्ण बना देता है तथा परिभाषा की व्यापक व्याख्या करने की अनुमति नहीं देता, लेकिन यदि परिभाषा में ‘शामिल’ शब्द का

प्रयोग किया जाता है, तो यह परिभाषा को यथासंभव व्यापक व्याख्या प्रदान करता है या शब्द के सामान्य अर्थ को विस्तृत करता है। हालांकि, यदि परिभाषा खंड के परिणामस्वरूप कोई बेतुकापन उत्पन्न होता है, तो न्यायालय ऐसी परिभाषाओं को लागू नहीं करेगा तथा एक अधिनियम के परिभाषा खंड का प्रयोग किसी अन्य कानून में प्रयुक्त उसी शब्द की व्याख्या करने के लिए नहीं किया जा सकता, सिवाय समान मामलों में कानून के मामले में।

(3) घटनाएँ स्वयं बोलती हैं— रेस इप्सा लोक्विटर (लैटिन: 'चीजें खुद बोलती हैं') सामान्य कानून और रोमन-डच कानून क्षेत्राधिकारों में एक सिद्धांत है जिसके तहत एक अदालत किसी दुर्घटना या चोट की प्रकृति से लापरवाही का अनुमान लगा सकती है, इस बात के प्रत्यक्ष साक्ष्य के अभाव में कि किसी प्रतिवादी ने टोर्ट मुकदमे के संदर्भ में कैसा व्यवहार किया। हालांकि क्षेत्राधिकार के अनुसार विशिष्ट मानदंड अलग-अलग होते हैं, लेकिन एक कार्रवाई को आम तौर पर लापरवाही के निम्नलिखित तत्वों को पूरा करना चाहिए: देखभाल के कर्तव्य का अस्तित्व, देखभाल के उचित मानक का उल्लंघन, कारण और चोट। रेस इप्सा लोक्विटर में, पहले तीन तत्वों का अस्तित्व चोट के अस्तित्व से अनुमानित किया जाता है जो आमतौर पर लापरवाही के बिना नहीं होता है।

(4) पृथक्करणिता का सिद्धान्त— स्पष्टीकरण— पृथक्करण का सिद्धांत या पृथक्करण का सिद्धांत सर्वोच्च न्यायालय द्वारा उन कानूनों की वैधता के मुद्दे को हल करने के लिए बनाया गया था जिन्हें असंवैधानिक माना जाता है और जिसके कारण यह सवाल उठाया गया था कि क्या पूरे अधिनियम को असंवैधानिक घोषित किया जाना चाहिए, भले ही पूरे अधिनियम का केवल एक हिस्सा शून्य घोषित किया गया हो। मूल रूप से यह सिद्धांत अनुच्छेद 13 से जुड़ा हुआ है क्योंकि भारतीय संविधान के अनुच्छेद 13 के माध्यम से सिद्धांत किसी भी कानून या उसके हिस्से पर न्यायिक समीक्षा के लिए दरवाजे खोलता है जो असंवैधानिक या मौलिक अधिकारों का उल्लंघन करने वाला पाया जाता है, और अनुच्छेद के अनुसार पृथक्करण के सिद्धांत का अर्थ है कि एक कानून जिसे शून्य घोषित किया जाता है वह केवल भारतीय संविधान के मौलिक अधिकारों के साथ असंगति या उल्लंघन की सीमा तक है। पृथक्करण के सिद्धांत में कहा गया है कि किसी कानून या अधिनियम में कोई प्रावधान या कानून का कोई हिस्सा भारतीय संविधान के मौलिक अधिकारों के साथ असंगत या आक्रामक है तो ऐसे अपमानजनक हिस्से को शून्य घोषित किया जाएगा न कि पूरे कानून या अधिनियम को। इस सिद्धांत का मूल उद्देश्य केवल उस बुरे प्रावधान को हटाना है जो भारतीय संविधान के तहत मौलिक अधिकारों का उल्लंघन करता है, न कि पूरे कानून को। इसलिए किसी भी अधिनियम में यदि अच्छे और बुरे प्रावधानों को और या या द्वारा एक साथ जोड़ा जाता है तो ऐसे मामले में यदि अच्छा प्रावधान बुरे प्रावधान पर निर्भर नहीं है तो बुरे प्रावधान को अलग किया जा सकता है और उसे शून्य घोषित किया जा सकता है और अच्छे प्रावधान को अभी भी वैध माना जाएगा। हालांकि ऐसे मामले में जहाँ पूरा कानून या अधिनियम किसी बुरे प्रावधान (मौलिक अधिकारों का उल्लंघन करने वाला प्रावधान) पर निर्भर है और यह पूरे कानून का सार है और ऐसे प्रावधान को हटाने के बाद पूरा कानून किसी काम का नहीं रह जाएगा तो ऐसे मामले में जहाँ बुरे प्रावधान को अलग करना असंभव हो जाता है, न्यायालय को पूरे अधिनियम को शून्य घोषित करने का अधिकार है।

उत्पत्ति

पृथक्करण का सिद्धांत कोई नई बात नहीं है, इसे हाल ही में अपनाया भी नहीं गया है। मूल रूप से इस सिद्धांत की उत्पत्ति इंग्लैंड, यूनाइटेड किंगडम में नॉर्डनफेल्ड बनाम मैक्सिम नोर्डनफेल्ड गन्स एंड एम्युनिशन कंपनी लिमिटेड के एक मामले से हुई थी और वर्ष 1876 में संयुक्त राज्य अमेरिका के एक मामले में पृथक्करण के सिद्धांत का पहला मामला तय किया गया था। इस सिद्धांत को ऊपर बताए गए देशों के अलावा ऑस्ट्रेलिया, भारत और मलेशिया जैसे कई अन्य देशों में भी अपनाया गया है।

भारत ने अपने संविधान के लिए अन्य देशों से सर्वश्रेष्ठ विशेषताओं को चुना था जैसे कि अमेरिका से मौलिक अधिकार और यूनाइटेड किंगडम से पृथक्करण का सिद्धांत और पृथक्करण के सिद्धांतों को अपनाकर भारत "प्राकृतिक न्याय" के सिद्धांत को कायम रखता है।

प्रश्न न0 6— अपराधिक विधि/दाण्डिक विधि के निर्वचन से सम्बन्धित के नियमों की व्याख्या कीजिए।

उत्तर— सख्त व्याख्या न्यायालय की शक्ति को कानून की भाषा तक सीमित कर देती है। सख्त व्याख्या के लिए न्यायालय को पाठ को उसी रूप में लागू करना होता है जैसा कि लिखा गया है, और पाठ का अर्थ बताए जाने के बाद आगे नहीं। यदि भाषा स्पष्ट और साफ है और अस्पष्टता की कोई गुंजाइश नहीं है, तो न्यायाधीश को भाषा के स्पष्ट अर्थ को लागू करना चाहिए और ऐसे अन्य साक्ष्य पर विचार नहीं करना चाहिए जो अर्थ को बदल दे। हालांकि, यदि न्यायालय पाता है कि शब्द ने बेतुकापन, अस्पष्टता या कानून की भाषा में कोई दोष कम कर दिया है, तो स्पष्ट अर्थ लागू नहीं होता है और एक निर्माण किया जा सकता है। किसी प्रावधान को तब सख्ती से व्याख्यायित कहा जाता है जब पाठ की भाषा अस्पष्ट हो और उसके सटीक और तकनीकी अर्थ में कोई अन्य न्यायसंगत विचार या उचित निहितार्थ नहीं किए जा सकते।

दंड कानून— कोई भी कानून जो किसी व्यक्ति पर दंडात्मक दायित्व लगाता है जो कानून के प्रावधान के अनुसार किसी अपराध का दोषी पाया जाता है, उसे दंड कानून कहा जाता है। इस प्रकार आवश्यक घटक कुछ कार्यों या गलतियों को दंडित करना है। दंड शब्द का अर्थ है राज्य के आदेश द्वारा किसी व्यक्ति को दी जाने वाली किसी प्रकार की सजा। ऐसे कुछ कानूनों के उदाहरण हैं भारतीय दंड संहिता, 1860, भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम, 1988, खाद्य अपमिश्रण निवारण अधिनियम, 1954 आदि। कानून की अवज्ञा के लिए दंड जुर्माना, संपत्ति की जब्ती,

कारावास और यहां तक कि मौत के रूप में भी हो सकता है। जहां कानून का पालन किसी व्यक्तिगत कार्रवाई से नहीं बल्कि दंड के रूप में कानून के आदेश द्वारा लागू किया जाता है, वहां कानून दंडात्मक होता है। दंड तभी लगाया जा सकता है जब कानून का पत्र स्पष्ट रूप से ऐसा कहता हो और किसी भी संदेह का समाधान कथित अपराधी के पक्ष में किया जाना चाहिए।

दंड कानून की सख्त व्याख्या—

दंड कानून में प्रावधान बनाते समय यदि कोई उचित संदेह या अस्पष्टता प्रतीत होती है, तो इसे उस व्यक्ति के पक्ष में हल किया जाएगा जो दंड के लिए उत्तरदायी होगा। यदि किसी दंडात्मक प्रावधान की तर्कसंगत रूप से इस तरह व्याख्या की जा सकती है कि दंड से बचा जा सके, तो उसे केवल उसी तरह से समझा जाना चाहिए।

हालांकि, यदि कोई दिया गया प्रावधान दंडात्मक प्रावधान की दो उचित व्याख्या करने में सक्षम है, तो उस पर विचार किया जाना चाहिए जो अधिक उदार है। किसी व्यक्ति को दंड तभी दिया जा सकता है जब दंडात्मक प्रावधान के स्पष्ट शब्द बिना किसी अर्थ के विस्तार के उस व्यक्ति को उसके दायरे में लाने की क्षमता रखते हों।

कानून की सख्ती से व्याख्या करते समय कानून की भावना को ध्यान में नहीं रखा जाता है, इसलिए किसी कानून के वांछित उद्देश्य के आधार पर दंड नहीं लगाया जा सकता है।

मैक्सवेल के अनुसार, दंडात्मक कानूनों का सख्त निर्माण निम्नलिखित तरीकों से प्रकट होता है—

(1) अपराध के निर्माण के लिए स्पष्ट भाषा की आवश्यकता में;

दंड देने से पहले वैधानिक शर्तों को अक्षरशः पूरा करने की आवश्यकता में अपराध के तत्वों को निर्धारित करने वाले

(2) शब्दों की सख्ती से व्याख्या करने में;

(3) दंड प्रक्रिया और अधिकार क्षेत्र से संबंधित तकनीकी प्रावधानों के सख्त पालन पर जोर देने में।

जब तक किसी कानून में दिए गए शब्द स्पष्ट रूप से यह संकेत न दें कि कोई कृत्य आपराधिक है, तब तक उसे आपराधिक नहीं माना जाएगा। न्यायालय का यह कर्तव्य है कि वह किसी व्यक्ति को तभी दण्डित करे जब मामले की परिस्थितियाँ कानून के अनुसार स्पष्ट रूप से हों। दंड लगाने के संबंध में अधिकार क्षेत्र और प्रक्रिया से संबंधित सभी विधानों की व्याख्या और व्याख्या सख्ती से की जानी चाहिए। न्यायालय का यह सबसे बड़ा कर्तव्य है कि वह देखे कि अभियुक्त को दण्ड देने से पहले कानून में दंड के संबंध में दी गई सभी प्रक्रियात्मक आवश्यकताओं का विधिवत अनुपालन किया गया है। ऐसे मामलों में किसी भी संदेह की स्थिति में, संदेह का लाभ अभियुक्त को मिलता है। ऐसा लाभ कानून की तकनीकीता के आधार पर अभियुक्त को बरी करने तक जा सकता है। दंड संबंधी कानून भावी संचालन के सिद्धांत का पालन करते हैं। भावी संचालन कहता है कि, यदि कोई उचित व्याख्या है जिसके द्वारा दंड से बचा जा सकता है, तो उस व्याख्या को स्वीकार किया जाना चाहिए।¹⁸ और ऐसे मामलों में जहां किसी प्रावधान की विभिन्न तरीकों से उचित व्याख्या की जा सकती है, उस विशिष्ट व्याख्या से बचना चाहिए जो कठिनाई या अन्याय का कारण बनती है।

इस प्रकार दंडात्मक कानून की व्याख्या के दौरान इस बात पर ध्यान दिया जाना चाहिए कि दंड या जुर्माना तभी लगाया जा सकता है जब अभियुक्त का आचरण स्पष्ट रूप से कानून के दायरे में आता हो।

दंडात्मक परिणामों को शामिल करने वाला कोई भी अधिनियम किसी भी मामले में हिंसा की अनुमति नहीं देता है, जिसका इस्तेमाल ऐसी भाषा में किया जाता है जिससे वह अधिनियम के स्पष्ट शब्दों के भीतर आ जाए। हालांकि यह सच है कि, किसी दंडात्मक कानून की कभी भी इस तरह से व्याख्या नहीं की जानी चाहिए कि उसके शब्दों को सीमित करके ऐसे मामलों को बाहर रखा जाए जो सामान्य रूप से उसके दायरे में आते हैं।

मोतीबाई बनाम आर. प्रसाद (1970) यह कहा गया कि न्यायालय को दंड विधान की व्याख्या करते समय अपने आप नए शब्द जोड़ने का प्रयास नहीं करना चाहिए। न्यायालयों को दंड विधान की व्याकरणिक व्याख्या करनी होती है।

स्पाइसर बनाम होल्ट (1976) न्यायालय ने यह स्पष्ट किया कि यदि दंड विधान में कोई खामी पाई जाती है, तो न्यायाधीशों को उसे ठीक करने का अधिकार नहीं है, क्योंकि इस सिद्धांत से अलग हटना खतरनाक है कि किसी नागरिक को यह दावा करने का अधिकार है कि उसका आचरण चाहे कितना भी दंडनीय क्यों न लगे, उसे तब तक दोषी नहीं ठहराया जाना चाहिए जब तक कि उसका आचरण उस अपराध की परिभाषा के अंतर्गत न आता हो जिसके लिए उस पर आरोप लगाया गया है।

भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम, 1988

भारत दशकों से भ्रष्टाचार की बीमारी से पीड़ित है। भ्रष्टाचार को व्यापारियों, राजनेताओं, सर्वोच्च नेताओं और यहाँ तक कि लोक सेवकों के बीच एक आम बात के रूप में देखा गया है। भ्रष्टाचार को भारत के विकास में एक बड़ी बाधा के रूप में देखा जाता है, और इस बुराई से लड़ना और इसे भारत की प्रगति में बाधा बनने से रोकना अनिवार्य है। शुरू में भारत में भ्रष्टाचार से निपटने के लिए भारतीय दंड संहिता, 1860 थीय इसके बावजूद, यह देखा गया कि यह संहिता रिश्वतखोरी और भ्रष्टाचार के अपराध के लिए उचित प्रावधान प्रदान करने में अपर्याप्त थी और भ्रष्टाचार के उभरते मुद्दे के लिए एक अधिक कुशल अधिनियम बनाने की आवश्यकता थी। बाद में, भ्रष्टाचार को नियंत्रण में रखने और अपराधियों को दंडित करने के लिए आपराधिक कानून अध्यादेश, 1944य केंद्रीय सतर्कता आयोग आदि की स्थापना की गई। हालांकि, वर्ष 1988 में भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम की स्थापना की गई, जिसने इन सभी अधिनियमों को समेकित किया और विशेष रूप से लोक सेवकों द्वारा भ्रष्टाचार की रोकथाम के लिए एक अधिक कठोर और सटीक कानून बनाया और दिए गए प्रावधानों का उल्लंघन करने वाले किसी भी व्यक्ति को दंडित

किया। अधिनियम लोक सेवकों पर दंडात्मक दायित्व लगाता है, हालाँकि कुछ प्रावधानों के तहत अधिनियम का दायरा निजी व्यक्तियों तक भी फैला हुआ है।

प्रश्न न0 7— आधुनिक संविधियों के निर्वचन में हेडन वाद के महत्व की व्याख्या कीजिए।

उत्तर— शरारत नियम एक निश्चित नियम है जिसे न्यायाधीश संसद की मंशा जानने के लिए वैधानिक व्याख्या में लागू कर सकते हैं। इस नियम का प्रयोग न्यायाधीश को शाब्दिक और स्वर्णिम नियम की तुलना में अधिक विवेक देता है क्योंकि यह उसे संसद की मंशा पर प्रभावी ढंग से निर्णय लेने की अनुमति देता है। यह तर्क दिया जा सकता है कि यह संसद की सर्वोच्चता को कमजोर करता है और अलोकतांत्रिक है क्योंकि यह कानून बनाने के निर्णयों को विधायिका से दूर ले जाता है। विधायी मंशा माध्यमिक स्रोतों, जैसे समिति की रिपोर्ट, ग्रंथ, कानून समीक्षा लेख और संबंधित कानूनों की जांच करके निर्धारित की जाती है। इस नियम का उपयोग अक्सर उन मामलों में अस्पष्टताओं को हल करने के लिए किया जाता है जिनमें शाब्दिक नियम लागू नहीं किया जा सकता है लेकिन संबंधित समस्या यह है कि यह नियम यह हासिल करने में मदद करता है कि संसदीय मंशा के कारण इस नियम का उपयोग सीमित है। इसलिए लेखक के अनुसार, शरारत नियम के इस आधुनिक उपयोग को वैधानिक निर्माण की आधुनिक विधि के रूप में वर्णित घटकों में से एक के रूप में समझा जाना चाहिए, न कि एक स्टैंड-अलोन नियम के रूप में (जैसा कि पहले था), सादे अर्थ नियम और स्वर्णिम नियम द्वारा प्रस्तावित निर्माण के तरीकों के विकल्प के रूप में।

जब हम संसद के किसी अधिनियम को पढ़ते हैं तो सबसे पहले और बुनियादी बात यह ध्यान देने योग्य है कि यह किसी किताब या अखबार को पढ़ने जैसा नहीं है। विधायी पाठ को न्यायाधीशों और स्वयं कानून द्वारा तय किए गए सिद्धांतों और नियमों के अनुसार पढ़ा जाना चाहिए। अर्थ को समझने के लिए एक विशेष कौशल की आवश्यकता होती है। यह परियोजना इस विषय पर संक्षेप में चर्चा करेगी, लेकिन उम्मीद है कि यह इस बात की बेहतर समझ प्रदान करेगी कि न्यायाधीश समस्याओं का समाधान कैसे करते हैं। डेविड ह्यूम ने एक बार पोप के निबंध ऑन मैन का संदर्भ देते हुए पूछा था कि क्या सरकार के एक रूप और दूसरे रूप के बीच कोई आवश्यक अंतर है और क्या हर रूप को अच्छा या बुरा नहीं माना जाना चाहिए, इस आधार पर कि उसका प्रशासन अच्छा है या बुरा। ऐसे ही प्रश्न किसी भी व्यक्ति के मन में आ सकते हैं जो कानून की व्याख्या को नियंत्रित करने वाले सिद्धांत और व्यवहार की जांच करना शुरू करता है। क्या कानून की व्याख्या वास्तव में उन नियमों पर निर्भर करती है जो इसे विनियमित करने वाले हैं? क्या न्यायाधीश अपने दृष्टिकोण और क्षमता के अनुसार इन तथाकथित नियमों का उपयोग किसी ऐसे निर्णय को सही ठहराने के लिए नहीं करता है जिस पर वह पहले ही अन्य आधारों पर पहुँच चुका है? और क्या विधि आयोगों को, कानूनों की व्याख्या की जांच शुरू करने से पहले, खुद से पूछना चाहिए था कि क्या उनकी यात्रा वास्तव में आवश्यक थी? पोप को ह्यूम का उत्तर इन सवालों का एक उत्तर सुझाता है। उन्होंने कहा, उन्हें खेद होगा, यह सोचने के लिए कि मानवीय मामलों में किसी विशेष व्यक्ति के स्वभाव और चरित्र से प्राप्त स्थिरता से अधिक स्थिरता नहीं होती है। लेकिन आज कानूनों की व्याख्या के लिए लागू होने पर, यह उत्तर असंतोषजनक है। यह सच है कि एक न्यायाधीश किसी कानून की नीति के लिए कुछ नापसंदगी व्यक्त या प्रकट कर सकता है और यह स्वीकार करने में कुछ अनिच्छा हो सकती है कि इसका उद्देश्य न केवल उसकी व्यक्तिगत पसंद (जिस पर वह निश्चित रूप से विवाद नहीं करेगा) बल्कि आम कानून के एक लंबे समय से स्थापित सिद्धांत को भी खत्म करना है। यह अनिच्छा अभी भी सबसे अधिक व्यावहारिक महत्व की हो सकती है, यह एलन बनाम थॉर्न इलेक्ट्रिकल इंडस्ट्रीज में कोर्ट ऑफ अपील के फैसले में देखा जा सकता है। उदाहरण के लिए, **विन्न एल.जे.** ने उस मामले में न्यायाधीश की भूमिका को, वास्तव में, कानून के अतिक्रमण के विरुद्ध सामान्य कानून के संरक्षक के रूप में, निम्नलिखित बहुत ही मजबूत शब्दों में वर्णित किया:

“मुझे किसी भी ऐसे तर्क को पूरी तरह से अस्वीकार्य मानकर खारिज करना चाहिए, जो किसी भी मामले में पाया जाता है।

(क) कि किसी कानून में किसी विशेष मामले में अस्पष्टता है, और

(ख) यह भी स्पष्ट संकेत मिलता है कि संसद का इरादा था कि उनका यथासंभव कठोरतम और सबसे कठोर अर्थ होना चाहिए, इसलिए न्यायालय को इस धारा को उस अर्थ में व्याख्यायित करने के लिए बाध्य होना पड़ता है जिस अर्थ में संसद चाहती है कि यह प्रभावी हो, शब्दों को यथासंभव कठोरतम अर्थ देकर।

इसके विपरीत, मुझे लगता है कि सही दृष्टिकोण यह है, और मैं समझता हूँ कि हमेशा से यही रहा है, कि अस्पष्टता के ऐसे मामले में, इसे इस तरह से हल किया जाता है कि कानून आम जनता के लिए कम बोझिल हो जाए और इस तरह से कम हस्तक्षेप हो, जबकि अधिक कठोर अर्थ में ऐसे अधिकार और स्वतंत्रताएँ विद्यमान संविदात्मक दायित्वों के साथ होंगी।” फिर भी मैं यह नहीं मानता कि हम केवल इस आधार पर कानूनों की व्याख्या की जाँच को उचित ठहरा सकते हैं कि न्यायपालिका कानूनों को इस आधार पर देखती है कि वे जिस समाज में रहते हैं, उसके सामान्य रूप से स्वीकृत मूल्य क्या हैं, या क्योंकि वे कानूनों को कुछ हद तक उन मूल्यों के संदर्भ में पढ़ते हैं। दूसरी ओर, मैं यह सुझाव देने से बहुत दूर हूँ कि व्याख्या की वर्तमान प्रणाली न्यायाधीश को यह निर्धारित करने में सभी सहायता प्रदान करती है कि क्या किसी कानून के शब्द वास्तव में अस्पष्ट हैं। यदि मैं कुछ शब्दों में वर्किंग पेपर के अंतर्निहित तर्क को रख सकता हूँ, तो मुझे यह कहने का प्रलोभन होगा कि जैसे अर्थ के रंग होते हैं, वैसे ही अस्पष्टता के भी रंग होते हैं कि विधिक व्याख्या में हमारी परंपरा की प्रवृत्ति बहुत अधिक तीखे भेद

करने की रही है, जिससे न्यायिक कार्य में सरलता का भ्रामक आभास होता है तथा न्यायाधीश की सहायता के लिए और अधिक किया जा सकता है, जो सीमांत मामले में हमेशा बहुत बड़ी कठिनाई का कार्य रहेगा। विधियों की व्याख्या के संबंध में विधि आयोगों के समक्ष आरंभ में जो प्रश्न आए, उनका बेहतर उत्तर यह स्वीकार करके शुरू होना चाहिए कि विधियों की व्याख्या के लिए जो भी नियम बनाए गए हैं, उस कार्य में विज्ञान के बजाय कला के बहुत से गुण हैं तथा विधियों की प्रेरित व्याख्या कुछ नियमों के यांत्रिक अनुप्रयोग द्वारा प्राप्त नहीं की जा सकती, ठीक उसी प्रकार जैसे रिकटर के योग्य पियानो पर प्रदर्शन स्वतः ही चेर्नी के अभ्यासों पर परिश्रमपूर्वक ध्यान देने के बाद प्राप्त नहीं हो सकता।

लेकिन यदि हम विधियों की व्याख्या के लिए नए नियमों की एक व्यापक संहिता तैयार करने के किसी भी इरादे को त्याग देते हैं, तो भी हम एक अधिक विनम्र जांच को उचित ठहरा सकते हैं तथा वास्तव में एक अन्य संगीत सादृश्य द्वारा इसके उद्देश्य को स्पष्ट कर सकते हैं। एक महान पियानोवादक भी एक खराब वाद्य से बाधित हो सकता है। विधि आयोगों का उद्देश्य यह पता लगाना है कि वर्तमान विधि और व्यवहार, जिसे न्यायाधीश को व्याख्या के कार्य में मार्गदर्शन और सहायता प्रदान करनी है, वास्तव में उस कार्य को किस हद तक पूरा करता है यह निर्धारित करना कि विधियों की व्याख्या के इर्द-गिर्द मौजूद ज्ञान के विशाल भंडार का कितना हिस्सा उस कार्य के प्रकाश में सार्थक है और ऐसे प्रस्ताव बनाना जो न केवल यह सुनिश्चित करेंगे कि विधियों की बेहतर व्याख्या की जाए, बल्कि कम से कम न्यायाधीश के पास एक ऐसा संवेदनशील और लचीला साधन उपलब्ध कराया जाए जो आधुनिक कानून की विभिन्न और जटिल मांगों का जवाब देने के लिए पर्याप्त रूप से संवेदनशील और लचीला हो।

लॉर्ड सिमंड्स के कथन में अस्पष्टता से मुक्त तथाकथित स्पष्ट अर्थ की अवधारणा और **हेडन के मामले** द्वारा बल दिए गए विधि की शरारत की अवधारणा के बीच जो संबंध स्थापित किया गया है, वह कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। यहाँ फिर से मैं कोष्ठक में कहूँगा कि हमें स्वर्णिम नियम पर बहुत अधिक शब्द खर्च करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि जब कोई न्यायालय गहन परीक्षण पर यह निर्णय लेता है कि सामान्य उपयोग के संदर्भ में पढ़े जाने वाले किसी कानून के विशेष शब्द बेतुके हैं, तो इसका तात्पर्य, यद्यपि प्रायः मौन रूप से, यह होता है कि निर्माण बेतुका है क्योंकि यह कानून की सामान्य नीति की न्यायालय की अवधारणा के साथ असंगत है दूसरे शब्दों में, स्वर्णिम नियम अनिश्चित और अस्पष्ट अनुप्रयोग के शरारत नियम का एक प्रच्छन्न संस्करण बन जाता है।

जहाँ तक शरारत नियम का संबंध है, आपने देखा होगा कि लॉर्ड सिमंड्स स्वीकार करते हैं कि शरारत संदर्भ का हिस्सा है और वे कहते हैं कि कानून की अन्य धाराएँ, प्रस्तावना, कानून की मौजूदा स्थिति और समान रूप से अन्य कानूनों का उपयोग उस शरारत पर प्रकाश डालने के लिए किया जा सकता है। लेकिन आपने यह भी देखा होगा कि वे शरारत का पता लगाने के लिए "अन्य वैध" लेकिन अनिर्दिष्ट साधनों का उल्लेख करते हैं। यह हमें हेडन के मामले में नियम से जुड़ी केंद्रीय समस्या लगती है, जिसमें कई मामलों में इसकी सिफारिश करने के लिए बहुत कुछ है। हेडन केस में दिए गए नियम को वैधानिक प्रभाव देने तथा इसे वैधानिक व्याख्या का केन्द्रीय सिद्धांत बनाने के लिए अनेक राष्ट्रमंडल देशों में जो प्रयास किए गए हैं, उनसे निराशाजनक परिणाम सामने आए हैं, क्योंकि इस बारे में बहुत कम मार्गदर्शन दिया गया है कि शरारत का पता कैसे लगाया जाए।

वैधानिक व्याख्या का शरारत नियम सबसे पुराना नियम है। शरारत नियम की स्थापना हेडन के मामले में की गई थी। री ससेक्स पीरेज में, यह माना गया कि शरारत नियम को केवल तभी लागू किया जाना चाहिए जब कानून में अस्पष्टता हो। शरारत नियम के तहत अदालत की भूमिका उस शरारत को दबाना है जिसका उद्देश्य अधिनियम है और उपाय को आगे बढ़ाना है।

शरारत नियम— जहाँ तक कानून की व्याख्या का सवाल है, यह एक बहुत ही महत्वपूर्ण नियम है। इसे अक्सर हेडन के मामले में नियम"i के रूप में संदर्भित किया जाता है। 16वीं शताब्दी में लॉर्ड कोक द्वारा रिपोर्ट किए गए और राजकोष के बैरन द्वारा तय किए गए इस बहुत ही महत्वपूर्ण मामले में निम्नलिखित नियम निर्धारित किए गए थे:

सामान्य रूप से सभी कानूनों की सुनिश्चित और सच्ची व्याख्या के लिए, चाहे वे दंडात्मक हों या लाभकारी, प्रतिबंधात्मक हों या सामान्य कानून का विस्तार करने वाले हों चार बातों पर विचार किया जाना चाहिए —

- (1) अधिनियम पारित होने से पहले सामान्य कानून क्या था?
- (2) वह शरारत और दोष क्या था जिसके लिए सामान्य कानून में प्रावधान नहीं था?
- (3) संसद ने 'राष्ट्रमंडल की बीमारी' को ठीक करने के लिए क्या उपाय किया और नियुक्त किया।
- (4) उपाय के लिए सही कारण।

और फिर सभी न्यायाधीशों का कार्यालय हमेशा ऐसा निर्माण करना है जो शरारत को दबा दे और उपाय को आगे बढ़ाए। आगे बढ़ने से पहले, चेतावनी का एक शब्द उचित है। लॉर्ड कोक द्वारा अपनी रिपोर्ट में इस्तेमाल किए गए सटीक शब्दों — 'राष्ट्रमंडल की बीमारी' का उपयोग करता है और यह ध्यान रखना महत्वपूर्ण है कि शब्दों के अलग-अलग अर्थ होते हैं। लेखन के समय उनके अर्थ की खोज करना आवश्यक है। 14वीं शताब्दी से 17वीं शताब्दी के अंत तक, बीमारी का अर्थ सहजता की कमी, बेचौनी या संकट था और राष्ट्रमंडल का अर्थ निश्चित रूप से देश था।

एक प्रारंभिक मामले के अनुसार, **द लॉनाफोर्ड (1889) 14 पी.डी. 34** एक अधिनियम की व्याख्या इस तरह से की जानी चाहिए जैसे कि कोई इसे उस दिन व्याख्या कर रहा हो जिस दिन इसे पारित किया गया था। इस प्रकार, हम खुद से पूछते हैं कि जिस दिन यह शब्द बोला गया था उस दिन इसका क्या मतलब था यदि सादृश्य द्वारा हम तर्क देते हैं कि एक निर्णय के बारे में भी यही कहा जा सकता है। आपराधिक कानून में शरारत नियम के महत्व को उदाहरणों पर विचार करके सबसे अच्छी तरह से दिखाया जा सकता है। संसद का एक अधिनियम उस उद्देश्य को बताएगा जिसके लिए इसे अधिनियमित किया गया था। अगर हम **पार्किन बनाम नॉर्मन [1982, 2 ऑल ई.आर. 583]**, (आरक्षित निर्णय) का मामला लें, तो यह देखा जा सकता है कि न्यायालय ने निर्णय लिया कि **सार्वजनिक आदेश अधिनियम 1936** को सार्वजनिक शौचालयों में समलैंगिक व्यवहार से निपटने के लिए कभी नहीं बनाया गया था। अधिनियम का लंबा शीर्षक इस प्रकार है—

“राजनीतिक उद्देश्यों के संबंध में वर्दी पहनने और निजी व्यक्तियों द्वारा सैन्य या इसी तरह के चरित्र के संगठनों के रखरखाव पर रोक लगाने के लिए एक अधिनियम और सार्वजनिक जुलूसों और बैठकों और सार्वजनिक स्थानों पर सार्वजनिक व्यवस्था के संरक्षण के लिए और प्रावधान करने के लिए।”

अधिनियम और शरारत नियम के उद्देश्य, इसलिए, निकटता से जुड़े हुए हैं, और लंबे शीर्षक को देखना बहुत ही वास्तविक है। शरारत नियम के आवेदन का एक और उदाहरण **ओहिसन बनाम हिल्टन [1975, 2 ऑल ई.आर. 490]** में पाया जाता है। तथ्य, संक्षेप में, यह थे कि एक बढ़ई काम से घर जा रहा था। वह एक ट्रेन में चढ़ गया जो भीड़भाड़ वाली थी। एक अन्य यात्री ने विरोध किया और बाद में दोनों प्लेटफॉर्म पर समाप्त हो गए। प्रतिवादी, बढ़ई ने अपने ब्रीफकेस से अपने पेशे का एक औजार, हथौड़ा निकाला और दूसरे व्यक्ति पर उससे वार किया। उस पर अपराध निवारण अधिनियम 1953 के तहत आरोप लगाया गया था। लॉर्ड विडगेरी, सी.जे. ने अन्य बातों के साथ-साथ कहा—

“यह एक ऐसा मामला है जिसमें कानून जिस शरारत पर लक्षित है, वह मुझे बहुत स्पष्ट प्रतीत होती है। 1953 के अधिनियम के पारित होने से ठीक पहले आपराधिक कानून आपराधिक हमले के दौरान हथियारों के वास्तविक उपयोग से निपटने के लिए पर्याप्त था। हालाँकि, जहाँ इसकी कमी थी, वह यह थी कि केवल आक्रामक हथियारों को ले जाना अपराध नहीं था। अधिनियम का लंबा शीर्षक इस प्रकार है—

‘कानूनी अधिकार या उचित बहाने के बिना सार्वजनिक स्थानों पर आक्रामक हथियारों को ले जाने पर रोक लगाने के लिए एक अधिनियम’। संसद निवारक न्याय की आवश्यकता को पहचान रही है, जहाँ सार्वजनिक स्थान पर आक्रामक हथियारों को ले जाने पर रोक लगाकर, इसने ऐसे हथियारों के उपयोग के अवसर को कम कर दिया है। अगर, फिर भी, अभियोक्ता सही है, तो इसका दायरा लक्षित शरारत से कहीं आगे तक जाता है, और हर मामले में जहाँ हथियार से और सार्वजनिक स्थान पर हमला किया जाता है, हमले के आरोप के अलावा 1953 अधिनियम के तहत अपराध का आरोप लगाया जा सकता है। आक्रामक हथियारों के विषय पर, गिब्सन बनाम वेल्स (1983) 147 जे.पी. 143 में डिवीजनल कोर्ट के फैसले का उल्लेख किया जाना चाहिए, जिसने फैसला किया कि “पिलक चाकू” अपने आप में एक आक्रामक हथियार है।

रॉयल कॉलेज ऑफ नर्सिंग बनाम डीएचएसएस रॉयल कॉलेज ऑफ नर्सिंग ने गर्भपात कराने में नर्सों की भागीदारी की वैधता को चुनौती देने वाली एक कार्रवाई की। व्यक्ति के विरुद्ध अपराध अधिनियम 1861 के अनुसार किसी भी व्यक्ति द्वारा गर्भपात कराना अपराध है। गर्भपात अधिनियम 1967 में प्रावधान किया गया था कि चिकित्सकीय रूप से पंजीकृत व्यवसायी (यानी डॉक्टर) के लिए गर्भपात कराना पूर्ण बचाव होगा, बशर्ते कि कुछ शर्तें पूरी हों। चिकित्सा विज्ञान में प्रगति का मतलब था कि सर्जिकल गर्भपात को बड़े पैमाने पर हार्मोनल गर्भपात से बदल दिया गया था और नर्सों द्वारा इनका संचालन करना आम बात थी। यह माना गया नर्सों के लिए इस तरह के गर्भपात करना कानूनी था। अधिनियम का उद्देश्य उन पिछड़े इलाकों में गर्भपात को खत्म करना था, जहाँ कोई चिकित्सा देखभाल उपलब्ध नहीं थी। इसलिए नर्सों की हरकतें 1861 के अधिनियम की शरारत से बाहर थीं और 1967 के अधिनियम में विचाराधीन बचाव के दायरे में थीं।

कॉर्करी बनाम कारपेंटर प्रतिवादी शराब के नशे में साइकिल चला रहा था। लाइसेंसिंग अधिनियम 1872 की धारा 12 के अनुसार राजमार्ग पर ‘गाड़ी’ के प्रभारी के रूप में नशे में होना अपराध है। यह माना गया

अदालत ने शरारत नियम लागू किया और माना कि साइकिल चलाना अधिनियम की शरारत के अंतर्गत आता है क्योंकि प्रतिवादी खुद और अन्य सड़क उपयोगकर्ताओं के लिए खतरा पैदा करता है। लाइसेंसिंग अधिनियम 1872 की धारा 12 के अनुसार, राजमार्ग पर गाड़ी के प्रभारी के रूप में नशे में पाए जाने वाले व्यक्ति को बिना वारंट के गिरफ्तार किया जा सकता है। एक व्यक्ति को साइकिल के प्रभारी के रूप में नशे में गिरफ्तार किया गया था। सादे अर्थ नियम के अनुसार बाइक गाड़ी नहीं है। शरारत नियम के तहत साइकिल एक गाड़ी हो सकती है। जिस शरारत को दूर करने का प्रयास किया जा रहा था, वह यह थी कि लोग नशे में सड़क पर परिवहन कर रहे थे। इसलिए साइकिल को गाड़ी के रूप में वर्गीकृत किया जा सकता है।

बंगाल इम्युनिटी कंपनी बनाम बिहार राज्य कानून के संदर्भ में, शरारत नियम वैधानिक व्याख्या का एक नियम है जो विधायक के इरादे को निर्धारित करने का प्रयास करता है। यूनाइटेड किंगडम में 16वीं शताब्दी के एक मामले से उत्पन्न, इसका मुख्य उद्देश्य शरारत और दोष को निर्धारित करना है जिसे विचाराधीन कानून ने ठीक करने के लिए निर्धारित किया है, और कौन सा निर्णय इस उपाय को प्रभावी रूप से लागू करेगा। जब भौतिक शब्द दो या

अधिक निर्माणों को वहन करने में सक्षम होते हैं, तो ऐसे शब्दों के निर्माण के लिए प्सामान्य रूप से सभी कानूनों में से सबसे मजबूती से स्थापित नियम हेडन के मामले में निर्धारित नियम है जिसे शरारत नियम के रूप में भी जाना जाता है। इस नियम को उद्देश्यपूर्ण निर्माण के रूप में भी जाना जाता है। नियम यह निर्धारित करते हैं कि न्यायालय को वह निर्माण अपनाना चाहिए जो शरारत को दबाए और उपाय को आगे बढ़ाए।

भारतीय संदर्भ में, नियम को बंगाल इम्युनिटी कंपनी बनाम बिहार राज्य के मामले में सबसे अच्छी तरह से समझाया गया था। अपीलकर्ता कंपनी एक निगमित कंपनी है जो विभिन्न सीरा, टीके, जैविक उत्पाद और दवाइयों के निर्माण और बिक्री का व्यवसाय करती है। इसका पंजीकृत मुख्यालय कलकत्ता में है तथा इसकी प्रयोगशाला और कारखाना पश्चिम बंगाल के 24-परगना जिले के बरानगर में है। यह बंगाल वित्त (बिक्री कर) अधिनियम के तहत एक डीलर के रूप में पंजीकृत है तथा इसका पंजीकृत नंबर एस.एल. 683ए है। इसके उत्पादों की पूरे भारत संघ तथा विदेशों में व्यापक बिक्री होती है। माल को कलकत्ता से रेल, स्टीमर या हवाई जहाज द्वारा कलकत्ता में अपीलकर्ता कंपनी द्वारा स्वीकार किए गए आदेशों के विरुद्ध भेजा जाता है। अपीलकर्ता कंपनी का बिहार में न तो कोई एजेंट या प्रबंधक है और न ही उस राज्य में कोई कार्यालय, गोदाम या प्रयोगशाला है। 24 अक्टूबर, 1951 को सहायक अधीक्षक, वाणिज्य कर, बिहार ने अपीलकर्ता कंपनी को एक पत्र लिखा, जिसका निष्कर्ष इस प्रकार था:—

“अतः आपकी फर्म को बिहार बिक्री कर अधिनियम के तहत पंजीकृत कराने के लिए आवश्यक कार्रवाई की जाए। कृपया इस विभाग को सूचित करते हुए बिहार के किसी भी कोषागार में बिहार बिक्री कर बकाया राशि शीघ्र जमा करने के लिए कदम उठाए जाएं।”

मुख्य प्रश्न यह है कि क्या अपीलकर्ता कंपनी द्वारा की गई बिक्री पर लगाए जाने की धमकी दी गई है और इसकी याचिका में उल्लिखित परिस्थितियों और तरीके से डिलीवरी द्वारा कार्यान्वित किया गया कर बिहार राज्य द्वारा लगाया जा सकता है। यह अनुच्छेद 286 की व्याख्या करके किया गया था जिसकी व्याख्या सवालों के घेरे में आ गई थी और **बॉम्बे राज्य बनाम यूनाइटेड मोटर्स (इंडिया) लिमिटेड 6 के मामले** में इसे दिए गए अर्थ को खारिज कर दिया गया था। यह संविधान के अनुच्छेद 286 के निर्माण का प्रश्न उठाता है। यह निर्णय लिया गया कि बिहार बिक्री कर अधिनियम, 1947 जहां तक यह अंतर-राज्य व्यापार या वाणिज्य के दौरान होने वाली बिक्री या खरीद पर कर लगाने का दावा करता है, असंवैधानिक, अवैध और शून्य है।

अधिनियम अपनी प्रकृति में विभाज्य विषयों पर कर लगाता है, लेकिन संविधान द्वारा छूट प्राप्त विषयों को स्पष्ट रूप से बाहर नहीं करता है। ऐसी स्थिति में अधिनियम को पूरी तरह से अधिकारहीन और शून्य घोषित करने की आवश्यकता नहीं है। जब तक संसद कानून द्वारा अन्यथा प्रावधान नहीं करती, बिहार राज्य अंतर-राज्यीय व्यापार या वाणिज्य के दौरान हुई बिक्री या खरीद के संबंध में राज्य के बाहर के डीलरों पर बिक्री कर लगाने से परहेज करता है, भले ही माल बिहार में उपभोग के लिए ऐसी बिक्री या खरीद के प्रत्यक्ष परिणाम के रूप में वितरित किया गया हो। राज्य को इस न्यायालय और निचली अदालत में अपीलकर्ता की लागत का भुगतान करना होगा। भगवती, जे. ने उपरोक्त व्याख्या से सहमति व्यक्त की थी।

शरारत नियम के लाभ और हानियाँ

लाभ—

- (1) विधि आयोग इसे स्वर्णिम या शाब्दिक नियमों के विपरीत कृत्यों की व्याख्या करने का कहीं अधिक संतोषजनक तरीका मानता है।
- (2) यह आमतौर पर सजा सुनाने में अन्यायपूर्ण या बेतुके परिणामों से बचता है।
- (3) खामियों को दूर करता है
- (4) कानून को विकसित होने और बदलती जरूरतों के अनुकूल होने की अनुमति देता है उदाहरण रॉयल कॉलेज ऑफ नर्सिंग बनाम डीएचएसएस

नुकसान—

- (1) इसे पुराना माना जाता है क्योंकि यह 16वीं शताब्दी से उपयोग में है, जब आम कानून कानून का प्राथमिक स्रोत था और संसदीय सर्वोच्चता स्थापित नहीं हुई थी।
- (2) यह अनिर्वाचित न्यायपालिका को बहुत अधिक शक्ति देता है जिसे अलोकतांत्रिक माना जाता है।
- (3) घटना के बाद अपराध बनाता है उदाहरण स्मिथ बनाम ह्यूजेस, इलियट बनाम ग्रे इस प्रकार कानून के शासन का उल्लंघन करता है।

- (4) न्यायाधीशों को शक्तियों के पृथक्करण का उल्लंघन करते हुए कानून बनाने की भूमिका प्रदान करता है और न्यायाधीश अपने स्वयं के विचार, नैतिकता की भावना और पूर्वाग्रहों को मामले में ला सकते हैं, उदाहरण स्मिथ बनाम ह्यूजेस, डीपीपी बनाम बुल।

प्रश्न न0 8— भारतीय संविधान के द्वारा विधायी शक्तियों के विभाजन की योजना के निर्वचन में “सार एवं तत्व के सिद्धान्त के महत्व की व्याख्या कीजिए।

उत्तर— संविधान के उपबन्धों के निर्वचन हेतु एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त सारतत्व का सिद्धान्त भी है। यह सिद्धान्त तब लगता है जबकि दो प्रविष्टियों में संघर्ष हो अथवा एक प्रविष्टि के आधार पर बनायी हुई विधि दूसरी प्रविष्टि के क्षेत्र

का अतिक्रमण करे। इस सिद्धान्त से यह निश्चित किया जाता है कि ऐसा अतिक्रमण कब और किस सीमा तक विधिपूर्ण हो सकता है।

संविधान में संघ व राज्यों के बीच विधायी शक्तियाँ किया गया है। यह विभाजन तीन सूचियों में किया गया है—संघ सूची, राज्य सूची एवं समवर्ती सूची। संघ सूची में वर्णित विषयों पर विधि निर्मित करने का एकमात्र अधिकार संसद को राज्य सूची में वर्णित विषयों पर विधि-निर्माण का अधिकार, संसद व राज्यों के विधानमण्डल, दोनों को दिया गया है।

विधि का निर्माण करते समय संसद व राज्यों के विधानमण्डल का यह कर्तव्य है कि वे अपनी ही सूची में वर्णित विषयों पर विधि बनायें। वे ऐसी विधि नहीं बनायें, जो अन्य सूची में वर्णित विषयों को छूती हो या प्रभावित करती हो, लेकिन कभी-कभी ऐसी विधि बन जाती है, जो अकस्मात् या अनायास ही अन्य सूची के विषय को छू जाती है। ऐसी दशा में यह प्रश्न उठता है कि क्या ऐसी विधि मान्य होगी? ऐसे प्रश्न पर विचार करते समय न्यायालय द्वारा विधायिका के आशय को देखा जाता है, यदि विधायिका का आशय अपने ही विषय पर विधि निर्मित करने का है तो अकस्मात् उसके अन्य विषय से छू जाने पर मात्र के कारण अविधिमान्य नहीं समझा जायेगा। ऐसे मामलों निर्मित विधि के सार एवं उसकी प्रकृति को देखा जाता है।

सारतत्व के सिद्धान्त—सार और सार का सिद्धान्त कहता है कि यदि कानून का सार विधानमंडल की वैध शक्ति के अंतर्गत आता है, तो वह विधान केवल इसलिए असंवैधानिक नहीं हो जाता क्योंकि वह उसके अधिकार क्षेत्र से परे किसी मुद्दे को प्रभावित करता है। 'सच्ची प्रकृति और चरित्र' ही वह है जिसे 'सार और सार' वाक्यांश दर्शाता है। संघीय राज्य में विधायी शक्तियों के संवैधानिक परिसीमन का उल्लंघन इस अवधारणा का विषय है। न्यायालय इसका उपयोग यह निर्धारित करने के लिए करता है कि दावा किया गया अतिक्रमण केवल आकस्मिक है या महत्वपूर्ण। इस प्रकार, शसार और सार अवधारणा यह मानती है कि चुनौती दी गई विधि मूल रूप से उस विधानमंडल की विधायी क्षमता के भीतर है जिसने इसे अधिनियमित किया है, लेकिन केवल संयोगवश किसी अन्य विधानमंडल के विधायी क्षेत्र पर अतिक्रमण करता है। वर्तमान लेख इस सिद्धान्त पर चर्चा करता है और इस पर मुख्य रूप से प्रकाश डालता है कि भारतीय संविधान ने इस सिद्धान्त को कैसे माना है।

जबकि 'पिथ' शब्द किसी भी चीज की वास्तविक प्रकृति या सार को दर्शाता है, 'पदार्थ' किसी चीज के सबसे महत्वपूर्ण या महत्वपूर्ण पहलू को इंगित करता है, अवधारणा को उसके आणविक अर्थों में विभाजित करने के लिए। राज्य और संघ विधानमंडलों को उनके संबंधित क्षेत्रों में सर्वोच्च बनाया गया है, और उन्हें सिद्धान्त की व्याख्या के अनुसार, दूसरे के लिए सीमांकित क्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए।

जब एक विधानमंडल द्वारा स्वीकृत कानून को दूसरे विधानमंडल द्वारा चुनौती दी जाती है या उसका उल्लंघन किया जाता है, तो सार और सार का सिद्धान्त लागू होता है। यह सिद्धान्त बताता है कि यह आकलन करते समय कि क्या कोई निश्चित कानून किसी विशिष्ट मुद्दे पर लागू होता है, न्यायालय मामले की विषय-वस्तु को देखता है। यदि किसी चीज की विषय-वस्तु तीन सूचियों में से किसी एक के अंतर्गत आती है, तो किसी अन्य सूची पर कानून द्वारा अतिक्रमण उसे अवैध नहीं बनाता है क्योंकि इसे अल्ट्रा वायर्स कहा जाता है।

सिद्धान्त का अर्थ—सिद्धान्त को उसके आणविक अर्थों में विघटित करने के लिए, सार किसी चीज की वास्तविक प्रकृति या सार को दर्शाता है और पदार्थ का अर्थ है किसी चीज का सबसे महत्वपूर्ण या आवश्यक हिस्सा। इस सिद्धान्त की परिभाषा में कहा गया है कि अपने-अपने क्षेत्रों में राज्य और संघ विधायिकाएँ सर्वोच्च हैं, उन्हें दूसरे के लिए सीमांकित क्षेत्र का अतिक्रमण नहीं करना चाहिए। सार और सार का सिद्धान्त तब लागू होता है जब विधायिकाओं द्वारा बनाए गए कानून को अन्य विधायिकाओं द्वारा चुनौती दी जाती है या उसका उल्लंघन किया जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार जब यह निर्धारित करने का प्रश्न हो कि कोई विशेष कानून किसी विशेष विषय से संबंधित है या नहीं, तो न्यायालय मामले के सार को देखता है। यदि मामले का सार 3 सूचियों में से किसी एक में निहित है, तो कानून द्वारा किसी अन्य सूची पर आकस्मिक अतिक्रमण, उसे अमान्य नहीं बनाता है क्योंकि उन्हें अंतर-विरोध कहा जाता है।

सिद्धान्त की विशेषताएँ—

(1) यह सिद्धान्त तब लागू होता है जब 2 सूचियों के बीच विषय-वस्तु परस्पर विरोधी प्रतीत होती है।

(2) यदि प्रत्येक कानून को इस आधार पर अमान्य करार दिया जाता है कि वह अन्य कानूनों पर अतिक्रमण कर रहा है, तो विधायिका की शक्तियाँ सख्ती से सीमित हो जाएँगी।

(3) सिद्धान्त मामले की वास्तविक प्रकृति और चरित्र को सामने लाता है और उसे उसकी उचित सूची में विभाजित करता है।

भारतीय संविधान के अंतर्गत सार और सार का सिद्धान्त

सार और सार का सिद्धान्त, जिसे कभी-कभी आकस्मिक अतिक्रमण के रूप में जाना जाता है, कनाडाई न्यायशास्त्र का एक उत्पाद है जिसे भारत सरकार अधिनियम, 1935 और वर्तमान संविधान पर लागू किया गया है। कभी-कभी, टप्प अनुसूची की सूचियों में से किसी एक आइटम के अधिकार के तहत कानून बनाए जाते हैं। ऐसे मामलों में सार और सार के विचार का उपयोग यह निर्धारित करने के लिए किया जाता है कि किस विधायिका के पास ऐसे कानून को लागू करने का अधिकार है। न्यायालय को कानून की वास्तविक प्रकृति और चरित्र पर विचार करना चाहिए,

चाहे वह अनिवार्य रूप से इसे पारित करने वाले विधायिका के अधिकार क्षेत्र में आता हो, और चाहे वह वैध हो, भले ही संयोग से यह किसी अन्य विधायिका की क्षमता के भीतर किसी मामले को छूता हो।

सामान्य तौर पर, संसद और राज्य विधायिकाओं को अपने आवंटित क्षेत्रों में रहना चाहिए और एक-दूसरे के अधिकार क्षेत्र का अतिक्रमण नहीं करना चाहिए। यदि अन्यथा, तो न्यायपालिका द्वारा कानून को अवैध घोषित कर दिया जाएगा। लेकिन पहले, यह सार और सार के सिद्धांत को लागू करेगा ताकि यह निर्धारित किया जा सके कि उपर्युक्त कानून किस वास्तविक अधिकार के अंतर्गत आता है। दूसरे शब्दों में कहें तो सार और सार के विचार का उपयोग यह पहचानने के लिए किया जाता है कि कोई कानून किस श्रेणी में आता है। हालाँकि, प्रत्येक स्तर पर दी गई शक्तियाँ किसी न किसी बिंदु पर अवश्य ही एक दूसरे से मिलती हैं। अलग-अलग विधानमंडलों की क्षमताओं के बीच स्पष्ट रेखा खींचना असंभव है क्योंकि वे अनिवार्य रूप से कई बार ओवरलैप होंगे।

प्रफुल्ल कुमार बनाम बैंक ऑफ कॉमर्स, कुलना (1947) बंगाल साहूकार अधिनियम, 1940 लोगों की भलाई के लिए पारित किया गया था और एक सीमा तय की गई थी जिसके बाद साहूकार कोई पैसा नहीं वसूल सकते थे। यहाँ तक कि ब्याज की दर भी अधिकतम तय की गई थी जिसे साहूकार वसूल सकते थे। चूंकि ऋण दर बहुत कम थी, इसलिए साहूकारों ने अधिनियम की वैधता पर सवाल उठाया। प्रफुल्ल कुमार बनाम बैंक ऑफ कॉमर्स, कुलना (1947) के मामले के संबंध में जो मुद्दा उठा, वह बंगाल साहूकार अधिनियम, 1940 की संवैधानिकता से संबंधित था, जिसे राज्य विधानसभाओं द्वारा अपनाया गया था। इस पर इस आधार पर विवाद किया गया कि अधिनियम केवल वचन पत्र पर लागू होता है। चूंकि वचन पत्र का विषय संघ सूची के अंतर्गत आता है, इसलिए यह तर्क दिया गया कि राज्य के पास संघ के मामले से संबंधित कानून बनाने का कोई अधिकार नहीं है। **प्रिवी काउंसिल** ने सही ढंग से निर्धारित किया कि अधिनियम का वास्तविक उद्देश्य, दायरा और प्रभाव धन उधार देना और उस पर ब्याज है, कि प्राथमिक मुद्दा वचन पत्र नहीं है, और राज्य विधानमंडल वास्तविक उद्देश्य, सीमा और प्रभाव की रक्षा के लिए कानून पारित कर सकता है। इस मामले में, मामले के मुख्य विषय की व्याख्या करने में सार और सार का सिद्धांत महत्वपूर्ण है। इस सिद्धांत का उपयोग राज्य और संघ के बीच सत्ता-साझाकरण के कठोर पैटर्न की रक्षा के लिए किया जाता है क्योंकि प्रमुख विषय धन उधार देना है। जो कुछ भी पूरक है या अप्रत्यक्ष रूप से राज्य विधानमंडल द्वारा स्थापित कानून को प्रभावित करता है, उसे व्यापक सार्वजनिक हित की सेवा के लिए इसकी वास्तविक प्रकृति और चरित्र के अनुसार उचित सूची में शामिल किया जाना चाहिए।

कर्नाटक राज्य बनाम ड्राइव-इन एंटरप्राइजेज (2001) में 'ड्राइव-इन-सिनेमा' पर कर लगाने का मुद्दा उठा था। ड्राइव-इन सिनेमा एक ओपन-एयर थिएटर परिसर है जिसमें आम तौर पर उन लोगों को प्रवेश दिया जाता है जो अपनी कारों में बैठकर फिल्म देखना चाहते हैं। राज्य ने मनोरंजन कर वसूलने के अलावा थिएटर में प्रवेश करने वाली कारों पर मनोरंजन कर लगाया। विवाद इस बात पर हुआ कि क्या राज्य विधानमंडल को 7वीं अनुसूची की सूची ८ की प्रविष्टि 62 के तहत ऐसे थिएटरों में कारों/धोतर वाहनों के प्रवेश पर कर लगाने का अधिकार है या नहीं। यह ध्यान दिया जाना चाहिए कि राज्य विधानमंडल के पास प्रविष्टि 62 के अनुसार 'विलासिता, मनोरंजन, मौज-मस्ती, सट्टेबाजी और गेमिंग' पर कर लगाने का अधिकार है।

प्रश्न नं० 9— कर संविधियों के निर्वचन से सम्बन्धित निर्वचन के नियमों की व्याख्या कीजिए।

उत्तर— प्रत्येक देश में राज्य लोक प्रयोजन के लिए अपने नागरिकों की व्यक्तिगत सम्पत्ति ले सकता है और इस हेतु उन पर कर भी अधिरोपित कर सकता है। राज्य यह कार्य निम्न दो सूत्रों के आधार पर कर सकता है—

(1) लोकहित ही सर्वोच्च विधि है।

(2) लोकहित व्यक्ति की हित की अपेक्षा बड़ा है।

इस अधिकार के बिना कोई सरकार अपना संचालन सुचारु रूप से नहीं चला सकती है। कर अधिरोपित करने वाली विधियों या राजकोषीय संविधियों के निर्वचन का सिद्धान्त अन्य विधियों से भिन्न नहीं है। अन्तर्भूत सिद्धान्त यह है कि ऐ संविधि का आशय और अर्थ उसमें प्रयुक्त शब्दावली के साधारण अर्थ से ग्रहण किया जाना चाहिए, न कि न्यायालय की इस धारणा पर कि क्या न्यायेचित है और क्या नहीं। (**गवालियर सुगर कं. लि. बनाम एम.पी. इलेक्ट्रिसिटी बोर्ड न अन्य, ए.आई.आर. 2000 एस.सी. 66-बी**) अर्थात् जब तक एक संविधि करारोपड़ करती है, तब संविधि का आशय में प्रयुक्त स्पष्ट व असंदिग्ध भाषा से ग्रहण किया जाना चाहिए।

ग्रासिम इण्डस्ट्रीज लि. बनाम मध्य प्रदेश राज्य (ए.आई.आर. 2000 एस. सी. 66-बी) में उच्चतम न्यायालय ने कहा कि कर संविधि की व्याख्या का यह सिद्धान्त है कि अधिनियम की भाषा का कठोर निर्वचन किया जाये। अधिनियम की भाषा को न ता खींच-तान कर राज्य के पक्ष में अर्थ किया जाये और न ही उसको संकुचित करके करदाता के पक्ष में अर्थ किया जाये। परन्तु फिर भी उस कर के अधिरोपड़ से पूर्व की परिस्थितियों पर विचार किया जा सकता है।

मथुरम अग्रवाल बनाम मध्य-प्रदेश राज्य (ए.आई.आर. 2000 एस.सी. 109 ए एण्ड बी) वाद में उच्चतम न्यायालय ने कहा कि सर संविधि में विधायिका का आशय संविधि की भाषा पर निर्भर करता है और यदि भाषा स्पष्ट व असंदिग्ध है, तो नयायालय अर्थान्वयन के समय उससे बाहर नहीं जा सकते हैं तथा न तो उसमें कुछ जोड़ा जा सकता है और न ही घटाया जा सकता है, अर्थात् कर विधि का कठोर अर्थान्वयन किया जाना चाहिए।

कर विधि के अर्थान्वयन करने में यदि कोई कमियाँ रह गई हैं, तो न्यायालय उनकी पूर्ति नहीं कर सकता है। न्यायालय को उनका वैसा ही अर्थ ग्रहण करना होगा, जैसाकि संविधि में उपबन्धित है और कोई संन्देह की स्थिति आ गई है, तो कर दाता के पक्ष में निर्णय दिया जाना चाहिए। परन्तु न्यायालय के लिए अनुज्ञेय नहीं है कि वह कर दाता के अनुतोष को प्राथमिकता देने के लिए कोई संदिग्धता उत्पन्न करे। इस प्रकार यदि किसी कर कानून की भाषा स्पष्ट हो, तो उसके परिणाम की परवाह ना करते हुए, उसे प्रभाव दिना जाना चाहिए।

वेयर हाउसिंग कार्पोरेशन, उडिसा राज्य बनाम सी.आई.टी.(ए.आई.आर. 1999 एस.सी.) में उच्चतम न्यायालय ने निर्धारित किया कि यदि कर अधिरोपित करने वाला कोई उपबन्ध संदिग्ध है और उसके युक्तियुक्त रूप से एक से अधिक किये जा सकते हैं, तो ऐसा अर्थान्वयन ही किया जाना चाहिए, जो जनता के लिए फायदाप्रद हो।

राम अवतार बनाम सहायक विक्रय कर अधिकारी.(ए.आई.आर.1999 एस.सी.) में प्रश्न था कि क्या “पान वेजीटेबल हैं, तथा इस नाते उसके विक्रय पर कर नहीं लग सकता है, क्योंकि बिहार विक्रय कर अधिनियम, 1947 के अन्तर्गत ‘वेजीटेबल’ शब्द के विक्रय को विक्रय कर से पूर्णतः मुक्त रखा जाता है। ‘वेजीटेबल’ शब्द के शब्दकोषीय अर्थ को आधार बनाकर अपीलीर्थी ने न्यायालय में तर्क दिया कि ‘वेजीटेबल’ शब्द का अर्थ पौधों अथवा पौधों के भागों से सम्बन्ध रखना, समाविष्ट होना, बना होना, प्राप्त किया जाना, अथवा पाना है, और ‘पान’ पौधा से ही प्राप्त किया जाता है, अतः उसकी बिक्री पर विक्रय कर अधिरोपित नहीं किया जा सकता है। ‘वेजीटेबल’ के एक से अधिक युक्तियुक्त अर्थ होने के कारण कर कानून के सन्दर्भ में उसका वही अर्थ माना जाना चाहिए, जिससे निर्धारिती को लाभ मिलता हो। इसके विरोध में प्रत्यर्थी का कथन था कि इस अधिनियम में ‘वेजीटेबल’ से आशय ‘सब्जी’ के विक्रय पर कर से पूर्णतः छूट देना था।

उच्चतम न्यायालय ने ‘वेजीटेबल’ शब्द को कोई तकनीकी अथवा वनस्पति अर्थ देना अस्वीकार कर दिया। उच्चतम न्यायालय ने कहा कि जब कानून में विधायिका प्रतिदिन प्रयोग में आने वाले किसी शब्द का प्रयोग करती है, तो उसका आशय उस शब्द को उसी अर्थ में प्रयोग में लाना है जिसमें आमलोग इस शब्द को समझते हैं। अतः ‘वेजीटेबल’ शब्द का अर्थ केवल सब्जी से है, जैसा कि आमलोग इस शब्द को समझते हैं। इस कारण कारण ‘पान’ इसमें शामिल नहीं है और पान के विक्रय पर कर का अधिरोपण उचित है।

इण्डियन केबल कम्पनी लिमिटेड बनाम केन्द्रीय उत्पादन-शुल्क कलेक्टर(ए.आई.आर.1995 एस.सी.64) में उच्चतम न्यायालय ने निर्धारित किया कि किसी कर कानून में शब्दों के अर्थ का निर्वचन करते समय इस बात पर ध्यान देना देता होता है कि व्यापार-क्षेत्र में उस शब्द विशेष को किस रूप में ग्रहण किया जाता है और प्राधिकारी को चाहिए कि वह उस अर्थ को स्वीकार करे, जो कि वहाँ लोकप्रिय हो।

उपर्युक्त विरण से कर कानूनों अथवा राजकोषीय कानूनों के अर्थान्वयन हेतु निम्नलिखित बातें दृष्टिगोचर होती हैं—

- (1) कर अधिरोपित करने वाले अथवा वित्तीय भार डालने वाले कानूनों का अर्थान्वयन कठोर होता है।
- (2) कर कानून की भाषा को व्याख्या के समय ना तो खींच-तान कर राज्य के पक्ष में अर्थ करना चाहिए और न ही उसको संकुलित करके करदाता के पक्ष में अर्थ करना चाहिए।
- (3) कर कानूनों का आशय उसमें प्रयुक्त शब्दावली के साधारण अर्थ से ग्रहण किया जाना चाहिए, न कि न्यायालय की इस धारणा पर कि क्या न्यायोचिज है और क्या नहीं।
- (4) कर कानून द्वारा जिस व्यक्ति पर कर लगाना चाहा गया है, यदि वह व्यक्ति निष्कपट रीति से और प्रत्यक्षतः कानून के अक्षरों के अन्तर्गत आता है, तो उस पर कर लगाना चाहिए। परन्तु यदि वह व्यक्ति विधि के अक्षरों के अन्तर्गत नहीं आता है, तो वह स्वतन्त्र है।
- (5) यह सत्य है कि कर कानूनों के प्रावधानों की व्याख्या के समय भाषा की संदिग्धता या अस्पष्टता की दशा में व्याख्या करदाता के पक्ष में की जाना चाहिए, राज्य के पक्ष में नहीं। परन्तु न्यायालय इस बात के लिए अनुज्ञेय नहीं है कि वह करदाता के अनुतोष को प्राथमिकता देने के लिए कोई संदिग्धता उत्पन्न करे, जिसके लिए वह अन्यथा अधिकृत न हों।
- (6) यदि कर कानून इतना अनिश्चित है कि व्याख्या के मार्ग खुलते हैं एक तो राज्य के हित में और दूसरा जनता के हित में, तो ऐसी स्थिति में दूसरी को ग्रहण किया जाना चाहिए।
- (7) कर कानूनों के मर्दों का निर्वचन करते समय वैज्ञानिक या तकनीकी अर्थों का ध्यान नहीं रखा जाना चाहिए, अपितु उस अर्थ को ध्यान में रखा जाना चाहिए, जो कि उसका संव्यवहार करने वाले लोग वाणिज्यिक अर्थों में उसे देते हैं।
- (8) कर कानूनों का निर्वचन करने में उसके प्रभाव से कोई भी सम्बन्ध नहीं रखना चाहिए। उपबन्ध में प्रयुक्त की गई भाषा पर ही उचित रूप से विचार किया जाना चाहिए।

इस प्रकार कर कानूनों का कठोर अर्थान्वयन किया जाता है कि यदि किसी कर कानून की भाषा स्पष्ट हो, तो उसके परिणाम की परवाह न करते हुए उसे प्रभाव दिया जाता है। किसी कर कानून को निर्वचित करते समय निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए यह देखना उचित नहीं है कि कोई विशिष्ट निष्कर्ष वांछित है अथवा नहीं।

प्रश्न न0 10— निम्नलिखित में किन्हीं दो पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए।

उत्तर— (1) छद्म विधायन— संघवाद (फेडरलिज्म) भारतीय संविधान का आधारभूत संरचना (बेसिक स्ट्रक्चर) है। संविधान से प्राप्त संप्रभु (सोवरेन) सत्ता सरकार के दो स्तरों के बीच वितरित की जाती है। यह

कदम बेहतर प्रशासन को बढ़ावा देता है और राष्ट्र में विकास को भी शामिल करता है। कभी-कभी, एक सरकारी निकाय ऐसे कानून बनाकर दूसरे सरकारी निकाय के अधिकार क्षेत्र (ज्यूरिसडिक्शन) का अतिक्रमण करने का प्रयास करता है जो उनके शासन के दायरे में नहीं है या ऐसे कानून पारित करके जो उन्हें दूसरे शासन के क्षेत्र से कानून बनाने का अधिकार देते हैं। यह संघवाद के मूल उद्देश्य को विफल कर देता है, और एक सरकारी प्राधिकरण के अधिक शक्तिशाली होने और अपने निर्णयों को दूसरे सरकारी प्राधिकरण पर थोपने का जोखिम हमेशा बना रहता है। छद्म का सिद्धांत देश में शक्ति संतुलन बनाए रखने के लिए न्यायिक हस्तक्षेप द्वारा सरकार के विधायी अधिकार के दुरुपयोग को हतोत्साहित करता है। छद्मता के सिद्धांत का भारतीय संविधान में स्पष्ट रूप से उल्लेख नहीं किया गया है। हालाँकि, न्यायपालिका ने हमारे देश की संघीय प्रकृति की रक्षा के लिए अपने निर्णयों के माध्यम से इस सिद्धांत की व्याख्या की है। जब भी केंद्र या कोई राज्य अपने विधायी क्षेत्र को असंवैधानिक रूप से विस्तारित करने का प्रयास करता है, तो सिद्धांत न्यायपालिका को उन्हें ऐसा करने से रोकने का अधिकार प्रदान करता है।

निम्नलिखित लेख छद्मता के सिद्धांत की अवधारणा पर विस्तार से प्रकाश डालता है और आगे छद्मता के सिद्धांत के संवैधानिक प्रावधानों, महत्व और सीमाओं का व्यापक विवरण प्रदान करता है।

छद्म का सिद्धांत एक कानूनी सिद्धांत है जिसका उद्देश्य सरकार के विधायी अधिकार के अत्यधिक और असंवैधानिक उपयोग को रोकना है। यह सिद्धांत लैटिन कहावत "क्वांडो एलिक्विड प्रोहिबेटर एक्स डायरेक्टो, प्रोहिबेटर एट पर ओब्लिकम" से लिया गया है, जिसका अर्थ है कि जो चीजें सीधे नहीं की जा सकतीं उन्हें अप्रत्यक्ष रूप से भी नहीं किया जाना चाहिए। ब्लैक लॉ डिक्शनरी छद्मता जिसे अंग्रेजी में 'कलरेबल' कहा जाता है को इस प्रकार परिभाषित करती है—

(1) सत्य, वैध या सही प्रतीत होना।

(2) धोखा देने का इरादा; नकली।

(3) रूप, भेष या आभास।

शाब्दिक अर्थ में, छद्म के सिद्धांत का अर्थ है कि सरकार अधिकार होने की आड़ में कानून बना रही है, भले ही उसके पास ऐसा करने के लिए कोई सक्षम अधिकार न हो।

न्यायपालिका के पास सरकार को अपनी शक्ति के दुरुपयोग को रोकने का अधिकार है। जब सरकार अपने निर्धारित अधिकार क्षेत्र के बाहर कानून बनाकर अपने विधायी अधिकार का दुरुपयोग करती है, तो न्यायपालिका के पास उनकी समीक्षा करने और असंवैधानिक पाए जाने पर उन्हें रद्द करने की शक्ति होती है।

छद्म के सिद्धांत को "संविधान पर धोखाधड़ी" के रूप में भी जाना जाता है क्योंकि सरकारी प्राधिकरण की विधायिका संविधान में उल्लिखित प्रावधानों के अनुसार कानून नहीं बनाती है। विधायी प्राधिकरण यह भ्रम पैदा करता है कि वह संवैधानिक प्रावधानों के अनुपालन में कार्य कर रहा है लेकिन वास्तव में ऐसा नहीं होता है।

न्यायमूर्ति बीके मुखर्जी ने केशी गजपति नारायण देव बनाम उड़ीसा राज्य (1954) के फैसले में कहा कि "यह सवाल कि क्या कोई कानून छद्मता है, यह कानून पारित करने में विधायिका के मकसद या सद्भावना पर नहीं बल्कि योग्यता पर निर्भर करता है।" उस विशेष कानून को पारित करने के लिए जिम्मेदारी विधायिका की है, और ऐसे मामलों में अदालतों को यह निर्धारित करना है कि क्या विधायिका ने अपनी शक्तियों की सीमा के भीतर कार्य करने का दावा किया है, क्या वास्तव में उन शक्तियों का उल्लंघन किया है, और फिर इस उल्लंघन पर पर्दा डाला है जो प्रतीत होता है और उचित परीक्षण करने पर, वह मात्र दिखावा या छिपाव है। छद्मता का पूरा सिद्धांत इस कहावत पर आधारित है कि आप जो काम सीधे नहीं कर सकते, वह आप अप्रत्यक्ष रूप से नहीं कर सकते।

आरएस जोशी बनाम अजीत मिल्स (1977) के मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने सत्ता के छद्मता प्रयोग, विधायी शक्ति पर धोखाधड़ी और संविधान पर धोखाधड़ी जैसे शब्द निर्धारित किए, जिसका अर्थ है कि विधायिका एक विशेष कानून बनाने में अक्षम है।

इस सिद्धांत के अनुसार, कानून की वैधता की पहचान विधायिका की किसी विशेष कानून को लागू करने की क्षमता के आधार पर की जाती है, न कि विधायिका के उद्देश्यों या इरादों के आधार पर। न्यायपालिका, यह निर्धारित करते समय कि कोई कानून छद्मता है या नहीं, विधायिका के इरादों को ध्यान में नहीं रखता है। यह केवल इस बात पर विचार करता है कि विशेष कानून सरकारी प्राधिकरण के अधिकार क्षेत्र में है या नहीं।

(2) विधि का भूतलक्षि प्रभाव— अनुच्छेद 20(1) के अनुसार "किसी व्यक्ति को किसी अपराध के लिए तब तक सिद्धदोष नहीं ठहराया जायेगा जब तक कि उसने ऐसा कार्य करने के समय किसी प्रवृत्त विधि का अतिक्रमण न किया हो। वह उससे अधिक शास्ति का भागी नहीं होगा जो उस अपराध के किये जाने के समय प्रवृत्ति के अधीन लगायी जा सकती थी।"

अनुच्छेद 20(1) भूतलक्षी विधियों से रंसरक्षण देता है परन्तु निरोध के खिलाफ या किसी व्यक्ति से सुरक्षा की माँग करने के लिए इस उन्मुक्ति का दावा नहीं किया जा सकता है।

सतवन्त सिंह बनाम ए.पी.ओ, ए.आई.आर 1967 सु. को अनुच्छेद 20(1) में किसी भूतलक्षी विधि के अन्तर्गत केवल दोषसिद्ध अथवा दाण्डावेश का प्रतिषेध किया गया है, विचारण का नहीं। किसी अभियुक्त का यह मूल अधिकार नहीं है कि उसके अपराध का विचारण किसी विशेष प्रक्रिया या न्यायालय द्वारा ही किया जाना चाहिये, हाँ विचारण में भेदभाव होता है, तो वह आपात्ति कर सकता है।

कोई भूतलक्षी विधि जो अपराध की कठोरता को कम करती हो अनुच्छेद 20(1) के प्रतिरोध के अन्तर्गत नहीं आती है अर्थात् अपराध को कम या दण्ड को न्यून करने वाली भूतलक्षी विधि अनुच्छेद 20(1) के आधार पर असंवैधानिक नहीं है।

रतन लाल बनाम पंजाब राज्य (4) के मामले में, न्यायालय ने लाभकारी निर्माण के नियम को निर्धारित किया था जिसके अनुसार पूर्वव्यापी कानून को केवल सजा कम करने के लिए ही लागू किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, 1 बोर्ड परीक्षा में धोखाधड़ी का अपराध करता है और इसे नियंत्रित करने वाले कानून में 6 महीने की जेल की सजा का प्रावधान है, लेकिन एक संशोधन ने सजा को घटाकर 2,000 रुपये का जुर्माना कर दिया है। अनुच्छेद 20(1) के तहत 6 महीने की जेल की अवधि के बजाय 1 को 2,000 रुपये का जुर्माना देना होगा। जिस व्यक्ति पर उस कृत्य का आरोप लगाया गया है जिस पर नए कानून की पूर्वव्यापी कार्रवाई लागू होती है, वह उन सभी उपायों का हकदार है जो उसके लिए उपलब्ध हो सकते हैं।

आर.एस. जोशी बनाम अजीत मिल्स लिमिटेड (5) में, सुप्रीम कोर्ट ने माना कि अनुच्छेद 20(1) उन व्यक्तियों को दिए गए संवैधानिक संरक्षण से संबंधित है, जिन पर आपराधिक न्यायालय के समक्ष कानून द्वारा निषिद्ध अपराध का आरोप लगाया गया है। संविधान में दी गई यह प्रतिरक्षा केवल आपराधिक प्रक्रिया संहिता द्वारा शासित दंड के विरुद्ध है, जो किसी आपराधिक अपराध के लिए है, जो पूर्वव्यापी कानून के अंतर्गत आता है, और निवारक निरोध के विरुद्ध दावा नहीं किया जा सकता है, या नए कानून के पारित होने से पहले किए गए कार्यों के लिए प्रेस कानून के तहत किसी भी प्रेस हाउस से किसी प्रकार की सुरक्षा की मांग नहीं की जा सकती है।

(3) सजातीयता का सिद्धान्त—कानून का अर्थ जानने के लिए न्यायालयों द्वारा कानूनी व्याख्या की जाती है। कानून की व्याख्या के लिए कई नियम हैं। उनमें से एक है 'एजुस्डेम जेनेरिस का सिद्धान्त'। यह सिद्धान्त तब लागू होता है जब कुछ निर्दिष्ट शब्द होते हैं जिनके बाद सामान्य शब्द आते हैं। यदि सामान्य शब्दों के अर्थ में कोई अस्पष्टता है तो इस सिद्धान्त को लागू किया जाता है। यह सिद्धान्त प्रदान करता है कि निर्दिष्ट शब्दों के बाद आने वाले सामान्य शब्द निर्दिष्ट शब्दों के समान वर्ग तक सीमित रहेंगे। यह बहुत महत्वपूर्ण सिद्धान्त है जिसके माध्यम से कानून के उद्देश्य या उद्देश्यों को प्राप्त किया जा सकता है और उचित न्याय दिया जा सकता है।

इस लेख में निम्नलिखित विषयों को शामिल किया जाएगा; कानून की व्याख्या और व्याख्या के नियम क्या हैं, फिर एजुस्डेम जेनेरिस सिद्धान्त का अर्थ और इसकी आवश्यकता और इसे कब लागू किया जाता है, इस पर चर्चा की जाएगी, अगली बात जिस पर चर्चा की जाएगी वह है सिद्धान्त की अनिवार्यताएँ जो इसे लागू करने के लिए आवश्यक शर्तों को कवर करेंगी, इसके बाद इस सिद्धान्त की सीमाएँ प्रदान की जाएँगी ताकि यह सिद्धान्त कब लागू न हो। अंत में न्यायालयों द्वारा इस सिद्धान्त के अनुचित उपयोग पर चर्चा की जाती है कि कैसे न्यायालय कभी-कभी इस सिद्धान्त का उचित उपयोग नहीं करते हैं और इस प्रकार न्याय प्रदान नहीं किया जाता है।

ब्लैक लॉ डिक्शनरी (8वां संस्करण, 2004.) के अनुसार, "एजुस्डेम जेनेरिस का सिद्धान्त वह है जहाँ सामान्य शब्द विशेष और विशिष्ट शब्दों द्वारा व्यक्तियों या चीजों की गणना का अनुसरण करते हैं। न केवल इन सामान्य शब्दों की व्याख्या की जाती है, बल्कि उन्हें केवल उसी सामान्य प्रकार के व्यक्तियों या चीजों पर लागू माना जाता है, जैसे कि विशेष रूप से गणना की गई है।" **इस सिद्धान्त को लॉर्ड टेंटर्डन का नियम भी कहा जाता है** जो एक प्राचीन सिद्धान्त है। एजुस्डेम जेनेरिस का सिद्धान्त यह प्रदान करता है कि जब विशिष्ट शब्दों की सूची के बाद सामान्य शब्द आते हैं, तो सामान्य शब्दों की व्याख्या इस तरह से की जाती है कि उन्हें उन वस्तुओं या चीजों को शामिल करने तक सीमित रखा जाए जो विशिष्ट शब्दों के समान प्रकार की होंगी। दूसरे शब्दों में, "जहाँ कोई कानून व्यक्तियों या चीजों के विशिष्ट वर्गों को सूचीबद्ध करता है और फिर उन्हें सामान्य रूप से संदर्भित करता है, सामान्य कथन केवल उसी प्रकार के व्यक्तियों या चीजों पर लागू होते हैं जिन्हें विशेष रूप से सूचीबद्ध किया गया है।" उदाहरण के लिए यदि कोई कानून कार, ट्रक, ट्रैक्टर, बाइक और अन्य मोटर चालित वाहनों का संदर्भ देता है, तो सामान्य शब्द जो कि 'अन्य मोटर चालित वाहन' है, उसमें कोई भी विमान या जहाज शामिल नहीं होगा क्योंकि पहले के विशिष्ट शब्द भूमि परिवहन के प्रकार के हैं और जब एजुस्डेम जेनेरिस का सिद्धान्त लागू होता है तो वह सामान्य शब्द विशिष्ट शब्दों के समान श्रेणी की चीजों को शामिल करने तक सीमित होगा।

एजुस्डेम जेनेरिस के सिद्धान्त को लागू करने के आधार— सजाति अर्थान्वयन का मुख्य उद्देश्य साधारण शब्दों तथा कानून भाषा में प्रयुक्त विनिर्दिष्ट शब्दों के बीच विद्यमान विरोध को दूर करके सामंजस्य स्थापित करना है। एजुस्डेम जेनेरिस के सिद्धान्त को लागू करने के लिए निम्नलिखित बातें आवश्यक हैं—

- (1) संविधि में कोई विशिष्ट शब्द दिये गये हों।
- (2) ये विशिष्ट शब्द किसी एक वर्ग विशेष को गठित करते हो अथवा वर्ग विशेष के प्रति निर्देश करते हैं।
- (3) वर्ग विशेष के अन्तर्गत आने वाली सभी इकाइयों का उल्लेख ना किया गया हो।
- (4) सामान्य शब्द विशिष्ट शब्दों का अनुगमन करते हों।
- (5) विधायी आशय सामान्य शब्दों का व्यापक अर्थ उन्हें प्रदान करने के पक्ष में ही नहीं है अर्थात् कोई भिन्न विधायी आशय दर्शित ना होता हो।
- (6) संविधि में दिये गये विशिष्ट शब्दों की ऐसी गणना से कथित वर्ग का समापन नहीं हो जाता।

(4) अच्छादन का सिद्धान्त—अनुच्छेद 13(1) पर आधारित है जिसके अनुसार पूर्व संविधान विधियाँ संविधान लागू होने पर उस मात्रा तक अवैध होगी जिस तक वे मूल अधिकारों के प्रवर्तित हो जाने के कारण मृतप्राय हो जाती है और

उनका प्रवर्तन नहीं किया जा सकता हैं। यह सिद्धांत भारतीय संविधान के अनुच्छेद 13 से संबंधित है जो मौलिक अधिकारों के साथ असंगत या उनका हनन करने वाले कानूनों के बारे में बात करता है। अनुच्छेद 13(1) में कहा गया है कि भारत के क्षेत्र में संविधान की शुरुआत से पहले लागू कोई भी मौजूदा कानून जो भारतीय संविधान के भाग ३ में मौजूद मौलिक अधिकारों के खिलाफ है या उनके साथ असंगत है, ऐसी असंगति की सीमा तक शून्य हो जाता है। इसके अलावा, अनुच्छेद 13(2) में कहा गया है कि कोई भी नया कानून उस समय शून्य हो जाता है जब वह मौलिक अधिकारों का उल्लंघन करता है, ऐसे उल्लंघन की सीमा तक। ये प्रावधान सीधे पृथक्करण के सिद्धांत के अनुरूप हैं। यह सिद्धांत कहता है कि किसी कानून का कोई भी प्रावधान जो संविधान के विरुद्ध है, उस अधिनियम से अलग हो जाएगा और केवल उस सीमा तक शून्य माना जाएगा। इस प्रकार, न्यायालय पूरे अधिनियम के बजाय उस प्रावधान को शून्य घोषित कर सकते हैं। हालांकि, अनुच्छेद 13(4) में कहा गया है कि अनुच्छेद 13 संवैधानिक संशोधनों पर लागू नहीं होता है। इसका तात्पर्य यह है कि यदि कोई संवैधानिक संशोधन कानून पारित हो जाता है जो कुछ मौलिक अधिकारों को छीन लेता है या उनका उल्लंघन करता है, तो वे कानून, हालांकि अधिकारों के साथ असंगत हैं, फिर भी अमान्य नहीं हैं।

भीकाजी नारायण धाकरास बनाम मध्य प्रदेश राज्य (1955) इस मामले में, सी.पी. और बरार मोटर वाहन (संशोधन) अधिनियम, 1947 के एक प्रावधान ने प्रांत में मोटर परिवहन व्यवसाय को अपने हाथ में लेने के लिए राज्य सरकार के एकाधिकार को अधिकृत किया। चूंकि यह संविधान-पूर्व कानून था, इसलिए यह प्रावधान वैध था, लेकिन जब 1950 में भारत का संविधान लागू हुआ, तो यह शून्य हो गया क्योंकि यह संविधान के अनुच्छेद 19 (1) (जी) के विपरीत था। भले ही संविधान (प्रथम संशोधन) अधिनियम, 1951 ने अनुच्छेद 19 में खंड 6 जोड़ा, ताकि सरकार को किसी भी व्यवसाय पर एकाधिकार करने के लिए अधिकृत किया जा सके, अधिनियम की संवैधानिक वैधता को चुनौती दी गई, और सर्वोच्च न्यायालय के समक्ष निम्नलिखित मुद्दे उठाए गए।

B.A.LL.B.-4th Sem. Paper-V Constitutional Law-II

प्रश्न न० 1— भारत के राष्ट्रपति की संवैधानिक स्थिति, कार्यों एवं शक्तियों का वर्णन कीजिए।

उत्तर— भारत के राष्ट्रपति की संवैधानिक स्थिति (Constitutional position of the President of India)— भारतीय संविधान में राष्ट्रपति एक महत्वपूर्ण व्यक्ति होता है। वह भारत का सर्वोच्च शासक होता है और भारत की तीनों रक्षा सेनाओं का प्रधान होता है। राष्ट्रपति में कार्यपालिका, विधायिका, न्यायिक और सैनिक शक्तियाँ निहित होती हैं। राष्ट्रपति को संकटकालीन स्थिति को विवेचना में आपातस्थिति लागू करने और अध्यादेश को जारी करने की शक्ति होती है।

यद्यपि राष्ट्रपति को इतने महत्वपूर्ण अधिकार और शक्तियाँ प्रदान की गई हैं फिर भी राष्ट्रपति पर यह प्रतिबन्ध लगाया गया है कि वह बिना मंत्रिपरिषद् की सलाह लिये स्वयं कोई कार्य नहीं कर सकता है। सामान्यतः राष्ट्रपति की संवैधानिक स्थिति की विवेचना निम्नलिखित प्रकार से सकते हैं—

(1) अनुच्छेद 53(1) के अन्तर्गत राष्ट्रपति में संघ की समस्त कार्यपालिका शक्ति निहित होने से राष्ट्रपति भारतीय गणराज्य का सर्वोच्च अधिकारी और अनुच्छेद 53(2) के अन्तर्गत सर्वोच्च सेनापति है।

(2) राष्ट्रपति एक तानाशाह शासक भी हो सकता है। इस सम्बन्ध में राष्ट्रपति को देश में आपातस्थिति लागू करने, अपनी इच्छानुसार कानून का निर्माण करने और उसे तुरन्त लागू करने के लिए उसे महत्वपूर्ण शक्ति प्राप्त है। वह भारतीय सेनाओं का सर्वोच्च अधिकारी होने से अपने विरुद्ध किसी भी विद्रोह को आसानी से सेना का उपयोग करके कुचल सकता है। अंकुश निम्नलिखित हैं—(1) वह ऐसा कोई आदेश जारी कर सकता है जब संसद का कोई सदन सत्र में न हो, (2) अध्यादेश को संसद के दोनों सदनों के सामने अनुमोदन के लिए रखा जाएगा। यदि संसद उसे अनुमोदित नहीं करती है, तो वह संसद की बैठक से केवल 6 सप्ताह तक ही लागू रहेगा; अथवा इसके पूर्व यदि संसद उसे रद्द कर देती है तो रद्द करने की तिथि से ही समाप्त जायेगा।

(3) भारतीय संविधान में राष्ट्रपति को कार्यपालिका शक्तियाँ प्राप्त हैं। उनका प्रयोग वह संविधान के अनुसार या तो स्वयं या अधीनस्थ पदाधिकारियों द्वारा करेगा। वह देश के उच्चाधिकारियों की नियुक्ति करेगा। वह देश की प्रतिरक्षा बला का सर्वोच्च सेनापति होता है। अतः उसे किसी भी देश के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करने या शान्ति करने की शक्ति प्राप्त है। वह किसी भी सजा प्राप्त व्यक्ति को क्षमा कर सकता है, देश में संकटकालीन स्थिति की घोषणा कर सकत है तथा आदेश जारी कर सकता है।

भरत कपूर बनाम भारत संघ, ए.आई.आर. 1955 एस.सी. 537 में सर्वोच्च न्यायलय ने कहा कि वास्तव में कार्यपालिका का औपचारिक अध्यक्ष तो राष्ट्रपति होता है, किन्तु वास्तविक कार्यपालिका शक्तियाँ मंत्रियों और मन्त्रिपरिषद् में निहित होती हैं।

(4) भारतीय संविधान के अनुच्छेद 74(1) में संविधान संशोधन अधिनियम (42वें) संशोधन द्वारा किया गया है जिसके अन्तर्गत राष्ट्रपति को मन्त्रिपरिषद् की सलाह से अपने कार्य के लिए विधिक रूप से बाध्य कर दिया गया है।

(5) भारतीय संविधान में राष्ट्रपति को बाध्य किया गया है कि यह उत्कृष्ट मन्त्रिमण्डल का निर्माण करें जिसके द्वारा वह अपनी कार्यपालिका शक्तियों का प्रयोग करें। यदि वह मन्त्रिमण्डल की सलाह के विरुद्ध कार्य करता है तो मन्त्रिमण्डल त्याग पत्र दे देगा और यह राष्ट्रपति के लिए सम्भव नहीं होगा कि वह अल्पमत की मन्त्रिपरिषद् का गठन करे क्योंकि अल्पमत की मन्त्रिमण्डल संसद में कार्य नहीं कर सकेगा। चूँकि मन्त्रिपरिषद् संसद के निर्वाचित सदस्यों के प्रति उत्तरदायी है अतः राष्ट्रपति को उसी सलाह पर कार्य करना होता है।

(6) **सरदारी लाल बनाम यूनियन ऑफ इण्डिया, ए.आई.आर 1971, एस.सी. 1946** में कहा गया है कि राष्ट्रपति अपनी कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग अपने व्यक्तिगत समाधान पर करता है और उसके कार्यों का प्रत्यायोजन नहीं किया जा सकता है।

(7) **रामतवार्यो कपूर बनाम पंजाब राज्य, ए.आई.आर 1955 एस.सी. 549** तथा **शमशेर सिंह बनाम पंजाब राज्य, ए.आई.आर 1974 एस.सी. 2193** में अभिनिर्धारित किया गया है कि राष्ट्रपति और राज्यपाल संवैधानिक प्रमुख हैं, वे मन्त्रिपरिषद् की सलाह और सहायता से ही अपनी शक्तियों का प्रयोग और कर्तव्यों का पालन करते हैं।

(8) 44वां संविधान संशोधन अधिनियम, 1978 अस अधिनियम द्वारा अनुच्छेद 74 में एक-एक परन्तुक जोड़कर उसमें राष्ट्रपति को यह अधिकार दिया गया है कि वह मन्त्रिमण्डल द्वारा दी हुई सलाह को सामान्य तौर से या अन्यथा, उसके पुनर्विचार के लिए वापस कर दे। किन्तु यदि ऐसे पुनर्विचार के बाद से सलाह दी जाती है तो वह उसे मानने के लिए बाध्य होगा।

58वें संविधान संशोधन अधिनियम, 1987 के द्वारा राष्ट्रपति को यह अधिकार दिया गया है कि वह भारतीय संविधान का किसी भी मान्य भाषा में अनुवाद कर प्रकाशित करा सकता है।

इस प्रकार राष्ट्रपति कार्यपालिका और विधायिनी शक्ति का प्रमुख है और वह राष्ट्र के कार्यकलापों को सही रूप में चलाने के लिए योगदान देता है। राष्ट्रपति भारत का संवैधानिक प्रमुख होता है जो देश के शासन के संचालन में महत्वपूर्ण भूमिका रखता है।

भारत के राष्ट्रपति की शक्तियाँ (Powers of the president of india)— भारतीय संविधान में राष्ट्रपति को महत्वपूर्ण शक्तियाँ और विशेषाधिकार प्रदान किये गये हैं। राष्ट्रपति को संविधान द्वारा प्रदत्त शक्तियों की विवेचना निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत की जा सकती है—

(1) कार्यपालिका शक्ति (Executive power)— भारतीय संविधान के अनुच्छेद 53 के अन्तर्गत राष्ट्रपति को कार्यपालिका शक्तियाँ प्रदान की गई हैं। राष्ट्रपति भारत का सर्वोच्च अधिकारी होता है। भारत सरकार का प्रधान होने से सरकार की समस्त कार्यपालिका कार्यवाही राष्ट्रपति के नाम से की जाती है।

राष्ट्रपति, राष्ट्र का प्रमुख होता है। वह संविधान के विभिन्न उपबन्धों के अन्तर्गत सभी संवैधानिक उच्च पदों पर नियुक्तियाँ करता है। वह प्रधानमंत्री की, प्रधानमंत्री की सलाह से अन्य मन्त्रियों की, उच्चतम न्यायालय और राज्यों के उच्च न्यायालयों के न्यायाधीश की, राज्यों के राज्यपाल की, भारत के महान्यायावदी और भारत के नियन्त्रक तथा महालेखा परीक्षक की, संघ लोक आयोग के सदस्यों की, अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जन जाति के लोगों के लिए विशेष अधिकारी, अनुसूचित और पिछड़े वर्गों के लिए आयोग और अल्पसंख्यकों के लिए, विशेषाधिकारी आदि की नियुक्तियाँ करता है और उन्हें पदच्युत भी कर सकता है।

(2) सैनिक शक्ति (Military power)— वह भारत के प्रथम नागरिक और देश की एकता के प्रतीक हैं। सर्वोच्च कमांडर: राष्ट्रपति भारतीय सशस्त्र बलों का सर्वोच्च कमांडर है। युद्ध की घोषणा कर सकते हैं: प्रधान मंत्री की अध्यक्षता वाली केंद्रीय मंत्रिपरिषद की सलाह पर राष्ट्रपति युद्ध की घोषणा कर सकते हैं या शांति समाप्त कर सकते हैं।

(3) कूटनीतिक शक्ति (Diplomatic power)— संविधान के राष्ट्रपति को कूटनीतिक शक्तियाँ प्रदान की गई हैं जिसके अन्तर्गत वह विदेशों में राजदूत और कूटनीतिक प्रतिनिधियों को नियुक्त कर सकता है। राष्ट्रपति विदेशी कूटनीतिज्ञ और राजदूतों का सम्मान करता है। विदेशों से सन्धियाँ और अन्तर्राष्ट्रीय समझौते करता है।

(4) विधायिका शक्ति (Legislative power)— भारत में, राष्ट्रपति विधायिका के प्रमुख होते हैं। राष्ट्रपति के पास संसद के किसी भी सदन को बुलाने और स्थगित करने या लोकसभा को भंग करने की शक्ति होती है। हालांकि, वे इन शक्तियों का इस्तेमाल केवल प्रधानमंत्री और उनकी केंद्रीय परिषद की सलाह पर ही कर सकते हैं।

भारत की संघ विधायिका को संसद कहा जाता है। यह राष्ट्रपति और दो सदनों से मिलकर बनी होती है। ये दो सदन हैं— राज्य परिषद (राज्य सभा) और जनता का सदन (लोकसभा)। हर सदन को पिछली बैठक के बाद छह महीने के अंदर बैठना होता है। कुछ मामलों में, दोनों सदनों की संयुक्त बैठक भी की जा सकती है।

अनुच्छेद 117 के अनुसार— (1) अनुच्छेद 110 के खंड (1) के उप-खंड (ए) से (एफ) में निर्दिष्ट किसी भी मामले के लिए प्रावधान करने वाला कोई विधेयक या संशोधन राष्ट्रपति की सिफारिश के अलावा पेश या स्थानांतरित नहीं किया जाएगा। ऐसा प्रावधान बनाना राज्यों की परिषद में पेश नहीं किया जाएगा। बशर्ते कि इस खंड के तहत किसी भी कर में कमी या उन्मूलन के लिए प्रावधान करने वाले संशोधन को आगे बढ़ाने के लिए किसी सिफारिश की आवश्यकता नहीं होगी।

(2) किसी विधेयक या संशोधन को केवल इस कारण से उपरोक्त किसी भी मामले के लिए प्रावधान करने वाला नहीं माना जाएगा क्योंकि इसमें जुर्माना या अन्य आर्थिक दंड लगाने, या लाइसेंस के लिए शुल्क की मांग या भुगतान या सेवाओं के लिए शुल्क का प्रावधान है। प्रस्तुत किया गया है, या इस कारण से कि यह स्थानीय उद्देश्यों के लिए किसी भी स्थानीय प्राधिकारी या निकाय द्वारा किसी भी कर को लगाने, समाप्त करने, छूट, परिवर्तन या विनियमन का प्रावधान करता है।

(3) कोई विधेयक, जो यदि अधिनियमित हो जाता है और प्रवर्तन में लाया जाता है, तो उसमें भारत की संचित निधि से व्यय शामिल होगा, संसद के किसी भी सदन द्वारा तब तक पारित नहीं किया जाएगा जब तक कि राष्ट्रपति उस सदन को विधेयक पर विचार करने की सिफारिश न कर दे।

अनुच्छेद 80(3) के अनुसार— भारतीय संविधान के अनुच्छेद 80(3) के मुताबिक, राष्ट्रपति राज्यसभा के लिए 12 सदस्यों को मनोनीत करते हैं। ये सदस्य साहित्य, विज्ञान, कला, और समाज सेवा जैसे मामलों में विशेष ज्ञान या व्यावहारिक अनुभव रखते हैं। राज्यसभा में कुल 250 सीटें हैं, जिनमें से 12 सदस्यों को राष्ट्रपति मनोनीत करते हैं और 238 सदस्य राज्यों और दो केंद्र शासित प्रदेशों के प्रतिनिधि होते हैं।

(5) न्यायिक शक्ति (Judicial power)— भारतीय संविधान के 72वें अनुच्छेद के मुताबिक, राष्ट्रपति को न्यायिक शक्तियाँ दी गई हैं। इन शक्तियों के तहत, राष्ट्रपति दंड का उन्मूलन, क्षमा, आहरण, परिहरण, और परिवर्तन कर सकता है। क्षमादान का मतलब है कि किसी व्यक्ति को मिली सज़ा, दोष सिद्धि, और निर्योज्ञताएं खत्म कर देना। क्षमादान पूर्ण या आंशिक रूप से दिया जा सकता है। यह सज़ा देने के बाद या उससे पहले भी दिया जा सकता है।

(6) आपातकालीन शक्ति (Emergency power)— भारतीय संविधान के अनुच्छेद 352 के तहत, राष्ट्रपति को राष्ट्रीय आपातकाल की घोषणा करने की शक्ति है। यह घोषणा तब की जा सकती है जब देश या इसके किसी हिस्से की सुरक्षा को युद्ध, बाहरी आक्रमण, या सशस्त्र विद्रोह से खतरा हो। राष्ट्रीय आपातकाल की घोषणा होने पर राष्ट्रपति को 120 से ज़्यादा शक्तियाँ मिल जाती हैं। अगर कांग्रेस भी राष्ट्रीय आपातकाल घोषित करने में राष्ट्रपति के साथ शामिल हो जाए, तो राष्ट्रपति को 13 और शक्तियाँ मिलती हैं। ये शक्तियाँ कई क्षेत्रों में फैली हुई हैं, जिनमें सेना, संचार चैनल, और परिवहन शामिल हैं। इन शक्तियों में तटरक्षक बल के सदस्यों को नोटरी पब्लिक नियुक्त

करने का अधिकार और रेडियो स्टेशनों को बंद करने या उन पर नियंत्रण रखने का अधिकार भी शामिल है। आपातकालीन शक्तियां वे विशेष अधिकार हैं जिनका इस्तेमाल सरकार या राष्ट्रपति असाधारण स्थितियों में कर सकते हैं। इन स्थितियों में युद्ध, विद्रोह, आतंकवादी हमले, पर्यावरणीय आपदाएं, गंभीर औद्योगिक दुर्घटनाएं, महामारी, या इसी तरह की स्थितियां शामिल हैं। राष्ट्रीय आपातकाल की स्थिति में राष्ट्रपति को देश की सुरक्षा और अखंडता को बनाए रखने के लिए कार्रवाई करने की अनुमति मिलती है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 360 के मुताबिक, राष्ट्रपति वित्तीय आपातकाल की घोषणा भी कर सकते हैं। यह घोषणा तब की जा सकती है जब राष्ट्रपति को लगे कि भारत या इसके किसी हिस्से का वित्तीय स्थायित्व खतरे में है।

प्रश्न न० 2— भारत के राष्ट्रपति के विशेषाधिकारों एवं उन्मुक्तियों की विवेचना कीजिए।

उत्तर— भारत के राष्ट्रपति के विशेषाधिकार (Privileges of the President of India)— भारतीय संविधान के अनुच्छेद 361 के अन्तर्गत भारत के राष्ट्रपति को कुछ विशेषाधिकार प्रदान किये गये हैं, जो निम्नलिखित हैं—

(1) न्यायालय के प्रति उत्तरदायी न होना (Not answerable to Court)— भारतीय संविधान के अनुच्छेद 361(1) के अन्तर्गत राज्यों के राज्यपाल और राष्ट्रपति को न्यायालय के प्रति उत्तरदायी न होने का विशेषाधिकार प्राप्त है। इस अनुच्छेद में कहा गया है—

(1) राष्ट्रपति, या किसी राज्य के राज्यपाल या राजप्रमुख, अपने कार्यालय की शक्तियों और कर्तव्यों के प्रयोग और प्रदर्शन के लिए या अभ्यास में उनके द्वारा किए गए या किए जाने वाले किसी भी कार्य के लिए किसी भी अदालत के प्रति जवाबदेह नहीं होंगे। उन शक्तियों एवं कर्तव्यों का पालन :

बशर्ते कि राष्ट्रपति के आचरण को अनुच्छेद 61 के तहत किसी आरोप की जांच के लिए संसद के किसी भी सदन द्वारा नियुक्त या नामित किसी भी अदालत, न्यायाधिकरण या निकाय द्वारा समीक्षा के तहत लाया जा सकता है:

बशर्ते कि इस खंड में किसी भी बात को भारत सरकार या किसी राज्य की सरकार के खिलाफ उचित कार्यवाही करने के किसी भी व्यक्ति के अधिकार को प्रतिबंधित करने वाला नहीं माना जाएगा।

(2) राष्ट्रपति या किसी राज्य के राज्यपाल के खिलाफ उनके कार्यकाल के दौरान किसी भी अदालत में कोई भी आपराधिक कार्यवाही शुरू नहीं की जाएगी या जारी नहीं रखी जाएगी।

(3) राष्ट्रपति या किसी राज्य के राज्यपाल की गिरफ्तारी या कारावास की कोई प्रक्रिया उनके कार्यकाल के दौरान किसी भी अदालत से जारी नहीं की जाएगी।

(4) कोई भी सिविल कार्यवाही जिसमें राष्ट्रपति या किसी राज्य के राज्यपाल के खिलाफ राहत का दावा किया गया है, उनके कार्यकाल के दौरान किसी भी अदालत में उनकी व्यक्तिगत क्षमता में उनके द्वारा किए गए या किए जाने वाले किसी कार्य के संबंध में शुरू नहीं की जाएगी। चाहे वह राष्ट्रपति के रूप में या ऐसे राज्य के राज्यपाल के रूप में अपना पद ग्रहण करने से पहले या बाद में, राष्ट्रपति या राज्यपाल को, जैसा भी मामला हो, लिखित रूप में नोटिस दिए जाने के अगले दो महीने की समाप्ति तक, या चले जाने तक अपने कार्यालय में कार्यवाही की प्रकृति, उसके लिए कार्रवाई का कारण, उस पक्ष का नाम, विवरण और निवास स्थान जिसके द्वारा ऐसी कार्यवाही शुरू की जानी है और जिस राहत का वह दावा करता है, बताते हुए।

(2) दण्डिक कार्यवाही के विरुद्ध विशेषाधिकार (Privileges against the criminal proceeding)— भारतीय संविधान के अनुच्छेद 361(2) के मुताबिक, राष्ट्रपति या किसी राज्य के राज्यपाल के कार्यकाल के दौरान उनके खिलाफ किसी भी अदालत में कोई आपराधिक कार्यवाही शुरू नहीं की जाएगी या जारी नहीं रखी जाएगी। अनुच्छेद 361 के तहत, राष्ट्रपति, राज्यपाल, और राजप्रमुखों को उनके पद के दौरान अदालती कार्यवाही से विशेष संरक्षण प्राप्त है।

(3) कारावास के विरुद्ध विशेषाधिकार (Privileges against imprisonment)— भारतीय संविधान के अनुच्छेद 361(3) के मुताबिक, राष्ट्रपति या किसी राज्य के राज्यपाल के कार्यकाल के दौरान उनकी गिरफ्तारी या कारावास के लिए किसी भी अदालत से आदेशिका नहीं निकाली जाएगी। इसके अलावा, राष्ट्रपति या राज्यपाल के खिलाफ उनके कार्यकाल के दौरान किसी भी अदालत में कोई आपराधिक कार्यवाही शुरू नहीं की जाएगी या जारी नहीं रखी जाएगी।

(4) दीवानी कार्यवाही के विरुद्ध विशेषाधिकार (Privileges against civil proceeding)— भारतीय संविधान के अनुच्छेद 361(4) के मुताबिक, राष्ट्रपति या राज्यपाल के रूप में अपना पद संभालने से पहले या बाद में उनकी वैयक्तिक क्षमता में किए गए किसी काम के लिए, उनकी पदावधि के दौरान किसी अदालत में सिविल कार्यवाही नहीं की जाएगी। यह तब तक नहीं की जाएगी, जब तक कि:—

(1) कार्यवाही की प्रकृति।

(2) कार्यवाही के लिए वाद हेतुक।

(3) कार्यवाही करने वाले पक्षकार का नाम, पता, और विवरण।

(4) जिस अनुतोष का दावा किया जा रहा है, उसका विवरण।

(5) लिखित सूचना राष्ट्रपति या राज्यपाल को दी गई है या उनके कार्यालय में छोड़ी गई है।

(6) दो महीने का समय नहीं बीता है।

राष्ट्रपति के अध्यादेश पारित करने की शक्ति— भारतीय संविधान के अनुच्छेद 123 के मुताबिक, राष्ट्रपति को देश की संसद के अवकाश के दौरान अध्यादेश जारी करने की शक्ति दी गई है। राष्ट्रपति तभी अध्यादेश जारी कर सकते हैं,

जब संसद के दोनों सदनों या उसमें से किसी एक सदन का सत्र न चल रहा हो। राष्ट्रपति को उस मामले की तात्कालिकता से पूरी तरह संतुष्ट होना होगा जिस पर उन्हें अध्यादेश जारी करने के लिए कहा गया है। राष्ट्रपति किसी भी समय अध्यादेश वापस ले सकते हैं। अध्यादेश, संसद के अधिनियम के रूप में काम करते हैं और उनका प्रभाव भी समान होता है। अध्यादेश को संसद द्वारा पुनः विधानसभा के छह सप्ताह के भीतर अनुमोदित किया जाना चाहिए। संसद द्वारा अनुमोदन नहीं होने की स्थिति में, राष्ट्रपति द्वारा जारी अध्यादेश की अधिकतम अवधि 6 महीने और 6 सप्ताह हो सकती है। अनुच्छेद 123 के तहत प्रख्यापित अध्यादेश का संसद के अधिनियम के समान बल और प्रभाव होगा। हालांकि, अधिनियमित अध्यादेश को भारतीय संविधान में निहित किसी भी मौलिक अधिकार को कम या कम नहीं करना चाहिए। अगर इस अनुच्छेद के तहत कोई अध्यादेश कोई प्रावधान करता है जिसे संसद इस संविधान के तहत अधिनियमित करने में सक्षम नहीं होगी, तो वह शून्य होगा।

अध्यादेश की अवधि— भारत में, राष्ट्रपति द्वारा जारी अध्यादेश की अधिकतम अवधि 6 महीने और 6 सप्ताह हो सकती है। अगर संसद अध्यादेश को अनुमोदित नहीं करती, तो यह अवधि 6 महीने और 6 सप्ताह तक हो सकती है। संसद के दोनों सदनों के सत्र में आने के बाद, अध्यादेश 6 सप्ताह के बाद समाप्त हो जाता है। संसद अध्यादेश को पारित कर सकती है या इसे अस्वीकार कर सकती है। अगर संसद के दोनों सदन इसका निरामोदन कर देते हैं, तो यह 6 हफ्ते से पहले भी समाप्त हो सकता है। अगर संसद के दोनों सदनों को अलग-अलग तिथि में बैठक के लिए बुलाया जाता है, तो ये 6 हफ्ते बाद वाली तिथि से गिने जाएंगे। राष्ट्रपति किसी भी समय अध्यादेश वापस ले सकता है।

ए.के. राय बनाम भारत संघ, ए.आई.आर 1982 एस.सी. के वाद में सुप्रीम कोर्ट ने कहा कि संविधान के अनुच्छेद के तहत राष्ट्रपति द्वारा जारी किया गया अध्यादेश कार्यपालिका शक्ति के अन्तर्गत नहीं है, किन्तु यह तो देश के सुशासन और शान्ति के लिए आवश्यक है और तुरन्त परिस्थितियों को सम्हालने की विधायिनी शक्ति है। अध्यादेश द्वारा पूर्व प्रचलित किसी अधिनियम को निरस्त किया जा सकता है, उसमें तब्दीली की जा सकती है और उस प्रावधान को पूर्व रूप से लागू किया जा सकता है। तब आपातस्थिति लागू हो तो राज्य सूची विषयों पर भी अध्यादेश जारी किया जा सकता है।

प्रश्न न० 3— भारत के प्रधानमंत्री की भूमिका एवं शक्तियों का परीक्षण कीजिए। क्या भारत का राष्ट्रपति मंत्रिपरिषद् की सलाह मानने के लिए बाध्य है? सुसंगत अनुच्छेदों का उल्लेख कीजिए। अथवा राष्ट्रपति व मन्त्रिपरिषद् के सम्बन्धों की प्रकृति की व्याख्या कीजिए। क्या राष्ट्रपति मन्त्रिपरिषद् द्वारा दी गयी सहायता व परामर्श से बाध्य है? इन सन्दर्भ में संविधान में किये गये संशोधन का हवाला दीजिए।

उत्तर— भारत का राष्ट्रपति मंत्रिपरिषद् की सलाह मानने के लिए बाध्य है इसे दो भागों में बाँटा जा सकता है—

(1) 42वें संशोधन एवं 44वें संशोधन के पूर्व की स्थिति — भारतीय संविधान का अनुच्छेद 53 यह उपबन्धित करता है कि “संघ की कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति में निहित होगी और वह उसका प्रयोग संविधान के अनुसार स्वयं या अपने अधीनस्थ पदाधिकारियों के द्वारा करेगी।”

संविधान के अनुच्छेद 74(1) में उपबन्धित है कि राष्ट्रपति को अपने कृत्यों का सम्पादन करने हेतु सहायता और मन्त्रणा करने के लिए एक मन्त्रिपरिषद् होगी जिसका प्रधान प्रधानमंत्री होगा।

भारतीय संविधान का अनुच्छेद 75(1) यह बताता है कि वह प्रधानमंत्री की नियुक्ति करेगा तथा अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति प्रधानमंत्री की सलाह से करेगा।

अनुच्छेद 75(2) यह कहता है कि मन्त्रीगण राष्ट्रपति के प्रसादपर्यन्त अपने पद धारण करेंगे।

अनुच्छेद 75(3) यह स्पष्ट करता है कि मन्त्रिपरिषद् लोकसभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी होगी। उपर्युक्त उपबन्धों के संकीर्ण एवं शाब्दिक निर्वचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि राष्ट्रपति कार्यपालिका का वास्तविक प्रधान है और यदि वह चाहे तो तानाशाह बन सकता है। अनुच्छेद 53 में प्रयुक्त शब्दावली उसको वास्तविक शासन बनने का अवसर प्रदान करती है। यह सच है कि उसे अपने कार्यों को मन्त्रिमण्डल की राय से करना चाहिए किन्तु अनुच्छेद 74 की शब्दावली में यह नहीं कहा गया है कि वह मन्त्रिपरिषद् की मन्त्रणा पर कार्य करने के लिए बाध्य है।

लेकिन यदि हम अपने संविधान की पृष्ठभूमि में अन्तर्निहित मूल भावना पर विचार करें तो यह निष्कर्ष निकलता है कि उपर्युक्त मत सही नहीं है। तब हम संविधान के अनुच्छेद 75(3) और अनुच्छेद 75, विधायिका कार्यपालिका के सम्बन्धों, संविधान द्वारा अपनाई गई शासन प्रणाली आदि को सामने रखकर उक्त उपबन्ध का अवलोकन करें तो स्पष्ट हो जायेगा कि सहायता और परामर्श जो कि राष्ट्रपति को मन्त्रिपरिषद् की सहायता और परामर्श के विरुद्ध नहीं कर सकता है। इस प्रकार मन्त्रिपरिषद् का कार्य केवल सहायता एवं परामर्श मात्र राष्ट्रपति को देना नहीं है, वास्तव में शासन का संचालन मन्त्रिपरिषद् के हाथ में है जो अपने कार्यों के लिए सामूहिक रूप से संसद के प्रति उत्तरदायी है। मन्त्रिपरिषद् का परामर्श मानने का विकल्प राष्ट्रपति को तभी दिया जा सकता था जबकि राष्ट्रपति संसद को उत्तरदायी होता। भारतीय संविधान में संसद के प्रति राष्ट्रपति उत्तरदायी नहीं है बल्कि मन्त्रिपरिषद् संसद के प्रति उत्तरदायी है। अनुच्छेद 78 के अनुसार प्रधानमंत्री पर केवल इतना दायित्व डाला गया है कि वह प्रशासकीय एवं विधायी मामलों से सम्बन्धित एवं नीतिगत विषय मन्त्रिपरिषद् के निर्णयों को अवगत कराता रहे और राष्ट्रपति जो भी सूचना माँगे वह राष्ट्रपति को उपलब्ध कराए। इस प्रकार वास्तविक सत्ता मन्त्रिपरिषद् में निहित है, राष्ट्रपति में नहीं। इस विषय में हम एक निष्कर्ष भारतीय संविधान के अनुसार अनुच्छेद 164 के आधार पर भी

निकाल सकते हैं। इस अनुच्छेद में राज्यपाल के अधिकारों का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि मन्त्रिपरिषद् की मन्त्रणा को अस्वीकृत कर सकता है। इस प्रकार का उल्लेख 74 में नहीं किया गया है। इससे यह स्पष्ट है कि संविधान के निर्माताओं का यह स्पष्ट विचार था कि राष्ट्रपति को मन्त्रिपरिषद् की मन्त्रणा या परामर्श मानने के इन्कार करता है। तो ऐसी दशा में अधिक सम्भावना इस बात की है कि चूँकि मन्त्रिपरिषद् संसद के प्रति उत्तरदायी है और वह राष्ट्रपति द्वारा सलाह न माँगे जाने पर यह दायित्व अपने ऊपर ले सकेगी और वह त्यागपत्र दे देगी। अब ऐसी दशा की स्थिति यह हो जायेगी कि राष्ट्रपति को अल्पमत के सदस्यों से मन्त्रिपरिषद् का गठन करना पड़ेगा क्योंकि संविधान की व्यवस्थाओं के अनुसार मन्त्रिपरिषद् का होना आवश्यक है। इन अल्पसंख्यक सदस्यों से जो मन्त्रिपरिषद् बनेगी वह संसद कोई भी विधेयक उचित बहुमत से पारित न करवा पायेगी और संसद का कार्य लगभग ठप्प हो जायेगा क्योंकि वह कोई कानून बना ही नहीं सकेगी। अतः कुल मिलाकर स्थिति यह है कि राष्ट्रपति को मन्त्रिपरिषद् का परामर्श मानना अनिवार्य है। इसके लिए न मानने का विकल्प उपलब्ध नहीं है।

रामजवायँ कपूर बनाम पंजाब राज्य, ए.आई.आर 1955 एस.सी. के वाद में उच्चतम न्यायालय ने कहा है कि राष्ट्रपति (तथा राज्यपाल) केवल नाममात्र के प्रमुख हैं। वास्तविक कार्यपालिका शक्ति तो मन्त्रिपरिषद् में निहित है।

यू.एन. राव बनाम इन्दिरा गाँधी, ए.आई.आर 1974 एस.सी. 1002 के वाद में उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि लोकसभा के विघटन हो जाने पर भी मन्त्रिपरिषद् समाप्त नहीं होती है। मन्त्रिपरिषद् प्रत्येक दशा में बनी रहती है और राष्ट्रपति को सलाह देती रहती है। यदि राष्ट्रपति मन्त्रिपरिषद् की सलाह के बिना कार्य करता है तो वह अनुच्छेद 53(1) तथा अनुच्छेद 74 के विपरीत एवं असंवैधानिक होगा। इससे स्पष्ट है कि लोकसभा के विघटन के पश्चात् भी मन्त्रिपरिषद् अपने पद में बनी रहती है।

(2) 42वें संशोधन एवं 44वें संशोधन के पश्चात् की स्थिति — सरकारी गतिविधियाँ, न्यायिक निर्णय और विधायी कानून सभी देश के विकास और नियति को प्रभावित करते हैं। सभी राष्ट्र अपने-अपने संविधान द्वारा शासित होते हैं। संविधान अपने मूल्यों के कारण एक सहायक ढाँचा है। इस क्षेत्र में कमियाँ आसानी से किसी देश के वर्गीकरण और पदानुक्रम को ढहा सकती हैं। कार्यकारी सर्वोच्चता वाले राष्ट्र में इसकी उपस्थिति और सीमा सीमित है। भारत सहित अधिकांश लोकतांत्रिक देशों द्वारा संवैधानिक सर्वोच्चता की रणनीति अपनाई जाती है। 42वाँ संवैधानिक संशोधन अधिनियम अपने असंगत संशोधनों और परिवर्धन (1976) के लिए जाना जाता है। इंदिरा गांधी द्वारा नियुक्त स्वर्ण सिंह समिति ने सिफारिशें प्रदान कीं। इस संशोधन द्वारा संविधान में 40 नए खंड और 14 नए अनुच्छेद जोड़े गए। अपनी चर्चा को संक्षिप्त और स्पष्ट रखने के लिए, हम संविधान की सार्वजनिक समझ में सबसे महत्वपूर्ण परिवर्तनों पर ध्यान केंद्रित करेंगे जो आपातकाल के दौरान हुए थे। इस परिवर्तन के परिणामस्वरूप निम्नलिखित परिवर्तन हुए। अमेरिकी संविधान बनने के बाद से लोगों के मौलिक अधिकारों की रक्षा की गई है। 42वाँ संशोधन बुनियादी अधिकारों को अस्थायी रूप से निलंबित करने का प्रावधान प्रदान करता है। बाह्य आपातकाल में अनुच्छेद 358 संवैधानिक रूप से प्रदत्त अधिकारों को निलंबित कर देता है। “आपातकालीन कानून” को अनुच्छेद 19 से छूट प्राप्त है। जब भारतीय संविधान का ‘आपातकालीन कानून’ अनुच्छेद 20 और 21 को छोड़कर किसी भी मौलिक अधिकार का उल्लंघन करता है, तो राष्ट्रपति के पास किसी भी नुकसान के उपचार के अधिकार को निलंबित करने की शक्ति है। इस लेख के अनुसार, राष्ट्रपति एक निश्चित समय के लिए या जब तक आपातकाल रहेगा तब तक के लिए राष्ट्रपति आदेश जारी कर सकता है। संविधान का अनुच्छेद 359 प्रवर्तन को निलंबित करता है, हालाँकि यह स्वचालित रूप से नहीं होता है। इस तथ्य के बावजूद कि इस संशोधन को अक्सर भारतीय संवैधानिक इतिहास में सबसे विवादास्पद माना जाता है, इसके कई हिस्से कई वर्षों से लागू हैं और अभी भी उपयोगी माने जाते हैं। उदाहरण के लिए, मुफ्त कानूनी सहायता, बच्चों और पर्यावरण संरक्षण, बुनियादी अधिकार और अन्य नीतियों को व्यक्तियों और समुदायों के लिए समान रूप से फायदेमंद माना जाता है। हालाँकि, इसके प्रभाव और कई अन्य कारकों के परिणामस्वरूप इस संशोधन की बहुत खराब प्रतिष्ठा है। जब 1978 में 45वें संशोधन अधिनियम पर हस्ताक्षर कर कानून बनाया गया, तो इसमें भारतीय संविधान में संशोधन 44 जोड़ा गया। 1976 में पारित 42वें संशोधन अधिनियम ने संविधान में संशोधन करके भारतीय लोगों की इच्छा को खत्म कर दिया। आपातकाल की घोषणा करने के लिए इंदिरा गांधी की भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस द्वारा अनुच्छेद 352 का उपयोग किया गया था। सौभाग्य से, 1978 का संविधान अधिनियम इन खामियों को दूर करने और सरकार और लोगों के बीच सामंजस्य स्थापित करने के लिए निर्धारित किया गया था। यह लेख भारत के 44वें संवैधानिक संशोधन पर विस्तार से बताता है। दोनों मामलों में, सरकार आपातकाल की स्थिति की घोषणा करती है, और दोनों घटनाएँ लगभग समान हैं। 1978 के 44वें संशोधन को पारित करने के लिए दो-तिहाई बहुमत की आवश्यकता है। किसी उद्घोषणा को कानूनी रूप से पारित करने के लिए, सदन और सीनेट के दो-तिहाई बहुमत का इसका समर्थन करना होगा। यदि किसी भी चैंबर ने मंजूरी नहीं दी होती तो कोई कार्रवाई नहीं होने पर यह दो महीने के बाद समाप्त हो जाती। 44वें संशोधन के कानून में हस्ताक्षरित होने से पहले, यह एक महीने से थोड़ा अधिक था।

975 में संसद के दोनों सदनों द्वारा आपातकाल की घोषणा को स्वीकार किए जाने के बाद, इसकी किसी और समीक्षा की आवश्यकता नहीं थी। 1978 के 44वें संशोधन अधिनियम के तहत आपातकालीन घोषणा की छह महीने की समीक्षा की आवश्यकता थी और, नई संसदीय सहमति के बिना, उस अवधि के बाद इसकी समाप्ति। लोकसभा के सौ प्रतिशत सदस्य उद्घोषणा को निरस्त करने पर बहस के लिए एक सम्मेलन बुला सकते हैं। इसे 14 दिन के अंदर बनाना होगा। विशेष बैठक में आसान बहुमत से संकट समाप्त हो जाएगा। ज्यादातर मामलों में, आपातकाल

की स्थिति एक वर्ष तक रहती है। 1978 में पारित अमेरिकी संविधान का 44वां संशोधन इस स्वतंत्रता की रक्षा करता है। 1978 में 44वें संशोधन अधिनियम पर हस्ताक्षर किए जाने के बाद, बंदी प्रत्यक्षीकरण की रिट सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालयों में दायर की जा सकती है। संवैधानिक संशोधन 352 (38वां संशोधन) ने इसे अनुचित बना दिया। आज की स्थिति के अनुसार, खंड 5 को हटाने के कारण, कोई भी सरकार के बुरे इरादों के आधार पर आपातकाल की किसी भी घोषणा को अदालत में चुनौती दे सकता है। राष्ट्रीय आपातकाल अनुच्छेद 20 और 21 अधिकारों के प्रवर्तन को नहीं रोकता है।

42वें तथा 44वें संविधान के बाद यद्यपि राष्ट्रपति के विशेषाधिकार का क्षेत्र अत्यन्त सीमित हो गया है फिर भी ऐसी कुछ परिस्थितियाँ अब भी हैं जहाँ राष्ट्रपति मन्त्रिपरिषद् का परामर्श मानने के बाध्य नहीं है। ये मामले हैं—

(क) प्रधानमंत्री की नियुक्त (ख) लोकसभा का विघटन

प्रश्न न० 4— लोकसभा का सदस्य होने की योग्यता एवं अयोग्यताओं का संक्षेप में विवेचना कीजिए। अथवा भारत में संसद का सदस्य बनने हेतु योग्यताओं एवं अयोग्यताओं की विवेचना कीजिए।

उत्तर— लोकसभा राज्यसभा सदस्यों की अर्हताएँ भारतीय संविधान के अनुच्छेद 84 में दिया गया है जिसके अनुसार, संसद की सदस्यता के लिए किसी व्यक्ति को निम्नलिखित अर्हताएँ रखनी आवश्यक हैं—

(क) वह भारत का नागरिक हो;

(ख) राज्यसभा के सदस्य के लिए कम से कम 30 वर्ष की आयु तथा लोकसभा के सदस्य के लिए कम से कम 25 वर्ष की आयु का होना आवश्यक है।

(ग) निर्वाचन आयोग द्वारा प्राधिकृत किसी व्यक्ति के समक्ष तृतीय अनुसूची में इस प्रयोजन के लिए दिये हुए प्रपत्र के अनुसार शपथ ले लिया हो;

(घ) वह ऐसी अन्य अर्हताएँ रखता हो जो इस सम्बन्ध में संसद द्वारा बनाई गई किसी विधि के द्वारा विहित की जाएँ। उदाहरण के लिए, लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951 के अनुसार व्यक्ति का नाम किसी भी निर्वाचन-क्षेत्र से मतदाता के रूप में पंजीकृत होना चाहिए।

सदस्यों की निरर्हताएँ के सम्बन्ध में भारतीय संविधान 102 में बताया गया है। अनुसार, कोई व्यक्ति संसद का सदस्य चुने जाने या सदस्य बने रहने योग्य न होगा, यदि वह निम्नलिखित निरर्हताएँ रखता है—

(क) यदि वह भारत सरकार अथवा किसी राज्य सरकार के अधीन कोई लाभ का पद धारण करता है;

(ख) यदि वह विकृत-चित्त और सक्षम न्यायालय की ऐसी घोषणा विद्यमान है;

(ग) यदि अनुन्योचित दिवालिया है;

(घ) यदि वह भारत का नागरिक नहीं या किसी विदेशी राज्य की नागरिकता स्वेच्छा से अर्जित कर लिया है, या किसी विदेशी राज्य के प्रति निष्ठा या अनुषक्ति को स्वीकार कर लेता है।

(ङ) यदि वह संसद द्वारा बनाई किसी विधि द्वारा निरर्ह घोषित कर दिया जाता है। संसद ने लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951 पारित करके संसद की अर्हता और निरर्हता को विहित किया है।

इनके अतिरिक्त 52वें संविधान अधिनियम, 1985 द्वारा अनुच्छेद 122 में एक नया खण्ड 2 जोड़ा गया है जो यह उपबधित करता है कि संसद सदस्य की सदस्यता दसवीं अनुसूची में उल्लिखित आधारों पर समाप्त हो जायेगी। इसके अतिरिक्त लोक प्रतिनिधित्व 1951 में भी संसद की सदस्यता के लिए अयोग्यताओं का वर्णन किया गया है। इस अधिनियम के अनुसार निम्नलिखित व्यक्ति संसद सदस्य नहीं हो सकते—

(1) किसी चुनाव में भ्रष्टाचार;

(2) किसी अपराध में दोषसिद्ध के फलस्वरूप दो या दो से अधिक वर्षों का कारावास का दण्ड दिया गया हो;

(3) चुनाव के खर्च का हिसाब पेश में विफलता;

(4) माल की आपूर्ति की संविदा में हित या अंश या सरकार के प्रति किसी कार्य का सम्पादन या सेवा करना;

(5) किसी नियम में जिसमें सरकार 25 प्रतिशत या इससे अधिक अंश रखती हो, लाभ का पद धारण करना;

(6) भ्रष्टाचार या सरकार के प्रति गैर-वफादारी के आधार पर सरकारी सेवा में से बर्खास्तगी के कारण।

प्रश्न न० 5— धन विधेयक को परिभाषित कीजिए। इसके पारित करने की प्रक्रिया का वर्णन कीजिए। अथवा “धन विधेयक की परिभाषा दीजिए तथा ‘वित्त विधेयक’ से अन्तर स्पष्ट कीजिए। धन विधेयक पारित करने की क्या प्रक्रिया है? अथवा धन विधेयक पारित करने की क्या प्रक्रिया है? साधारण विधेयक पारित करने की प्रक्रिया से यह किस प्रकार भिन्न है? कौन-सा विधेयक धन विधेयक है, इस पर कौन निर्णय करता है? अथवा विधेयक पारित करने की क्या प्रक्रिया है? यदि एक विधेयक लोकसभा से पारित हो जाता है, किन्तु राज्यसभा उसे अस्वीकार कर देती है तो विधेयक को पारित करने के लिए क्या प्रक्रिया अपनायी जाती है?

उत्तर— साधारण विधेयक से कानून निर्माण की प्रक्रिया (Procedure Prescribed for Enacting Law by Ordinary Bill)— भारतीय संविधान के अन्तर्गत संसद को कानून बनाने को महत्वपूर्ण अधिकार प्राप्त है। संसद में कानून निर्माण की प्रक्रिया विधेयक द्वारा प्रारम्भ होती है। जब संसद कानून बनाती है तो प्रस्तावित कानूनों का प्रारूप तैयार करके लिख लिया जाता है। यह प्रस्तावित कानून ही विधेयक कहलाता है। जब तक विधेयक को राष्ट्रपति की स्वीकृति नहीं मिल जाती वह विधेयक ही रहता है, किन्तु राष्ट्रपति द्वारा हस्ताक्षर होने के बाद से वह विधेयक कानून का रूप ले लेता है। साधारण विधेयकों से कानून बनाने की प्रक्रिया इस प्रकार है—

(1) साधारण विधेयक संसद के किसी भी सदन में प्रस्तुत किये जा सकते हैं। जब कोई विधेयक किसी केन्द्रीय मन्त्री द्वारा प्रस्तुत किया जाता है, वह सरकारी विधेयक कहलाता है। अन्य संसद सदस्यों द्वारा प्रस्तुत विधेयक व्यक्तिगत विधेयक कलाता है।

(2) सदन में प्रस्तुत किया गया विधेयक संसद के प्रत्येक सदन में तीन बार भेज जाता है जिसे विधेयक का वाचन कहते हैं।

(3) यदि विधेयक विवादग्रस्त होता है तो प्रथम वाचन में विधेयक को नहीं पढ़ा जाता क्योंकि प्रत्येक विधेयक सदन की अनुमति से ही प्रस्तुत किया जाता है। इस वाचन में विधेयक का शीर्षक सुनाया जाता है।

(4) द्वितीय वाचन में विधेयक पर विचार-विमर्श किया जाता है। इस समय सदन में विधेयक मूल नीति पर बहस होती है। मूल नीति के स्वीकृत हो जाने के पश्चात् यदि आवश्यकता महसूस होती है जो विधेयक को प्रवर समिति समक्ष भेजा जाता है। प्रवर समिति संसद की एक छोटी संस्था होती है। यहाँ विधेयक की कड़ी जाँच के पश्चात् यदि कोई विवाद उत्पन्न होता है तो उसकी प्रत्येक धारा और उपधारा को विचारित किया जाता है। इस वाचन में इस विधेयक में आवश्यकतानुसार संशोधन किये जा सकते हैं। विधेयक में होने वाले संशोधन में बहुमत से विचार किया जाता है।

(5) तृतीय वाचन में निश्चित समय के पश्चात् पूरे विधेयक पर विचार किया जाता है। यहाँ पर विधेयक में कोई परिवर्तन नहीं किये जाते हैं। अन्ततः विधेयक पर मतदान होने के पश्चात् वह पहले सदन से पारित हुआ समझा जाता है। तत्पश्चात् उसे दूसरे सदन की स्वीकृति हेतु प्रेषित किया जाता है।

(6) दूसरे सदन में भी पहले के समान विधेयक को तीन बार पढ़ा जाता है और फिर बहुमत से स्वीकृत होने के बाद उस विधेयक को राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए भेज दिया जाता है।

(7) दोनों सदनों में बहुमत से विधेयक जब पारित होकर राष्ट्रपति के पास आता है तो राष्ट्रपति को उस विधेयक के सम्बन्ध में निम्नलिखित तीन अधिकार होते हैं—

(क) वह विधेयक को स्वीकृत कर सकता है, या

(ख) वह विधेयक को अस्वीकृत कर सकता है, या

(ग) वह विधेयक को पुनर्विचार के लिए वापस लौटा सकता है।

(8) जबकि विधेयक राष्ट्रपति की स्वीकृति के बिना वापस लौट आता है तो वह विधेयक पुनर्विचार के लिए सदनों आता है और पूर्व की प्रक्रिया के समान ही उस पर विचार किया जाता है और जब वह दोनों सदनों से स्वीकृत होकर राष्ट्रपति के पास पहुँचता है तो राष्ट्रपति उस विधेयक पर अपनी स्वीकृति देने के लिए बाध्य होता है। यदि राष्ट्रपति उस विधेयक को अपनी अनुमति नहीं प्रदान करता है तो यह विधेयक समाप्त समझा जायेगा।

(9) राष्ट्रपति की स्वीकृति मिल जाने से वह विधेयक कानून का रूप ले लेगा और उस कानून की धाराओं व उपधाराओं के प्रावधान देश पर उसी दिन से लागू समझे जायेंगे, जिस दिन से कि राष्ट्रपति द्वारा वह हस्ताक्षरित हुआ है।

वित्त विधेयक (Finance Bill)— वित्त विधेयक की परिभाषा भारतीय संविधान के अनुच्छेद 110 में की गई। वित्त विधेयक वित्त सम्बन्धी प्रत्येक मामले में से सम्बन्धित होते हैं और कर लगाने, कर में कमी करने या समाप्त करने या संचित निधि में धन डाले, विनियोग करने आदि से सम्बन्धित होता है।

अनुच्छेद 109(1) में कहा गया है कि धन विधेयक या वित्त विधेयक को केवल लोकसभा में ही प्रस्तुत किया जाता है, राज्यसभा में पेश किया जा सकता है।

वित्त विधेयक की प्रक्रिया (Procedure of the Finance Bill)— भारतीय संविधान में यह स्पष्ट किया गया है कि वित्त विधेयक को केवल लोकसभा में ही प्रस्तुत किया जा सकता है। कोई वित्त विधेयक राष्ट्रपति की सिफारिश के बिना लोकसभा में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता है। लोकसभा में प्रस्तुत किये जाने के पश्चात् वित्त विधेयक के सम्बन्ध में निम्नलिखित प्रक्रिया अपनाई जाती है—

(1) लोकसभा द्वारा पारित होने के पश्चात् वित्त विधेयक राज्यसभा में उसकी सिफारिश के लिए भेज दिया जाता है। राज्यसभा को वित्त विधेयक के प्राप्त होने के 14 दिन के अन्दर लोकसभा को वापस कर देना चाहिए। लोकसभा राज्यसभा द्वारा की गई सिफारिशों को स्वीकार या अस्वीकार करने का अधिकार रखती है।

(2) यदि लोकसभा, राज्यसभा की सिफारिशों में से किसी को स्वीकार कर लेती है, तो वह वित्त विधेयक दोनों सदनों से पारित समझा जायेगा। यदि लोकसभा राज्यसभा की सिफारिशों में से किसी को भी स्वीकार नहीं करती है तो वित्त विधेयक उसी रूप में दोनों सदनों द्वारा पारित समझा जाएगा।

(3) यदि राज्यसभा 14 दिन के भीतर वित्त विधेयक को वापस नहीं करती है तो उक्त अवधि की समाप्ति पर वह दोनों सदनों द्वारा उसी रूप में पारित समझा जायेगा जिसमें कि लोकसभा में उसको पारित किया था। इस प्रकार राज्यसभा धन विधेयक को अधिक से अधिक 14 दिन तक रोक सकती है।

(4) दोनों सदनों में पारित होने के पश्चात् वित्त विधेयक राष्ट्रपति के समक्ष उसकी अनुमति के लिए पेश किया जाता है क्योंकि कोई भी धन विधेयक राष्ट्रपति की अनुमति के बिना अधिनियम नहीं बनता है।

(5) राष्ट्रपति वित्त विधेयक को सदनों को पुनर्विचार के लिए नहीं लौटा सकता है। वित्त विधेयक वह अपनी अनुमति देने के लिए बाध्य है।

धन विधेयक (Money Bill)– (क) अनुच्छेद 110(1) उपबन्धित परिभाषा के अनुसार धन विधेयक केवल निम्नलिखित बातों में से सभी या किन्हीं एक के सम्बन्ध में उपबन्ध करता है–

- (1) किसी कर को लगाना, समाप्त करना, उसमें छूट देना या परिवर्तन करना या विनियमित करना,
 - (2) भारत सरकार के धन उधार लेने या कोई गारण्टी देने का विनियमन या भारत सरकार द्वारा स्वीकार किये गये या किये जाने वाले किसी वित्तीय आभार के सम्बन्ध में कानून का संशोधन,
 - (3) भारत की आकस्मिक निधि की या संचित निधि की अभिरक्षा या ऐसी किसी निधि में रूपयों का भुगतान करना या उसमें से रुपये निकालना,
 - (4) भारत की संचित निधि में से धन का विनियोग,
 - (5) किसी व्यय को भारत की संचित निधि का व्यय होना घोषित करना या ऐसे किसी व्यय की रकम को बढ़ाना,
 - (6) भारत की संचित निधि भारत के लोक-सेवा मद्दे धन प्राप्त करना, या ऐसे धन की अभिरक्षा या उसका निर्गमन, या संघ के या किसी राज्य के लेखाओं का ऑडिट (लेखा-परीक्षण), या
 - (7) उपर्युक्त बातों में से किसी भी बात की कोई आनुषंगिक बात।
- (ख) किसी विधेयक को केवल इस कारण से धन विधेयक नहीं माना जायेगा कि वह जुर्माना या अन्य धन सम्बन्धी शास्तियों को आरोपित करने की, या लाइसेन्सों के लिए फीस या की गई सेवाओं के लिए फीस के भुगतान की माँग करने की व्यवस्था करता है या इस कारण से कि वह किसी स्थानीय प्राधिकारी या निकाय के द्वारा टैक्स के लगाये जाने, समाप्त किये जाने, छूट, परिवर्तन या विनियमन किये जाने के लिए व्यवस्था करता है।
- (ग) कोई विधेयक धन विधेयक है या नहीं, ऐसा कोई प्रश्न उत्पन्न होने पर उस पर लोकसभा के अध्यक्ष का निर्माण अन्तिम होगा।

(घ) प्रत्येक धन विधेयक पर, जब उसे अनुच्छेद 109 के अनुच्छेद राज्यसभा को भेजा जाय, या अनुच्छेद 111 के अन्तर्गत राष्ट्रपति को उसकी अनुमति के लिए भेजा जाय, लोकसभा के अध्यक्ष द्वारा हस्ताक्षरित या प्रमाणपत्र पृष्ठांकित किया जायेगा कि वह धन विधेयक है।

धन विधेयक की प्रक्रिया (Procedure of the Money Bill)– धन विधेयक के लिए अनुच्छेद 109 में विशेष प्रक्रिया दी गई है। किसी भी धन विधेयक को केवल लोकसभा में ही पेश किया जा सकता है, राज्यसभा में पेश नहीं किया जा सकता। कोई भी धन-विधेयक राष्ट्रपति की अनुमति के बिना सदन में पेश नहीं किया जा सकता।

लोकसभा द्वारा पारित कर देने के बाद धन विधेयक राज्यसभा को उसकी सिफारिश के लिए भेजा जाता है। राज्यसभा विधेयक की प्राप्ति से 14 दिनों के भीतर विधेयक का अपनी सिफारिशों के सहित लोकसभा को लौटा देती है। लोकसभा, राज्यसभा की सिफारिश में किन्हीं का स्वीकार या अस्वीकार कर सकती है।

यदि राज्यसभा की किसी सिफारिश को लोकसभा स्वीकार कर लेती है, तो धन विधेयक राज्यसभा द्वारा प्रस्तावित और लोकसभा द्वारा स्वीकृत संशोधन समेत पारित समझा जायेगा।

यदि राज्यसभा की किसी सिफारिश में किसी को भी लोकसभा स्वीकार नहीं करती, तो धन विधेयक ऐसे संशोधन के बिना उसी रूप में जिस रूप में लोकसभा द्वारा पारित किया गया था, दोनों सदनों द्वारा पारित समझा जायेगा।

साधारण विधेयक और धन विधेयक में अन्तर

क्रसं	साधारण विधेयक	धन विधेयक
1	साधारण विधेयक को छोड़कर सभी विधेयक साधारण होते हैं।	जब नये कर लगाने, पुराने कर को समाप्त करने या संशोधन करने या संचित निधि से धन खर्च का प्रस्ताव होता है, तो ऐसा प्रस्ताव धन विधेयक कहलाता है।
2	साधारण विधेयक किसी भी सदन में प्रस्तुत किये जा सकते हैं।	धन विधेयक केवल लोकसभा में ही प्रस्तुत किये जा सकते हैं।
3	साधारण विधेयक को सदन में प्रस्तुत करने के लिए राष्ट्रपति की स्वीकृति आवश्यक नहीं होती।	धन विधेयक को प्रस्तुत करने के लिए राष्ट्रपति की अनुमति लेना अनिवार्य है।
4	साधारण विधेयक को राष्ट्रपति अस्वीकार कर सकता है।	धन विधेयक को राष्ट्रपति अस्वीकृत नहीं कर सकता।
5	साधारण विधेयक प्राइवेट या सरकारी हो सकते हैं।	धन विधेयक केवल सरकारी होते हैं।

धन विधेयक और वित्त विधेयकों में अन्तर

क्रसं	धन विधेयक	वित्त विधेयक
1	धन विधेयक वह विधेयक होता है जो केवल अनुच्छेद 110(1) में उल्लिखित विषयों में किसी एक रूप में सम्बन्धित होता है।	वित्त विधेयक अनुच्छेद 110 में उल्लिखित किसी विषय के साथ अन्य विषयों से भी सम्बन्धित होता है।
2	प्रत्येक धन विधेयक वित्त विधेयक होता है।	प्रत्येक वित्त विधेयक धन विधेयक नहीं होता।
3	धन विधेयक अनुच्छेद 109 के अन्तर्गत पारित होता है।	वित्त विधेयक अनुच्छेद 117 के अन्तर्गत पारित होता है।
4	धन विधेयक पर राष्ट्रपति अपनी स्वीकृति देने के लिए बाध्य होता है।	वित्त विधेयक को राष्ट्रपति पुनिर्विचार के लिए लौटा सकता है।
5	धन विधेयक को राज्यसभा द्वारा पारित न करना कोई प्रभाव नहीं डालता।	वित्त विधेयक को राज्यसभा द्वारा पारित न करने से गतिरोध उत्पन्न हो जाता है।

प्रश्न न० 6— भारत के उच्चतम न्यायालय के संगठन तथा सिविल क्षेत्राधिकार की संक्षिप्त व्याख्या कीजिए। अथवा भारत के उच्चतम न्यायालय के संगठन तथा दंडिक क्षेत्राधिकार की व्याख्या कीजिए।

उत्तर— उच्चतम न्यायालय का गठन — अनुच्छेद 124 के लिए उच्चतम न्यायालय की स्थापना को उपबन्ध करता है। अनुच्छेद 124 यह कहता है कि उच्चतम न्यायालय में एक मुख्य न्यायमूर्ति होगा और जब तक संसद विधि द्वारा अधिक संख्या विहित नहीं करता है तब तक सात से अधिक अन्य न्यायाधीश होंगे। सन् 1977 में इस संख्या को बढ़ाकर 18 कर दिया गया था। जिसमें मुख्य जिसमें न्यायमूर्ति भी सम्मिलित था। सन् 1986 में इस बढ़ाकर 26 कर दिया गया था जिसमें कुछ न्यायमूर्ति सम्मिलित थे। सन् 2009 में इस को बढ़ाकर 30 कर दिया गया है। इस प्रकार वर्तमान में उच्चतम न्यायालय में कुल न्यायमूर्तियों की संख्या 30 है तथा मुख्य न्यायमूर्ति को मिलाकर कुल न्यायमूर्तियों की संख्या 31 हैं। संविधान में उस न्यूनतम न्यायाधीशों की संख्या का उपबन्ध नहीं किया गया है जो उच्चतम न्यायालय में मामलों की सुनवाई के लिए अनिवार्य है किन्तु अनुच्छेद 145 यह कहता है कि ऐसे मामले में जिसमें संविधान के निर्वचन के बारे में विधि का कोई सारवान प्रश्न अन्तर्लित है विनिश्चय करने के प्रयोजन के लिए अनुच्छेद 145 के अधीन निर्देश की सुनवाई के लिए बैठने वाले न्यायाधीशों की न्यूनतम संख्या 5 होगी। इसमें यह स्पष्ट है कि उच्चतम न्यायालय अपनी संवैधानिक तथा अनुच्छेद 141 के अधीन सलाहकारी अधिकारिता का प्रयोग तब तक नहीं कर सकता है जब तक कि न्यायालय की पीठ में न्यूनतम संख्या 5 हो।

सिविल क्षेत्राधिकार

सिविल मामलों में अपील (अनुच्छेद 133)— अनुच्छेद 133 यह उपबन्धित करता है कि उच्च न्यायालय की सिविल कार्यवाही में दिये गये निर्णय, डिक्री या अन्तिम आदेश के विरुद्ध उच्चतम न्यायालय में अपील तभी की जा सकेगी जब उच्च न्यायालय अनुच्छेद 139 (क) के अधीन इस बात का प्रमाणपत्र के कि—

- (1) उस मामले में कोई विधि का सार्वजनिक महत्व का कोई सारवान् प्रश्न अन्तर्ग्रस्त है, और
- (2) उच्च न्यायालय की राय में उस प्रश्न का उच्चतम न्यायालय द्वारा विनिश्चय आवश्यक है।

संविधान के 30वें संशोधन के पूर्व सिविल मामलों में उच्चतम न्यायालय में अपील तभी की जा सकती थी जब कि वाद—विषय की राशि का मूल्य 20,000 रुपये या इससे अधिक का हो। मालियत की उक्त शर्तों के पूरा होने पर अपील का प्रमाणपत्र अधिकार के रूप में प्राप्त किया जा सकता था। उक्त संशोधन ने मालियत की शर्त को समाप्त कर दिया है। अब सिविल मामलों में उच्चतम न्यायालय में अपील किये जाने के लिए मामले में विधि का कोई सार्वजनिक महत्व का कोई सारवान् प्रश्न अन्तर्ग्रस्त होना चाहिये तथा उच्च न्यायालय की राय में इस प्रश्न का उच्चतम न्यायालय द्वारा विनिश्चय आवश्यक है। ये दोनों शर्तें पूरा होना आवश्यक है। यह संशोधन विधि—आयोग के सुझाव पर किया गया है जिसका उद्देश्य उच्चतम न्यायालय में केवल मालियत के आधार पर की जाने वाली अपीलों को समाप्त करना है।

खण्ड(3) यह उपबन्धित करता है कि सिविल मामलों किसी उच्च न्यायालय के एक नये न्यायाधीश के निर्णय, डिक्री या आदेश की अपील उच्चतम न्यायालय में नहीं होगी। किन्तु संसद ऐसे मामलों में विधि द्वारा अपील का उपबन्ध कर सकती है।

अनुच्छेद 133 के अधीन अब अपील की शर्तें अधिक कठोर हो गयी हैं क्योंकि अब यही दिखाना पर्याप्त नहीं है कि प्रश्न एक सार्वजनिक महत्व का जन साधारण का प्रश्न है बल्कि यह दिखाना भी आवश्यक है कि क्या उच्च न्यायालय के मत में इस प्रश्न का उच्चतम न्यायालय द्वारा निपटाया जाना आवश्यक है? ऐसे प्रश्न को जिस पर दो न्यायालयों द्वारा भिन्न मत व्यक्त किया गया है उच्चतम न्यायालय द्वारा निपटाया जाना अपेक्षित है।

ऐसे मामले भी हो सकते हैं जहाँ विषय—वस्तु का मापदण्ड धन नहीं है, किन्तु निर्णय के बहुत दूरगामी परिणाम हो सकते हैं, अर्थात् जहाँ कि मामला बड़े सार्वजनिक व्यक्तिगत महत्व का है। ऐसे मामलों में अपील के लिए उच्च न्यायालय का प्रमाणपत्र अधिकार के रूप में प्राप्त नहीं किया जा सकता है। यह पूर्णतः उच्च न्यायालय के विवेकाधिकार पर निर्भर करता है। किन्तु यह विवेकाधिकार न्याय की विवेकाधिकार है और इसका प्रयोग उन मान्य सिद्धान्तों के अनुसार करना चाहिये जो इन मामलों को विनियमित करते हैं उच्च न्यायालय द्वारा केवल प्रमाणपत्र दे देना ही उच्चतम न्यायालय को इसलिए बाध्य नहीं कर देता है कि वह अपील की सुनवाई अवश्य करे। इसके बावजूद भी उच्चतम न्यायालय को यह निर्धारित करने का अधिकार है कि क्या वह उचित रूप से स्वीकृति के लिए पूर्व—अपेक्षित शर्तें पूरी की गयी हैं? **नरसिंह बनाम उत्तर प्रदेश ए.आई.आर. 1954 एस.सी. 455** के मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि यदि आदेश को देखने से ही यह मालूम होता है कि न्यायालय ने भूल की है या वह ऐसा समझता है कि उसको निरपेक्ष विवेकाधिकार प्राप्त है जब कि वस्तुतः ऐसा नहीं था, या उसे कोई विवेकाधिकार का प्रयोग करेगा।

(क) सारवान् विधि—प्रश्न— केवल विधि का प्रश्न ही होना आवश्यक नहीं है बल्कि प्रमाणपत्र के लिए विधि—प्रश्न सारवान् प्रकृति का होना चाहिए। 'सारवान्' से तात्पर्य ऐसे प्रश्न से है जिस पर सन्देह हो या न्यायालयों ने भिन्न व्यक्त किये हों।

(ख) सार्वजनिक महत्व का विधि—प्रश्न— 'विधि—प्रश्न' केवल 'सारवान्' होना ही पर्याप्त नहीं है बल्कि वह एक सार्वजनिक महत्व का विधि—प्रश्न होना चाहिए, अर्थात् केवल मामले के पक्षकार ही नहीं बल्कि अन्य लोग भी इससे प्रभावित होते हैं।

(ग) उच्चतम न्यायालय का विनिश्चय आवश्यक है— 'आवश्यक' शब्द से तात्पर्य यह है कि प्रश्न उच्चतम न्यायालय द्वारा निपटारा जाना अत्यन्त आवश्यक है। ऐसी आवश्यकता निम्नलिखित मामलों में होती है जब (1) किसी प्रश्न पर दो मत लेना सम्भव है और उच्च न्यायालय ने जिसका प्रमाण माँगा है एक मत का है या (2) जहाँ किसी दूसरे न्यायालय ने उस प्रश्न पर भिन्न मत व्यक्त किया गया है।

अनुच्छेद 132 के अन्तर्गत उच्चतम न्यायालय उच्च न्यायालय द्वारा तथ्य के समवर्ती निष्कर्ष में हस्तक्षेप नहीं करेगा जब तक यह न दिखाया जाये कि उच्च न्यायालय के निष्कर्ष के लिए पर्याप्त साक्ष्य नहीं था, किसी महत्वपूर्ण और सारवान् साक्ष्य की उपेक्षा की गयी थी।

अनुच्छेद 133 के अन्तर्गत अपीलार्थी उच्चतम न्यायालय के समक्ष नवीन आधार नहीं उठा सकता है जो उसने उच्च न्यायालय के समक्ष न उठाया हो।

दाण्डिक विषयों में अपील (अनुच्छेद 134)— अनुच्छेद 134 के अनुसार किसी उच्च न्यायालय को किसी दाण्डिक कार्यवाही में दिये गये निर्णय, अन्तिम आदेश या दण्डादेश के विरुद्ध उच्चतम न्यायालय में अपील दो प्रकार से हो सकती हैं—

(क) उच्च न्यायालय के प्रमाण-पत्र के बिना— निम्नलिखित मामलों में उच्च न्यायालय निर्णय के विरुद्ध उच्चतम न्यायालय में अपील हो सकती है, यदि—

(1) उच्च न्यायालय ने अपील में अधीनस्थ न्यायालय द्वारा किसी अभियुक्त व्यक्ति की दोषमुक्ति के आदेश को उलट दिया है तथा उसको मृत्युदण्ड दिया है;

(2) उच्च न्यायालय ने अपील अधीनस्थ न्यायालय के किसी मामले का विचारण के लिए अपने पास मांग लिया है और अभियुक्त को स्वयं मृत्युदण्ड दिया है।

किन्तु उन मामलों जिनमें उच्च न्यायालय ने अपील में किसी अभियुक्त की दोषसिद्धि के आदेश को उलट दिया है और उसकी रिहाई का आदेश दे दिया, उच्चतम न्यायालय में अपील नहीं की जायेगी। 'दोषमुक्ति' शब्द से तात्पर्य केवल पूर्ण विमुक्ति नहीं है वरन् उसमें ऐसे मामले भी शामिल हैं जिनमें मृत्युदण्ड को बदलकर आजीवन कारावास की सजा दी जाती है।

(ख) उच्च न्यायालय के प्रमाण-पत्र से— अनुच्छेद 134 के खण्ड (ग) के अनुसार यदि उच्च न्यायालय अनुच्छेद 134 (क) (जो 44वें संशोधन 1978 द्वारा जोड़ा गया है) के अधीन यह प्रमाणित करता है कि मामला उच्चतम न्यायालय के अपील के लायक है तो उसमें अपील की जायेगी।

दाण्डिक विषयों में अपील का प्रमाणपत्र देने का अधिकार उच्च न्यायालय का एक एकाधिकार है। किन्तु उच्च न्यायालय अपने विवेकाधिकार है और इसका प्रयोग सुनिश्चित एवं मान्य सिद्धान्त के आधार, पर जो इन मामलों को विनियमित करते हैं और न्यायिक ढंग से किया जाना चाहिए। **सिद्धेश्वर बनाम पश्चिमी बंगाल राज्य** के मामले में उच्चतम न्यायालय ने उन मार्गदर्शक सिद्धान्तों को विहित किया है जिनका पालन उच्च न्यायालय प्रमाणपत्र देते समय करेगा।

अनुच्छेद 134 के अन्तर्गत उच्चतम न्यायालय आपराधिक मामलों में एक साधारण न्यायालय की भाँति नहीं है। इसकी आपराधिक अपीलार्थी अधिकारिता सीमित है और वह उसका प्रयोग केवल असाधारण परिस्थितियों में ही करता है, अर्थात् जहाँ न्याय इसकी अपेक्षा करता है कि उसे हस्तक्षेप करना ही चाहिए।

साधारणतया अनुच्छेद 134 (ग) के अधीन उच्चतम न्यायालय साक्ष्य का पुनः मूल्यांकन नहीं करता है जब तक कि यह न सिद्ध हो जाये कि अधीनस्थ न्यायालयों के निर्णयों में अवैधता या गम्भीर अनियमितता या गम्भीर लोप हुआ। उत्तर प्रदेश राज्य बनाम राजनाथ के मामले में अभियुक्त को एक मात्र इस आधार पर दोषमुक्त कर दिया गया था कि उसके मत में प्रत्यक्षदर्शी साक्षियों के साक्ष्य मानने लायक नहीं है। उच्चतम न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि अभियुक्त की दोषमुक्ति से घोर अन्याय हुआ था; क्योंकि उच्च न्यायालय ने साक्षियों के साक्ष्य को भली भाँति मूल्यांकन किये बिना कि वह उसे क्यों आधारहीन समझता है अपना निर्णय था; अतः मामले को पुनः निर्णय के लिए उच्च न्यायालय के पास वापस दिया।

इसी प्रकार अनुच्छेद 134 (ग) के अधीन उच्चतम न्यायालय जो अधीनस्था न्यायालयों के समवर्ती निष्कर्षों में हस्तक्षेप नहीं करता है यदि कोई विशेष परिस्थिति विद्यमान नहीं अर्थात् तथ्यों को विधिक सिद्धान्तों की अवहेलना करके पाया गया है।

अनुच्छेद 134(2) के अधीन संसद दाण्डिक विषयों में उच्चतम न्यायालय की अधिकारिता को बढ़ा सकती है। इस अनुच्छेद के अधीन संसद ने एक अधिनियम पारित करके उसकी दाण्डिक अधिकारिता को बढ़ा दिया है। इसके अधीन निम्न मामलों में उच्चतम न्यायालय से उच्च न्यायालय की अपील की जा सकती है यदि उच्च न्यायालय—

(क) अपील में निचले न्यायालय के विमुक्ति-आदेश को उलटकर अभियुक्त आजीवन कारावास या 10 वर्ष से अधिक के कारावास का दण्ड दे देता है।

(ख) अपील में अधीनस्थ न्यायालय से किसी मामले को अपने परीक्षण के लिए माँगा लेता है और अभियुक्त को आजीवन कारावास या 10 वर्ष से कम दण्ड दे देता है।

प्रश्न न0 7— भारत के संविधान के अन्तर्गत राज्यपाल की संवैधानिक स्थिति एवं शक्तियों का वर्णन कीजिए। अथवा किसी राज्य के राज्यपाल 'क्षमादान' की शक्ति पर टिप्पणी लिखिए।

उत्तर— भारत में प्रान्तीय शासन की प्रणाली एक समान है। भारत के संविधान में अनुच्छेद 153 में प्रत्येक राज्य में एक राज्यपाल के नियुक्त किये जाने की व्यवस्था की गयी है पर साथ ही संविधान के अन्तर्गत दो या दो से अधिक राज्यों के लिए एक ही व्यक्ति को होते हैं। राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है।

राज्यपाल का कार्यकाल— (1) राज्यपाल राष्ट्रपति महोदय के अनुग्रहपर्यन्त तक अपने पद पर बने रहते हैं।

(2) राज्यपाल लिखित रूप में अपने पद से त्यागपत्र दे सकता है। यह त्यागपत्र राष्ट्रपति को सम्बोधित होना चाहिए।

(3) राज्यपाल का कार्यकाल 5 वर्ष का होता है किन्तु राष्ट्रपति राज्यपाल के कार्यकाल की अवधि बढ़ा सकते हैं।

राज्यपाल की नियुक्ति के लिए अर्हताएँ— संविधान के अनुच्छेद 157 के अनुसार—

(1) राज्यपाल पद की प्राप्ति के लिए अभ्यर्थी को भारत का नागरिक होना चाहिए और उसकी आयु 35 वर्ष से कम नहीं होनी चाहिए।

(2) राज्यपाल संसद के किसी भी सदन का, या राज्य विधानमण्डल का सदस्य होगा।

(3) राज्यपाल कोई अन्य लाभ का पद ग्रहण नहीं करेंगे।

(4) राज्यपाल के कार्यकाल में उनके भत्ते और वेतन में कमी नहीं की जा सकती है।

राज्यपाल को निःशुल्क सरकारी निवास—स्थान और संसद द्वारा निर्धारित वेतन तथा भत्ते मिलते हैं। राज्यपाल को अपना पद ग्रहण करने के पूर्व उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश के सामने एक शपथ ग्रहण करनी होती है या निष्ठापूर्वक प्रतिज्ञा करनी पड़ती है।

राज्यपाल की संवैधानिक स्थिति— राज्यपाल राज्य शासन का संवैधानिक प्रधान या अध्यक्ष माना जाता है। उसके कार्य में उसकी सहायता एवं उसकी मंत्रणा प्रदान करने के लिए एक ऐसे मन्त्रिपरिषद की व्यवस्था की गयी है, जो सामूहिक रूप से विधानमंडल के प्रति उत्तरदायी है। इसका स्पष्ट अर्थ है कि राज्यों में उत्तरदायी शासन प्रणाली लागू की गयी है अर्थात् शासन कार्य मन्त्रिपरिषद की सलाह के अनुसार होती है। यह बात ध्यान देने की है कि मन्त्रिपरिषद की सलाह जनता के निर्वाचित प्रतिनिधियों के अनुसार होती है जब कि राज्यपाल राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त व्यक्ति होता है। यदि राज्यपाल और मन्त्रिपरिषद में गहरा मतभेद या विरोध हो जाय, तो राज्यपाल को ही अपना त्यागपत्र देना पड़ेगा, फिर भी यह कहा जा सकता है कि असाधारण परिस्थितियों में राज्यपाल अपने व्यक्तिगत निर्णय के अनुसार कार्य करने का अधिकार रखता है।

डॉ० अम्बेडकर के अनुसार “भारत में राज्यपाल के प्रमुख दो कार्य हैं पहला उसे कब और किस समय मन्त्रिमण्डल के विरुद्ध अप्रसन्नता प्रकट करनी है। दूसरा काम अपने मन्त्रियों की सलाह, चेतावनी तथा सरकार के सामने आयी हुई समस्या को पूर्ण रूप से विचार करना तथा उस पर वैकल्पिक सुझाव देना।”

अनुच्छेद 163 के अनुसार राज्यपाल को मन्त्रिपरिषद द्वारा सहायता एवं सलाह दी जाती है। राज्यपाल को अपने कर्तव्यों के पालन में सहायता और सलाह देने के लिए एक मन्त्रिपरिषद होगी, जिसके शीर्ष पर मुख्यमंत्री होगा, सिवाय इसके कि जब उसे संविधान द्वारा या उसके तहत ऐसा करने के लिए मजबूर किया जाता है या यदि वह ऐसा करना चाहता है। उसका विवेक। राज्यपाल की मन्त्रिपरिषद को उसकी सहायता और सलाह देनी होती है, जिसका अर्थ है कि राज्यपाल द्वारा किया जाने वाला कोई भी कार्य मन्त्रिपरिषद की सहायता और सलाह के बाद ही होना चाहिए। निर्णय का निष्कर्ष यह है कि राज्यपाल की विवेकाधीन शक्ति असीमित नहीं है बल्कि मन्त्रिपरिषद की सहायता और सलाह द्वारा सीमित है।

राज्यपाल की शक्तियाँ एवं कार्य—राज्यपाल अट्हाईस राज्यों के शीर्ष कार्यकारी अधिकारी होते हैं और सभी भारत के राष्ट्रपति द्वारा चुने जाते हैं। राज्यपाल के पास कार्यकारी, विधायी, वित्तीय और न्यायिक शक्तियाँ और कार्य होंगे। राज्यपाल की शक्तियाँ और कार्य नीचे लिखे गए हैं—

कार्यपालिका शक्तियाँ— (1) कार्यपालिका जो भी कार्य करती है वह राज्यपाल के ही नाम से माना जाता है। वे अपने अधीनस्थ कर्मचारियों के द्वारा कार्य करते हैं।

(2) राज्यपाल मंत्रियों के कार्य और कार्य—वितरण पर नियम बनाते हैं।

(3) राज्यपाल मुख्यमंत्री की नियुक्ति करते हैं और उन्हीं परामर्श से अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति करते हैं। मन्त्रिपरिषद उन्हें सहायता और सलाह देने के लिए होती है। मन्त्रिपरिषद की सलाह गोपनीय हुआ करती है। राज्यपाल को प्रसादान्त तक मन्त्रिगण अपने पद पर बने रहते हैं।

(4) राज्यपाल महाधिवक्ता तथा राज्य लोक सेवा आयोग के सदस्यों व अध्यक्ष की नियुक्ति करते हैं।

(5) राज्यपाल के परामर्श से ही राष्ट्रपति हाईकोर्ट के चीफ जस्टिस की तथा अन्य जजों की नियुक्ति करता है।

(6) राज्यपाल को मुख्यमन्त्री सम्बन्धी विषयों की सूचना से अवगत कराते हैं।

(7) राज्याध्यक्ष होने के कारण वे ही राज्य—प्रशासन की देखभाल करते हैं। किसी भी आवश्यक विषय को मन्त्रिमण्डल के सम्मुख परामर्श के लिए भेज सकते हैं।

(8) राज्यपाल के पास मुख्यमन्त्री का कर्तव्य है कि यह प्रशासन और कानून सम्बन्धी प्रस्तावों को पेश करे।

(9) राष्ट्रपति द्वारा जारी किये गये अध्यादेशों एवं निर्देशों को कार्यान्वित करने का कर्तव्य राज्यपाल का होता है।

(10) राज्यपाल को राष्ट्रपति द्वारा आपातकालीन अवस्थाओं की घोषणा होने पर केन्द्र के एजेंट के रूप शासन चलाने का अधिकार होता है।

(11) राज्य के ही विधानपरिषद् के लिए सदस्यों को नामजद करता है। नामांकित सदस्यों को साहित्य, कला, विज्ञान और सामाजिक सेवा आदि के पक्ष में विशेषता प्राप्त होनी चाहिए।

(12) राज्यपाल एंग्लो इण्डियन समुदाय के कुछ प्रतिनिधियों को विधानसभा में नामजद करता है।

विधायी शक्तियाँ:— जब राज्यपाल को अनुमति के लिए कोई विधेयक (धन विधेयक के अलावा) दिया जाता है, तो वह या तो अपनी मंजूरी दे देता है, अपनी सहमति रोक लेता है, या विधेयक को पुनर्विचार के लिए सदनों को लौटा देता है। यदि राज्य विधायिका द्वारा संशोधन के साथ या बिना संशोधन के कानून को दोबारा अधिनियमित किया जाता है, तो उसे या तो अपनी सहमति देनी होगी या राष्ट्रपति और कैबिनेट के विचार के लिए बयान सुरक्षित रखना होगा। विधायिका के संदर्भ में, यदि वह विश्वास खो देती है तो उसके पास विधान सभा को बुलाने, स्थगित करने और भंग करने का अधिकार है।

वित्तीय शक्तियाँ:— विधानमंडल में वार्षिक वित्तीय खाता दाखिल करने के बाद ही उसका प्रस्ताव राज्य विधानमंडल में प्रस्तुत किया जा सकता है। जब तक वह इसकी अनुशंसा नहीं करता तब तक कोई अनुदान अनुरोध नहीं किया जा सकता। अप्रत्याशित खर्चों को कवर करने के लिए आकस्मिक आरक्षित निधि से पैसा लिया जा सकता है। हर पांच साल में, वह नगर पालिकाओं और पंचायतों की वित्तीय स्थिति का आकलन करने के लिए एक वित्त पैनल नियुक्त करता है।

न्यायिक शक्तियाँ:— राज्यपाल को भारतीय संविधान के अधीन अनेक न्यायिक शक्तियाँ प्राप्त हैं। राज्यपाल को भारतीय संविधान के अधीन जो न्यायिक शक्तियाँ प्राप्त हैं उनका उपयोग करके कतिपय अपराधियों को दण्ड से क्षमादान दे सकता है।

जिस विषय पर राज्य की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार है उस विषय सम्बन्धी किसी विधि के विरुद्ध किसी अपराध के लिए सिद्धदोष किसी व्यक्ति के दण्ड की क्षमा, प्रतिलम्बन, विराम अथवा परिहार करने की अथवा लघुकरण करने की उस राज्यपाल को शक्ति प्राप्त है।

राज्यपाल का यह अधिकार अनुच्छेद में राष्ट्रपति को प्रदत्त अधिकार के समान है किन्तु वह अनुसूची 2 के विषयों तथा अनुसूची 3 के अधीन निमित्त ऐसी विधि की सीमा तक जो संसदीय विधि के असंगत नहीं है, सीमित है।

प्रश्न न० 8— संघ तथा राज्यों के बीच विधायनी शक्तियों का विभाजन किस तरह से किया गया है? किन परिस्थितियों में संघ राज्य सूची में वर्णित विषयों पर विधायनन कर सकता है?

उत्तर— विधायी सम्बन्धी— संविधान के अनुच्छेद 245 से 255 तक संघ तथा राज्यों के विधायी सम्बन्धों का उल्लेख करते हैं। यह सम्बन्ध परिवर्तित परिस्थितियों के अनुसार बदलते रहते हैं। इन सम्बन्धों को अध्ययन की दृष्टि से निम्नलिखित प्रकार विभक्त किया जा सकता है—

(क) क्षेत्रीय दृष्टि से विधायी शक्तियों का विभाजन— अनुच्छेद 245 के अनुसार संघ तथा राज्यों को क्षेत्रीय विभाजन के अनुसार विधि निर्माण शक्तियाँ सौंपी गयी हैं जिनके अनुसार भारतीय संसद संविधान के सम्पूर्ण भारत-क्षेत्र के लिए अथवा भारत राज्य-क्षेत्र के किसी भाग के लिए विधि का निर्माण कर सकती हैं। दूसरे शब्दों में, राज्य ऐसा कानून नहीं बना सकता जो दूसरे राज्य के क्षेत्र में लागू हो क्योंकि राज्य की व्यवपालिका को क्षेत्राधिकार उस राज्य तक ही सीमित है। अनुच्छेद 254 (2) में यह व्यवस्था की गयी है कि यदि संसद कोई ऐसा कानून बनाती है जो भारत-क्षेत्र के बाहर लागू होने वाला हो तो वह कानून इस आधार पर असंवैधानिक नहीं होगा कि वह विदेशों में प्रचलित होने की प्रवृत्ति रखता है। इस प्रकार के कानून को यद्यपि लागू करना कठिन है फिर भी संवैधानिक नहीं है।

(ख) विषयानुसार शक्तियों का विभाजन अनु. 246— भारतीय संविधान के अन्तर्गत विषयक शक्तियाँ सम्बन्धी 3 सूचियाँ तैयार की हैं— प्रथम, संघसूची, दूसरी सूची, राज्यसूची तथा तीसरी समवर्ती सूची। संघ सूची में जितने विषय हैं उन विषयों पर केन्द्र की व्यवपालिका को कानून बनाने का अधिकार है, जो विषय हैं, उन विषय राज्य सूची में उल्लिखित हैं उन पर राज्य कानून बना सकते हैं। समवर्ती सूची में उल्लिखित विषयों पर राज्य विधायनी तथा संसद दोनों ही बना सकते हैं। इस प्रकार संविधान-निर्माताओं ने राष्ट्रीय महत्व के सभी विषयों को राज्य को संघ सूची में सम्मिलित किया है। तथा जो विषय क्षेत्रीय महत्व के हैं उन विषयों को राज्य को सौंप दिया है तथा जो विषय राज्य और केन्द्र दोनों ही कानून बना सकते हैं। यह समवर्ती सूची में संसद ने कानून बनाया है तथा राज्यों में भी कानून बनाया है तो संघ द्वारा बनाया गया कानून, यदि राज्य के कानून के विपरीत है, लागू होगा। यदि दानों ही कानून समन्वयादी हैं तो दोनों ही कानून लागू होंगे।

(ग) अवर न्यायालयों की स्थापना— जो कानून संसद द्वारा बनाये जाते हैं उन्हें राज्य की न्यायपालिका द्वारा भी लागू करवाया जाता है। ऐसा भी हो सकता है कि राज्य न्यायालय संसद के कानूनों को लागू करने में रुचि न ले जिसके परिणामस्वरूप अव्यवस्था फैल सकती है। इस स्थिति का सामना करने के लिए संविधान के अनुच्छेद 247 के अनुसार संसद को अधिकार दिया गया है कि संसद अपनी विधियों को समुचित प्रचलन के लिए मित्र न्यायालय स्थापित कर सकती हैं।

(घ) अवशिष्ट शक्तियाँ— संविधान-निर्माताओं ने यद्यपि तीन सूचियाँ का निर्माण किया और उनमें विभिन्न विषयों को उल्लेखित किया है फिर भी बहुत से विषय शेष रह गये हैं अथवा भविष्य में नये विषयों का जन्म हो सकता है। इस प्रकार के विषयों पर संसद को कानून बनाने का अधिकार प्राप्त है।

(इ) संसद के आपातकालीन अधिकार— राष्ट्रपति आपातकालीन घोषणा कर सकता है। यदि राष्ट्रपति ने आपातकालीन की अवधि तक संसद को सम्पूर्ण भारत-क्षेत्र के लिए कानून बनाने का अधिकार प्राप्त हो जाता है।

(घ) राज्यों के लिए विधि बनाने का अधिकार— प्रत्येक राज्य के पास अपनी व्यवस्थापिका है जो राज्य के कानून बनाती है परन्तु अनुच्छेद 252 में यह व्यवस्था की गयी कि संसद द्वारा बनाया हुआ कानून उन राज्यों में लागू होगा जिन्होंने संसद के कानून का अनुरोध किया है। इसके अन्तर्गत उन्हीं विषयों पर संसद कानून बना सकती है जिनके लिए कि राज्य प्रार्थना करे।

(छ) अन्तर्राष्ट्रीय संविधान के प्रतिपादन हेतु नियम— अनुच्छेद 253 के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों, प्रसंविदाओं तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों, संस्था अथवा निकायों के लिए संसद कानून का निर्माण कर सकती है। इन विषयों पर राज्यों के विधानमण्डलों को कानून बनाने का कोई अधिकार नहीं है।

(ज) राज्यों के राष्ट्रपति शासन के काल में विधायन— यदि किसी राज्य का विधानमण्डल भंग कर दिया हो तथा राष्ट्रपति शासन लागू हो तो जब तक नया विधानमण्डल अस्तित्व में न आये उस राज्य के विषयों पर संसद को कानून का अधिकार होता है। इस प्रकार का कानून बनाने का बनाते समय संसद उन्हीं मामलों पर कानून बना है जिन पर विधानमण्डल को कानून बनाने का अधिकार था। विधानमण्डल के भंग करने की अवधि में उस राज्य का बजट भी संसद द्वारा पारित किया जाता है।

राज्य-सूची के विषयों पर संसद को विधि बनाने की शक्ति— सामान्य परिस्थितियों के केन्द्र और राज्यों में विभाजन को कठोरता से कायम रखना आवश्यक है और कोई भी सरकार किसी दूसरे के क्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं कर सकती है। किन्तु कुछ विशेष परिस्थितियों में उक्त शक्ति का वितरण या तो निलम्बित कर दिया जाता है या केन्द्र को राज्य-सूची के विषयों पर विधि बनाने की शक्ति प्राप्त हो जाती है। वे परिस्थितियाँ इस प्रकार हैं—

(1) **राष्ट्रीय हित—** भारतीय संविधान के अनुच्छेद 249 के मुताबिक, संसद राज्य सूची के किसी विषय पर कानून बना सकती है। इसके लिए, राज्यसभा को अपने मौजूद और मतदान करने वाले सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से एक प्रस्ताव पारित करना होगा। यह प्रस्ताव बताना चाहिए कि संसद के लिए राज्य सूची में शामिल किसी भी विषय पर कानून बनाना जरूरी है। अनुच्छेद 250 के मुताबिक, अगर आपातकाल की घोषणा लागू है, तो राज्य सूची के किसी विषय पर कानून बनाने की शक्ति संसद के पास होगी।

(2) **आपात घोषणा के दौरान—** भारतीय संविधान के अनुच्छेद 250 के मुताबिक, जब आपातकाल की घोषणा लागू होती है, तो संसद को राज्य सूची के किसी भी मामले पर कानून बनाने का अधिकार मिलता है। यह कानून भारत के पूरे क्षेत्र या उसके किसी हिस्से के लिए बनाया जा सकता है। अनुच्छेद 250 के मुताबिक, संसद द्वारा बनाया गया कानून, जिसे आपातकाल की घोषणा के बिना नहीं बनाया जा सकता, छह महीने की अवधि के बाद प्रभावी नहीं होगा। यह अवधि खत्म होने के बाद किए गए या किए जाने वाले कार्यों को छोड़कर, उद्घोषणा का संचालन बंद हो।

(3) **राज्यों की सहमति से बनाई गई विधि—** यदि दो या दो से अधिक राज्यों के विधानमंडलों को यह वांछनीय प्रतीत होता है कि जिन मामलों के संबंध में संसद के पास राज्यों के लिए कानून बनाने की कोई शक्ति नहीं है, सिवाय अनुच्छेद 249 और 250 में दिए गए प्रावधानों को ऐसे राज्यों में विनियमित किया जाना चाहिए। संसद द्वारा कानून द्वारा, और यदि उस आशय के संकल्प उन राज्यों के विधानमंडलों के सभी सदनों द्वारा पारित किए जाते हैं, तो संसद के लिए उस मामले को तदनुसार विनियमित करने के लिए एक अधिनियम पारित करना वैध होगा, और इस प्रकार पारित कोई भी अधिनियम ऐसे राज्यों पर लागू होगा और किसी भी अन्य राज्य के लिए, जिसके बाद इसे सदन द्वारा या जहां दो सदन हैं, उस राज्य के विधानमंडल के प्रत्येक सदन द्वारा इस संबंध में पारित संकल्प द्वारा अपनाया जाता है। संसद द्वारा पारित किसी भी अधिनियम को उसी तरीके से पारित या अपनाए गए संसद के अधिनियम द्वारा संशोधित या निरस्त किया जा सकता है, लेकिन जिस राज्य पर यह लागू होता है, उसके संबंध में, उस राज्य के विधानमंडल के एक अधिनियम द्वारा संशोधित या निरस्त नहीं किया जाएगा। राज्य।

(4) **अन्तर्राष्ट्रीय करारों को प्रभावी करने के लिए विधान—** अनुच्छेद 253 अंतरराष्ट्रीय समझौतों को प्रभावी बनाने के लिए विधान से संबंधित प्रावधानों से संबंधित है। इसके अलावा, इसमें कहा गया है कि इस अध्याय के पूर्ववर्ती प्रावधानों में कुछ भी होने के बावजूद, संसद के पास किसी अन्य देश या देशों के साथ किसी संधि, समझौते या सम्मेलन या किसी निर्णय को लागू करने के लिए भारत के पूरे क्षेत्र या उसके किसी हिस्से के लिए कोई भी कानून बनाने की शक्ति है। किसी अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन, संघ या अन्य निकाय में किया गया।

(5) **राज्यों में सांविधानिक तन्त्र के विफल हो जाने की दशा में —** अनुच्छेद 256 राज्यों और संघ के दायित्व से संबंधित है। इसमें कहा गया है कि प्रत्येक राज्य की कार्यकारी शक्ति का प्रयोग इस प्रकार किया जाएगा कि संसद द्वारा बनाए गए कानूनों और उस राज्य में लागू होने वाले किसी भी मौजूदा कानून का अनुपालन सुनिश्चित किया जा सके, और संघ की कार्यकारी शक्ति ऐसे निर्देश देने तक विस्तारित होगी। वह राज्य जो भारत सरकार को उस उद्देश्य के लिए आवश्यक प्रतीत हो।

प्रश्न न० 9— किन आधारों पर एक राज्य में आपातकाल की घोषणा की जा सकती है? संसद को अनुमोदन के अभाव में यह कितने समय तक रह सकती है? अथवा किन परिस्थितियों में राष्ट्रपति अनुच्छेद 352 के अधीन आपातकाल की उद्घोषणा कर सकता है। ऐसी उद्घोषणा का मौलिक अधिकारों पर क्या प्रभाव पड़ता है?

उत्तर— (1) भारतीय संविधान में आपात उपबंधों को तीन भागों में बाँटा गया है— राष्ट्रीय आपात (अनुच्छेद-352), राज्यों में संवैधानिक तंत्र की विफलताधराष्ट्रपति शासन (अनुच्छेद-356) और वित्तीय आपात (अनुच्छेद-360)।
(2) हम यहाँ पर केवल राष्ट्रीय आपात की विस्तार से चर्चा करेंगे।

भारतीय संविधान में आपात उपबंध— (1) आपात उपबंध भारत शासन अधिनियम-1935 से लिये गए हैं।

(2) भारतीय संविधान के भाग गटप्प में अनुच्छेद 352 से 360 तक आपातकाल से संबंधित उपबंध उल्लिखित हैं।

(3) ये प्रावधान केंद्र को किसी भी असामान्य स्थिति से प्रभावी रूप से निपटने में सक्षम बनाते हैं।

(4) संविधान में इन प्रावधानों को जोड़ने का उद्देश्य देश की संप्रभुता, एकता, अखंडता, लोकतांत्रिक राजनीतिक व्यवस्था तथा संविधान की सुरक्षा करना है।

उद्घोषणा— अनुच्छेद 352 में निहित है कि 'युद्ध' — 'बाह्य आक्रमण' या 'सशस्त्र विद्रोह' के कारण संपूर्ण भारत या इसके किसी हिस्से की सुरक्षा खतरों में हो तो राष्ट्रपति राष्ट्रीय आपात की घोषणा कर सकता है।

(1) मूल संविधान में 'सशस्त्र विद्रोह' की जगह 'आंतरिक अशांति' शब्द का उल्लेख था।

(2) 44वें संविधान संशोधन अधिनियम, 1972 द्वारा 'आंतरिक अशांति' को हटाकर उसके स्थान पर 'सशस्त्र विद्रोह' शब्द किया गया।

(3) जब आपातकाल की घोषणा युद्ध अथवा बाह्य आक्रमण के आधार पर की जाती है, तब इसे बाह्य आपातकाल के नाम से जाना जाता है।

(4) दूसरी ओर, जब इसकी घोषणा सशस्त्र विद्रोह के आधार पर की जाती है तब इसे 'आंतरिक आपातकाल' के नाम से जाना जाता है।

(5) राष्ट्रीय आपात की उद्घोषणा संपूर्ण देश अथवा केवल इसके किसी एक भाग पर लागू हो सकती है **मिनर्वा मिल्स मामले (1980)** में उच्चतम न्यायालय ने कहा था कि राष्ट्रीय आपातकाल की उद्घोषणा को अदालत में चुनौती दी जा सकती है।

उद्घोषणा की प्रक्रिया एवं अवधि— (1) अनुच्छेद 352 के आधार पर राष्ट्रपति तब तक राष्ट्रीय आपात की उद्घोषणा नहीं कर सकता जब तक संघ का मंत्रिमंडल लिखित रूप से ऐसा प्रस्ताव उसे न भेज दे।

(2) यह प्रावधान 44वें संविधान संशोधन अधिनियम, 1978 द्वारा जोड़ा गया।

(3) ऐसी उद्घोषणा का संकल्प संसद के प्रत्येक सदन की कुल सदस्य संख्या के बहुमत तथा उपस्थिति व मतदान करने वाले सदस्यों को 2/3 बहुमत द्वारा पारित किया जाना आवश्यक होगा।

(4) राष्ट्रीय आपात की घोषणा को संसद के प्रत्येक सदन के समक्ष रखा जाता है तथा एक महीने के अंदर अनुमोदन न मिलने पर यह प्रवर्तन में नहीं रहती, किंतु एक बार अनुमोदन मिलने पर छह माह के लिये प्रवर्तन में बनी रह सकती है।

उद्घोषणा की समाप्ति— (1) राष्ट्रपति द्वारा आपातकाल की उद्घोषणा को किसी भी समय एक दूसरी उद्घोषणा से समाप्त किया जा सकता है।

(2) ऐसी उद्घोषणा के लिये संसदीय अनुमोदन की आवश्यकता नहीं होगी।

(3) इसके अतिरिक्त राष्ट्रपति के लिये ऐसी उद्घोषणा को समाप्त कर देना आवश्यक होता है जिसे जारी रखने के अनुमोदन प्रस्ताव को लोकसभा निरस्त कर दे।

उद्घोषणा का प्रभाव— भारतीय संविधान का अनुच्छेद 257, कुछ मामलों में राज्यों पर संघ के नियंत्रण के बारे में बताता है। इस अनुच्छेद के मुताबिक, हर राज्य की कार्यकारी शक्ति का इस्तेमाल इस तरह से किया जाएगा कि इससे संघ की कार्यकारी शक्ति में बाधा या नकारात्मक असर न पड़े। संघ की कार्यकारी शक्ति, राज्य को ऐसे निर्देश दे सकती है, जो भारत सरकार को जरूरी लगें। राष्ट्रपति, राज्य के राज्यपाल से सलाह-मशविरा करने के बाद, राज्य को ऐसे निर्देश दे सकते हैं, जो भारत की संप्रभुता और अखंडता, राज्य की सुरक्षा, विदेशी देशों या लोगों के साथ मैत्रीपूर्ण संबंधों के हित में जरूरी लगें। राष्ट्रपति, राज्य के अधिकार क्षेत्र के अंदर रेलवे की सुरक्षा के लिए जरूरी निर्देश भी जारी कर सकते हैं। अनुच्छेद 257 के मुताबिक, अगर राज्य को दिए गए किसी निर्देश को पूरा करने में, राज्य के सामान्य कर्तव्यों के निर्वहन में जो खर्च किया जाता, उससे ज्यादा खर्च हो जाए, तो भारत सरकार को राज्य को उतनी रकम देनी होगी, जितनी सहमति हो सके। अगर समझौते में सहमति नहीं हो पाती, तो राज्य द्वारा वहन की गई अतिरिक्त लागत के बारे में भारत के मुख्य न्यायाधीश द्वारा नियुक्त मध्यस्थ तय करेगा कि राज्य को कितनी रकम दी जाए। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 256 और 257 में यह प्रावधान है कि राज्यों को कुछ मामलों में संसद द्वारा बनाए गए कानूनों का पालन करना होगा। इसके अलावा, राज्य के प्रावधानों को भारत संघ की कार्यकारी शक्ति के इस्तेमाल में बाधा या पूर्वाग्रह पैदा करने की भी अनुमति नहीं होगी।

राजस्थान राज्य बनाम भारत संघ ए.आई.आई. 1977 एस.सी.1361 के मामले भारत के सर्वोच्च न्यायालय का एक मामला है। यह मामला 1977 में आया था, जब आपातकाल के 19 महीने बाद राजस्थान समेत छह राज्यों में कांग्रेस पार्टी चुनाव हार गई थी। इस मामले में, भारत संघ को रिट याचिका में इसलिए एक पक्ष बनाया गया था क्योंकि उसने राज्य सरकार के पुनरीक्षण आवेदन को खारिज कर दिया था।

सुन्दरलाल पटवा बनाम भारत संघ 1993 जे.वी.एल. 387 के वाद में अभिनिर्धारित किया कि राष्ट्रपति शासन लागू करने वाला आदेश अवैध है क्योंकि वह पुनः 356 की परिधि के बाहर है। कोई अवैध आदेश संसद द्वारा अनुमोदित किये जाने के पश्चात् वैध नहीं हो जाता है।

एस. आर. बोम्बई बनाम भारत संघ (1994) 3 एस.सी.सी. 1 के मामले में उच्चतम न्यायालय के 9 न्यायाधीशों की संविधान पीठ ने ऐतिहासिक निर्णय देते हुए 356 के अन्तर्गत राज्यों में राष्ट्रपति शासन लागू करने के सम्बन्ध में निम्नलिखित मार्गदर्शक सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं—

(1) अनुच्छेद 356 के अधीन राष्ट्रपति द्वारा किसी राज्य में राष्ट्रपति लागू करने और विधानसभा के भंग करने की शक्ति 'सशर्त' है, असीमित नहीं और उसे यह दिखाना होगा कि अनुच्छेद 356(1) के अधीन वे परिस्थितियाँ अस्तित्व में थी जिसके आधार पर राष्ट्रपति कार्यवाही की है।

(2) राष्ट्रपति शासन राज्यपाल को लिखित रिपोर्ट के बिना लागू नहीं किया जा सकता है।

(3) पंथ-निरपेक्षता भारतीय संविधान का आधारभूत ढाँचा है। और यदि कोई सरकार उसके आदेशों के विरुद्ध कार्य करती है। तो वहाँ अनुच्छेद 356 का प्रयोग किया जा सकता है।

(4) विपक्ष द्वारा शासित तभी राज्य सरकारों को एक साथ पदच्युत नहीं किया जा सकता है।

(5) यदि केवल राजनीतिक आधारों पर दुर्भावना से प्रेरित होकर राष्ट्रपति शासन लागू किया जाता है तो न्यायालय विधानसभा को पुनर्जीवित कर सकता है।

(6) राष्ट्रपति शासन लागू करना और विधानसभा को भंग करना दोनों, एक साथ नहीं किया जा सकता है। राष्ट्रपति संसद द्वारा उद्घोषणा के अनुमोदित किए जाने के पश्चात् विधानसभा को भंग कर सकता है। जब तक ऐसा अनुमोदन नहीं हो सकता है राष्ट्रपति अतः न्यायालय उसकी जाँच कर सकता है।

प्रश्न नं० 10— भारतीय संविधान के संशोधन प्रक्रिया का वर्णन कीजिए। क्या संविधान इस सीमा तक संशोधित किया जा सकता है कि मूलभूत ढाँचा का ही विनाश हो जाये? अथवा संसद की संशोधन की क्या सीमाएँ हैं? क्या मूल अधिकारों का संशोधन किया जा सकता है? निर्णीत वादों की सहायता से स्पष्ट कीजिए।

उत्तर— संविधान देश का सर्वोपरि कानून होता है। अतएव इसकी सर्वोच्चता बनाये रखने के लिए संशोधन की प्रक्रिया कठिन होती है। भारतीय संविधान में सुनम्यता तथा अनम्यता का अनोखा मिश्रण है। संविधान के केवल कुछ ही प्रावधान ऐसे जिनमें परिवर्तन करने के लिए एक विशेष प्रक्रिया का अनुकरण किया गया है। किन्तु अधिक मामलों में संसद द्वारा साधारण विधि पारित करके ही परिवर्तन किया जा सकता है। संशोधन की विशेष प्रक्रिया भी विश्व के अन्य संघात्मक संविधानों की तुलना में अधिक सरल है। इसी कारण जनवरी 1994 तक 79 बार संविधान संशोधन हो चुके हैं। संशोधन की दृष्टि से संविधान के प्रावधानों को निम्नलिखित वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—

(1) सामान्य विधायी प्रक्रिया द्वारा (By simple legislative process)— इस नीति के अनुसार विधि-निर्माण की साधारण प्रक्रिया के अनुसार संविधान संशोधन की व्यवस्था की है। यह संशोधन संविधान में संशोधन समझे जायेंगे। ये परिवर्तन निम्नलिखित हैं—

(क) संविधान के अनुच्छेद 2,3 और 4 के द्वारा संसद को संघ में नये राज्यों की प्रविष्टि करने, नये राज्यों के बनाने, किसी क्षेत्र को बढ़ाने या घटाने, किसी राज्य की सीमाओं को बदलने, किसी राज्य के नाम को परिवर्तित करने तथा इसमें सम्बन्धित अनुपूरक प्रसांगिक और आनुषंगिक प्रावधान करने का अधिकार है।

(ख) संविधान की अनुसूची द्वितीय में राष्ट्रपति, राज्यपाल, उच्चतम न्यायालय के जजों उच्च न्यायालय के जजों, ऑर्डिटर—जनरल, लोकसभा, अध्यक्ष डिप्टी स्पीकर, राज्यसभा के अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष तथा कुछ पदाधिकारियों के वेतन और भत्तों की व्यवस्था की गई है। अनुच्छेद 75,98,125,248,164 तथा 221 के अधीन संसद को कानून द्वारा इन्हें संशोधित करने का अधिकार है।

(ग) भारतीय संविधान के अनुच्छेद 124(1) में यह प्राविधानित है कि उच्चतम न्यायालय में एक मुख्य न्यायाधीश होगा तथा जब तक संसद विधि द्वारा अन्यथा न करे अधिक से अधिक सात न्यायाधीश होंगे। संसद ने 1977 के अधिनियम संख्या 48 द्वारा यह संख्या अब 7 के स्थान पर 17 कर दिया है। उच्चतम न्यायालय (न्यायाधीशों की संख्या) संशोधन अधिनियम 1986 द्वारा अब न्यायाधीशों की संख्या 25 कर दी गई है।

(2) विशेष बहुमत द्वारा (By special majority)— अनुच्छेद 368(2) यह प्राविधानित करता है कि संशोधन संविधान के लिए दोनों सदनों में किसी भी सदन में विधेयक (बिल) प्रस्तुत है कि संशोधन संविधान की प्रक्रिया आरम्भ की जा सकती है। जब यह विधेयक दोनों सदनों के कुल सदस्यों के बहुमत के तथा उपस्थित मतदान करने वाले सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से पारित हो जाये तो उसे राष्ट्रपति के समक्ष प्रस्तुत किया जायेगा और जब उस राष्ट्रपति अपनी सहमति देगा तथा तब संशोधन प्रभावी हो जायेगा।

(3) विशेष बहुमत तथा राज्यों अनुसमर्थन (By special majority and Ratified by the States)— अनुच्छेद 368 के खण्ड (2) परन्तु द्वारा यह व्यवस्था की गई है कि निम्नलिखित प्रावधानों के संशोधन के लिए राज्यों के अनुसमर्थन की भी आवश्यकता है—

- (1) राष्ट्रपति का निर्वाचन,
- (2) संघ तथा राज्यों की कार्यपालिका—शक्ति का विस्तार,
- (3) संघ तथा राज्य न्यायपालिका,
- (4) संघ और राज्यों के बीच विधायी शक्ति का विभाजन,
- (5) संसद में राज्यों के प्रतिनिधित्व से सम्बन्धित अनुसूची,
- (6) सातवीं अनुसूची की सूचियों में से किसी में, और
- (7) अनुच्छेद 368 के प्रावधानों में है।

इस वर्ग में वे प्रावधान रखे गये हैं जो संघात्मक ढाँचे से सम्बन्धित हैं। इन प्रावधानों के लिए कठिन प्रक्रिया अपनाई गई है। ऐसा संविधान-विधेयक जब प्रत्येक सदन के दो तिहाई बहुमत से पारित हो जाता है तो उसे विधानमण्डलों के अनुसमर्थन के लिए प्रेषित किया जाता है। यदि समस्त राज्यों में कम से कम आधे राज्यों की विधानमण्डल उस संशोधन-विधेयक को संकल्प द्वारा पारित कर देती है तो वह विधेयक राष्ट्रपति के समक्ष अनुमति के लिए प्रस्तुत किया गया है। राष्ट्रपति की अनुमति मिलते ही संविधान संशोधित हो जाता है।

आधारभूत ढाँचे का संशोधन नहीं (No amendment of the basic structure of the constitution)— संविधान के प्रावधान संशोधित नहीं किये जा सकते जो इसके आधारभूत ढाँचे से सम्बन्धित हैं। हमारे संविधान में संसंसदात्मक शासन प्रणाली सरकार की व्यवस्था है। इसे इस प्रकार संशोधित नहीं किया जा सकता है कि संविधान में राष्ट्रपति प्रणाली की सरकार बनाई जाये। **मिनर्वा मिल्स बनाम यूनियन बैंक ऑफ इण्डिया ए.आई.आर. 1980 एस.सी. 1789** के वाद में न्यायालय ने माना कि संसद मूल संरचना सिद्धांत में बाधा डाले बिना संविधान में संशोधन कर सकती है। संसद मौलिक अधिकारों में तब तक संशोधन कर सकती है जब तक वे मूल संरचना सिद्धांत के अनुरूप हों। न्यायालय ने न्यायिक समीक्षा को प्रतिबंधित करने वाले भाग को रद्द कर दिया। यह निर्णय कानून के साथ ठीक नहीं रहा, फिर 42वां संशोधन अधिनियम, 1976 पारित किया गया, जिसमें उल्लेख किया गया कि राज्य नीति के सभी या किसी भी निर्देशक सिद्धांत को अनुच्छेद 14 और 19 के मौलिक अधिकारों पर प्राथमिकता दी जाएगी। इसके अलावा जोड़े गए खंड (4) और (5) में कहा गया है कि अनुच्छेद 368 के तहत संवैधानिक संशोधन न्यायिक समीक्षा के दायरे से बाहर है। यह संशोधन केशवानंद भारती मामले में पारित निर्णय के प्रभाव को खत्म करने के लिए पारित किया गया था ताकि किसी भी कानून को न्यायिक जांच के डर के बिना लागू किया जा सके।

प्रश्न 11. संक्षेप में संसद तथा उसके सदस्यों की शक्तियों, विशेषाधारों एवं उन्मुक्तियों की विवेचना कीजिए। अथवा संसदीय विशेषाधिकार क्या है? भारत में विधायी सदनों को क्या विशेषाधिकार दिये गये हैं?

उत्तर—संसद एवं राज्य विधानमण्डलों के विशेषाधिकार एक समान ही हैं। भारतीय संविधान का अनुच्छेद 105 संसद को तथा अनुच्छेद 194 राज्य के विधानमण्डल को विशेषाधिकार प्रदान करते हैं। संसदीय विशेषाधिकार वे विशिष्ट अधिकार हैं जो संसद के प्रत्येक सदन को सामूहिक रूप से और सदन के सदस्यों को व्यक्तिगत रूप से प्राप्त हैं, जिनके अभाव में वे अपने कार्यों का निर्वाह नहीं कर सकते हैं और ये साधारण नागरिकों या निकायों को प्राप्त अधिकारों से कहीं अधिक हैं।

ये ऐसे अधिकार हैं जो सांसदों के अनगिनत कर्तव्यों को पूरा करने के लिए परमावश्यक हैं। अनुच्छेद 105 ने संसद को और सांसदों (Legislators) को विशेषाधिकार प्रदान किया है। इस अनुच्छेद के खण्ड (1) और (2) में क्रमशः दो विशेषाधिकारों का उल्लेख किया गया है—

- (1) भाषण की स्वतन्त्रता (Freedom of Speech),
- (2) कार्यवाहियों के प्रकाशन का अधिकार।

सदन के अन्य विशेषाधिकारों का उल्लेख अनुच्छेद के खण्ड (3) में करते हुए कहा गया है कि जब तक संसद द्वारा अन्य विशेषाधिकारों की विधि बनाकर परिनिश्चित नहीं जाती है तब तक वहीं होंगी जो संविधान (44वें संशोधन) अधिनियम 1978 की धारा 15 के लागू होने के ठीक पहले उस सदन की और उसके सदस्यों और समितियों की थीं।

(1) भाषण की स्वतन्त्रता—भाषण की स्वतन्त्रता जो कि संविधान के अनुच्छेद 105(1) में प्रदान की गई है, यह वक्तव्य की उस स्वतन्त्रता से है जो मौलिक अधिकारों के अन्तर्गत प्रदान की गई है। संविधान के अनुच्छेद 19(1) (ए) के अन्तर्गत प्रदान की गई वक्तव्य की स्वतन्त्रता व्यक्ति को निर्बाध स्वतन्त्रता (इवसनजम थतममकवउ) नहीं प्रदान करती है। उसकी यह स्वतन्त्रता सीमित है पर संसदीय अधिकारों के अन्तर्गत व्यक्ति को पूर्ण स्वतन्त्रता होती है कि संसद के सदस्य की हैसियत से संसद के भीतर जो कुछ भी उचित है कह सकता है और उसने संसद के भीतर जो कुछ भी कहा है उसके लिए किसी भी अन्य न्यायालय में मुकदमा नहीं चलाया जा सकता है। पर यदि उसने सामान्य कानून की दृष्टि से कोई आपत्तिजनक बात कही है और उसने अपने कथन को संसद के बाहर प्रकाशित किया है तो वह उस आपत्तिजनक कथन के प्रति उत्तरदायी होगा तथा संसदीय उन्मुक्तियों के आधार पर वह छूट पाने का अधिकारी नहीं होगा। यह महत्वहीन है कि संसद में कही गई आपत्तिजनक बात का संसद के बाहर प्रकाशन मौखिक हुआ है अथवा लिखित अथवा मुद्रित।

संविधान के अनुच्छेद 105(1) में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि “संसद की प्रक्रिया के विनियमित करने वाले नियमों एवं स्थायी आदेशों के अधीन संसद में भाषण की स्वतन्त्रता होगी।” इस अधिकार पर इस प्रकार के दो प्रतिबन्ध हैं। लोकसभा के नियमों के अनुसार संसद में अशिष्ट भाषा का अशिष्ट आचरण का प्रतिषेध है। संविधान का अनुच्छेद 121 यह वर्णन करता है कि उच्चतम न्यायालय के किसी न्यायाधीश के अपने कर्तव्य-पालन में किये गये आचरण के विषय में कोई भी चर्चा नहीं की जायेगी।

2. सदन की कार्यवाहियों के प्रकाशन का अधिकार — अनुच्छेद 105(2) यह प्राविधानित करता है कि किसी भी व्यक्ति के विरुद्ध संसद के किसी सदन के अधिकार द्वारा या उसके अधीन किसी रिपोर्ट-पत्र, मतों या कार्यवाहियों के प्रकाशन के सम्बन्ध में किसी न्यायालय में कोई कार्यवाही नहीं की जायेगी।

उपर्युक्त संरक्षण केवल उन प्रकाशनों पर प्राप्त होता है जो संसद के किसी सदन के अधिकार से प्रकाशित किये जाते हैं। **सुरेन्द्र बनाम नावाकृष्ण A.I.R. 1958 Orisasa 163** के वाद में एक समाचारपत्र के सम्पादक ने सदन के अधिकार के बिना सदन में दिये गये ऐसे वक्तव्य को प्रकाशित किया था जो उच्च न्यायालय का अवमान (Contempt) करता था। न्यायालय ने उसे न्यायालय अवमान के लिए दोषी ठहराया। सन् 1956 ई. में **(पार्लियामेन्ट्री प्रोसीडिंग्स ऑफ पब्लिकेशन)** एक्ट पारित किया गया था जिसके अनुसार यह व्यवस्था की गई थी कि यदि कोई व्यक्ति सदन की किसी कार्यवाही की सारतः सही रिपोर्ट प्रकाशित करता है तो उसके प्रतिकूल तभी कोई कार्यवाही की जा सकती है जब यह सिद्ध हो जाय कि उसने रिपोर्ट का प्रकाशन दुर्भावनाओं से ग्रस्त होकर किया है अथवा सदन के अध्यक्ष के इस आदेश के बावजूद किया है कि कार्यवाही का यह अंश सदन की कार्यवाही से निकाल दिया जा रहा है और उसका प्रकाशन बिना उनकी अनुमति के न किया जाय।

संविधान (44वाँ संशोधन) अधिनियम, 1978 द्वारा अब सदन की कार्यवाहियों के प्रकाशन के अधिकार को नया अनुच्छेद 361 को जोड़कर संवैधानिक संरक्षण प्रदान कर दिया गया है। यह संरक्षण उसी तरह का है जैसा कि 1956 के **पार्लियामेन्ट्री प्रोसीडिंग्स (प्रोटेक्शन ऑफ पब्लिकेशन) एक्ट** में था। किन्तु यह उन्मुक्ति सदन के गुप्त सत्र के प्रकाशन के विषय में प्राप्त न होगी।

3. अन्य विशेषाधिकार— 44वें संविधान संशोधन, 1978 के लागू होने के पहले भारतीय विधानमण्डलों और उनके सदस्यों को जो निम्न विशेषाधिकार प्राप्त थे वे सभी अब भी उन्हें उपलब्ध होंगे

क. गिरफ्तारी के प्रतिकूल अधिकार—संसद सदस्यों को दीवान कार्यवाहियों में संसद के सत्र के समय एवं सत्र के 40 दिन पूर्व तथा पश्चात् गिरफ्तारी के प्रतिकूल स्वतन्त्रता प्राप्त है।

ख. बाहरी व्यक्तियों को सदन में बहिष्कृत करने का अधिकार—कुछ महत्वपूर्ण अवसरों पर गोपनीयता बनाये रखने के उद्देश्य से बाहरी व्यक्तियों का प्रवेश सदन में वर्जित किया जा सकता है।

ग. कार्यवाहियों के प्रकाशन पर रोक लगाने का अधिकार—संसद को यह अधिकार है कि वह चर्चाओं, रिपोर्ट या कार्यवाहियों पर रोक लगा दे। **एम. एस. एम. शर्मा बनाम श्रीकृष्ण सिन्हा A.I.R. 1959 SC 395** के बाद उच्चतम न्यायालय ने कहा कि संसद और राज्य विधानमण्डलों का ऐसी कार्यवाहियों के प्रकाशन को भी रोकने का अधिकार है जो सत्य और सद्भावनापूर्ण हों।

घ. आन्तरिक कार्यवाहियों के विनियमन का अधिकार—सदनों का यह अनन्य अधिकार है कि वे अपनी आन्तरिक कार्यवाहियों का स्वयं विनियमन करें तथा सदन में उत्पन्न विवादों को स्वयं अभिनिर्णीत करें। सदन की किसी कार्यवाही को किसी न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकती।

ङ. अपनी अवमानना पर सदस्यों अथवा बाहरी व्यक्तियों को दण्डित करने का अधिकार—सदनों को अपनी अवमानना को निर्णीत करने तथा अवमानना करने वाले को दण्डित करने का अधिकार है। इस अधिकार के साथ न्यायालय हस्तक्षेप नहीं कर सकते, परन्तु यदि न्यायालय सदनों द्वारा दण्डित किये गये व्यक्ति की जमानत स्वीकार कर उसे छोड़ देने का आदेश देता है तो यह संसद अथवा विधानमण्डल के विशेषाधिकारों में हस्तक्षेप नहीं माना जा सकता।

सदन के अवमानना के लिए किसी सदस्य को सदन निलम्बित कर सकता है, उसे निष्कासित कर सकता है, चेतावनी दे सकता है या उसे कारावास का दण्ड दे सकता है। कारावास का दण्ड सदन के सत्र तक ही चलता है। सदन के सत्र समाप्त होने या सत्रावसान हो जाने पर दण्ड भी समाप्त हो जाता है। निष्कासन के दण्ड का प्रभाव यह होता है कि वह सदस्य सदन का सदस्य नहीं रह जाता है और सदन में उसका स्थान स्वतः रिक्त हो जाता है।

संसदीय विशेषाधिकार और मौलिक अधिकार—संविधान का अनुच्छेद (19) (1) (क) भारत के प्रत्येक नागरिक को 'भाषण एवं अभिव्यक्ति' की स्वतन्त्रता प्रदान करता है। इस अनुच्छेद के खण्ड (2) के अधीन इस स्वतन्त्रता पर युक्तियुक्त प्रतिबन्ध (Reasonable restrictions) लगाये जा सकते हैं। अनुच्छेद 105 द्वारा प्रदत्त अधिकार एक पूर्णरूपेण स्वतन्त्र अधिकार है किन्तु अनुच्छेद 19(1) (क) द्वारा प्रदत्त स्वतन्त्रता युक्तियुक्त प्रतिबन्धों के अधीन है।

एम. एस. एम. शर्मा बनाम श्रीकृष्ण सिन्हा के मामले में 1959 ई. में उच्चतम न्यायालय ने कहा था कि संसदीय विशेषाधिकार अनुच्छेद 19 के अधीन नहीं है किन्तु यह उससे बढ़कर है।

किन्तु **केशव सिंह के केस, AIR 1956 SC 845** में उच्चतम न्यायालय ने यह निर्णीत किया कि संसदीय विशेषाधिकार अनुच्छेद 21 के प्रदत्त व्यक्तिगत स्वतन्त्रता (Personal liberty) के अधिकार के अधीन है और कोई भी व्यक्ति न्यायालय में चुनौती इस आधार पर दे सकता है कि उसे उसकी दैहिक स्वाधीनता से विधि-विहित प्रक्रिया के बिना वंचित किया गया है। यदि अनुच्छेद 105 के अन्तर्गत संसद या विधानमण्डल अपने विशेषाधिकारों से सम्बन्धित कोई अधिनियम बनाता है तो उसको मूल अधिकारों के आक्रमण के आधार पर न्यायालय में चुनौती दी जा सकती है।

प्रश्न 12. उच्चतम न्यायालय के मौलिक क्षेत्राधिकार का आलोचनात्मक पर कीजिए।

उत्तर — भारतीय संविधान के अनुच्छेद 131 एवं अनुच्छेद 32 के अन्तर्गत उच्चतमन्याय को प्रारम्भिक अधिकारिता प्राप्त है। उच्चतम न्यायालय के मौलिक क्षेत्राधिकार का अभि उपबन्ध अनुच्छेद 131 में किया गया है। अतः संविधान के उपबन्धों के दृष्टिकोण से उच्च न्यायालय की प्रारम्भिक अधिकारिता को मुख्यतः दो भागों में विभाजित किया गया है

(1) संघ विषयक मामलों से सम्बन्धित अधिकारिता और

(2) मूल अधिकारों के प्रवर्तन से सम्बन्धित अधिकारिता

(1) **संघ विषयक मामलों से सम्बन्धित अधिकारिता** — अनुच्छेद 131 उच्चतम न्यायालय को संघ विषयक मामलों में प्रारम्भिक अधिकारिता प्रदान करता है। अनुच्छेद 131 के अन्तर्गत उच्चतम न्यायालय को निम्न पक्षकारों के बीच विवाद और प्रारम्भिक अधिकारिता है—

(i) संघ तथा एक या एक से अधिक राज्यों के बीच

(ii) संघ और कोई राज्य एक और तथा एक राज्य दूसरी ओर

(iii) दो या अधिक राज्यों के बीच।

उपर्युक्त प्रकृति के विवाद प्रारम्भिक रूप में उच्चतम न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत किये जायेंगे। प्रारम्भिक अधिकारिता के अन्तर्गत उच्चतम न्यायालय उन्हीं विवादों को स्वीकार करेगा जिनमें कोई ऐसा तथ्य या विधि का प्रश्न अन्तर्ग्रस्त हो जिस पर किसी विधि अधिकार का अस्तित्व निर्भर करता हो। विधिक अधिकार का अर्थ उस अधिकार से है विधि द्वारा मान्य और न्यायालयों द्वारा प्रवर्तनीय हो।

इस विषय पर निर्देशक वाद **भारत संघ बनाम राजस्थान राज्य AIR 1984 SC** का है, जिसमें उच्चतम न्यायालय ने अभिनिर्धारित किया कि रेलवे एक्ट की धारा 80 के अधीन राज्य को केन्द्र के विरुद्ध नुकसानी का दावा भारतीय संविधान के अनुच्छेद 311(1) के अन्तर्गत राज्य और केन्द्र के बीच विवाद नहीं है। अतः उच्चतम न्यायालय की अधिकारिता से बाहर है। **बिहार राज्य बनाम भारत संघ AIR 1970 SC** के वाद में उच्चतम न्यायालय ने कहा कि प्रारम्भिक अधिकारिता की परिधि में ऐसे मामले नहीं आ सकते, जिनमें भारत सरकार तथा राज्य सरकार या राज्यों को छोड़कर कोई अन्य भी पक्षकार हो।

पश्चिम बंगाल राज्य बनाम भारत संघ AIR 1963 SC के मामले में उच्चतम न्यायालय ने कहा कि प्रारम्भिक अधिकारिता में आने वाला मामला संघवाद से सम्बन्धित होना चाहिये। **मुख्य न्यायाधीश श्री एम. एच. वेग** ने अपना मत व्यक्त करते हुये कहा था कि अनुच्छेद 131 'परिसंघ वाद' का एक अंग है।

अपवाद— उच्चतम न्यायालय अनुच्छेद 131 के अन्तर्गत निम्न विवादों में अपनी प्रारम्भिक अधिकारिता का प्रयोग नहीं कर सकता—

(1) संविधान लागू होने के पूर्व निर्मित एवं लागू किसी संधि, करार, प्रसंविदा, वचनबद्ध, सनद एवं अन्य लिखतों से उत्पन्न विवाद में।

(2) ऐसी संधि या करार आदि से उत्पन्न कोई विवाद जो यह व्यवस्था करती है कि उन संधियों या करारों आदि से उत्पन्न विवाद का निपटारा उच्चतम न्यायालय की प्रारम्भिक अधिकारिता में नहीं किया जा सकता। परन्तु ऐसे वाद अनुच्छेद 143 के अन्तर्गत राष्ट्रपति द्वारा उच्चतम न्यायालय को पारेषित किये जा सकते हैं।

(3) भारतीय संविधान के अनुच्छेद 131 के उपबन्ध संविधान के अन्य उपबन्धों के अधीन है, अतः इस अनुच्छेद द्वारा प्रदत्त अधिकारिता निम्न अन्य परिसीमाओं के अधीन है—

(क) जब संसद विधि द्वारा यह व्यवस्था करती है कि किसी नदी के जल प्रयोग, वितरण अथवा नियन्त्रण या अन्तर्राज्यिक घाटी अथवा नदी के सम्बन्ध में उत्पन्न कोई विवाद उच्चतम न्यायालय द्वारा नहीं देखा जायेगा।

(ख) भारतीय संविधान के अनुच्छेद 280 के अन्तर्गत वित्त आयोग को भेजे गये विवाद एवं

(ग) अनुच्छेद 290 के अन्तर्गत केन्द्र और राज्यों के बीच किये गये व्ययों के समंजन से सम्बन्धित विवाद।

(2) **मूल अधिकारों के प्रवर्तन से सम्बन्धित प्रारम्भिक अधिकारिता** — भारतीय संविधान के अनुच्छेद 32 मूल अधिकारों के उल्लंघन के विरुद्ध नागरिकों को उपचार प्रदान करने के लिए उच्चतम न्यायालय को प्रारम्भिक अधिकारिता प्रदान करता है। इसके अन्तर्गत प्रत्येक नागरिक को अपने मूल अधिकारों को प्रवर्तन के लिए उचित कार्यवाहियों द्वारा उच्चतम न्यायालय को प्रचलित करने का अधिकार प्रदान किया गया है। इस प्रयोजन के लिए उच्चतम न्यायालय को ऐसे निदेश, आदेश या रिट, जिनके अन्तर्गत बंदी प्रत्यक्षीकरण, परमादेश, प्रतिषेध, अधिकार पृच्छा और उत्प्रेक्षण रिटें भी हैं जो भी समुचित हो, जारी करने की शक्ति है।

अनुच्छेद 32 के अन्तर्गत मूल अधिकारों के उल्लंघन होने पर उच्चतम न्यायालय से सीधे उपचार की माँग की जा सकती है।

प्रश्न 13. नवीनतम न्यायिक निर्णयों के आलोक में, भारत में उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति की प्रक्रिया का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए। अथवा उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश की नियुक्ति की प्रक्रिया का वर्णन कीजिए। उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश के पद मुक्त करने की भी प्रक्रिया का वर्णन कीजिए।

उत्तर— उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश की नियुक्ति की प्रक्रिया — भारतीय संविधान के अनुच्छेद 124(2) के अनुसार उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों को राष्ट्रपति नियुक्त करता है। किन्तु इस मामले में राष्ट्रपति को कोई वैवेविक शक्ति (Discretionary Power) नहीं प्राप्त है। अनुच्छेद 124(2) यह कहता है कि राष्ट्रपति न्यायाधीशों की नियुक्ति उच्चतम न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों के ऐसे न्यायाधीशों से 'परामर्श' (Consultation) करने के पश्चात् जिनसे इस प्रयोजन के लिए वह आवश्यक समझेय ही करेगा। अन्य न्यायाधीशों की नियुक्ति राष्ट्रपति हमेशा मुख्य न्यायाधीशों से भी परामर्श कर सकता है। न्यायाधीशों की नियुक्ति करने की राष्ट्रपति की शक्ति एक औपचारिक शक्ति है, क्योंकि वह उस मामले में मन्त्रिमण्डल की सलाह से कार्य करता है। न्यायाधीशों की नियुक्ति के सम्बन्ध में संविधान ने कार्यपालिका को आत्यान्तिक (absolute) शक्ति नहीं प्रदान की है। कार्यपालिका को न्यायाधीशों की

नियुक्ति के मामले में ऐसे व्यक्तियों से परामर्श करना आवश्यक है जो इस विषय पर परामर्श देने के लिए पूर्ण रूप से योग्य हैं।

मुख्य न्यायमूर्ति के सम्बन्ध में अनुच्छेद 124 के अन्तर्गत राष्ट्रपति को संविधान द्वारा विहित अर्हता रखने वाले किसी भी व्यक्ति को मुख्य न्यायमूर्ति नियुक्त करने की शक्ति प्राप्त है। किन्तु अन्य न्यायाधीशों की नियुक्ति के मामले में राष्ट्रपति मुख्य न्यायमूर्ति से परामर्श लेने के लिए बाध्य है। अनुच्छेद 124 में इस बात का भी कोई उल्लेख नहीं किया गया है कि उच्चतम न्यायालय के वरिष्ठतम न्यायाधीश को ही मुख्य न्यायाधीश नियुक्त किया जा सकता है। संविधान में ऐसी बाध्यता न होने के बाद भी प्रारम्भ से ही उच्चतम न्यायालय के वरिष्ठतम न्यायाधीश को ही मुख्य न्यायाधीश नियुक्ति करने की परम्परा चली आ रही थी।

विधि आयोग ने 1956 में यह सुझाव दिया था कि मुख्य न्यायमूर्ति की नियुक्ति केवल वरिष्ठता के आधार पर नहीं वरन् न्यायाधीशों के गुण और उपयुक्तता के आधार पर की जानी चाहिये। विधि-आयोग की इस सिफारिश के बाद भी सरकार मुख्य न्यायमूर्ति की नियुक्ति वरिष्ठता के आधार पर ही करने की परम्परा का पालन करती है। इससे स्पष्ट है कि सरकार ने विधि आयोग की सिफारिश को उपयुक्त नहीं माना या उसकी उपेक्षा की।

कार्यपालिका की प्रमुखता (न्यायाधीश स्थानान्तरण का मामला) – एस. पी. गुप्ता बनाम् भारत संघ AIR 1982 SC 149 के वाद में भारत के विधि मंत्री द्वारा राज्यों के मुख्यमन्त्रियों को भेजे गए परिपत्र की जिसके द्वारा न्यायाधीशों को एक उच्च न्यायालय से दूसरे उच्च न्यायालय में स्थानान्तरण तथा प्रस्तावित नियुक्ति के सम्बन्ध में अपनी सहमति देने को कहा गया था, की विधिमान्यता को चुनौती दी गयी थी। पटना उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश के मद्रास उच्च न्यायालय में स्थानान्तरण आदेश तथा दिल्ली उच्च न्यायालय के अवर न्यायाधीश की पदावधि न बढ़ाये जाने के आदेश को इस आधार पर चुनौती दी गयी थी कि वह भारत के मुख्य न्यायाधीश के 'परामर्श' के बिना की गई थी। इस मामले में राष्ट्रपति ने दिल्ली उच्च न्यायालय मुख्य न्यायाधीश की राय को प्राथमिकता दी थी। उच्चतम न्यायालय की 7 न्यायाधीशों की पूर्ण पीठ ने 4/3 के बहुमत से यह अभिनिर्धारित किया था कि अनुच्छेद 124 में प्रयुक्त 'परामर्श' शब्द से तात्पर्य 'पूर्ण एवं प्रभावी परामर्श' है। किन्तु बहुमत ने यह स्पष्ट किया है कि उक्त 'परामर्श' मानने के लिए राष्ट्रपति बाध्य नहीं है।

न्यायाधीशों की नियुक्ति में न्यायालय की प्रमुखता—

एस. सी. एडवोकेट्स ऑन रिकॉर्ड ऐसोसियेशन का निर्णय उच्चतम न्यायालय ने अपने ऐतिहासिक निर्णय— एस. सी. एडवोकेट्स ऑन रिकॉर्ड ऐसोसियेशन बनाम् भारत संघ (1993) SC 44 के मामले में एस. पी. गुप्ता बनाम् भारत संघ के निर्णय को उलट दिया जिसमें यह अभिनिर्धारित किया गया था कि न्यायाधीशों की नियुक्ति और स्थानान्तरण के मामले में सरकार को पूर्ण शक्ति प्राप्त है और अभिनिर्धारित किया कि उक्त मामले में उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायाधिपति का ही निर्णय अन्तिम होगा। न्यायालय ने उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति और उच्च न्यायालयों ने मुख्य न्यायाधीश और अन्य न्यायाधीशों के स्थानान्तरण के मामले में विस्तृत मार्गदर्शन विहित किया है। न्यायालय के 9 न्यायाधीशों की पीठ ने 7-2 के बहुमत से यह अभिनिर्धारित किया है कि न्यायाधीशों की नियुक्ति के मामले में उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायाधिपति के मत को सर्वोच्च महत्व देना चाहिए जो वह अपने सहयोगियों से परामर्श करके व्यक्त करता है और कार्यपालिका को केवल अयोग्य नियुक्तियों को रोकने की अनुमति होगी जो वे मुख्य न्यायाधिपति को कारण बताकर ही कर सकती है। कार्यपालिका की भूमिका यहीं तक सीमित होगी। बहुमत का निर्णय सुनाते हुए कहा कि उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालय के किसी न्यायाधीश की नियुक्ति तब तक नहीं की जा सकती जब तक कि वह उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति के मत के अनुसार न हो। केवल आपवादित मामलों में और पर्याप्त कारण होने पर ही जिसे प्रकट किया जायेगा किसी व्यक्ति की जिसके कारण की सिफारिश की गयी है, अयोग्यता के आधार पर नियुक्ति नहीं की जा सकेगी। किन्तु यदि न्यायाधीशगण प्रकट किए गए कारण को स्वीकार नहीं करते हैं और अपनी सिफारिश को पुनः दोहराते हैं तो स्वस्थ परम्परा के रूप में उसी व्यक्ति की नियुक्ति की जायेगी। बहुमत ने यह निर्णय दिया कि भारत के मुख्य न्यायाधीश के पद पर उच्चतम न्यायालय के वरिष्ठतम न्यायाधीश की ही नियुक्ति को जायेगी। 'परामर्श' शब्द इसी बात को स्पष्ट करने के लिए समाविष्ट किया गया है कि न्यायाधीशों की नियुक्ति में सरकार को नहीं बल्कि भारत के मुख्य न्यायाधिपति के निर्णय को प्राथमिकता दी जायेगी। बहुमत ने यह भी कहा कि न्यायाधीशों की नियुक्तियाँ और स्थानान्तरण के मामले में केवल सीमित आधारों पर हो न्यायालय में चुनौती दी जा सकेगी। बहुमत द्वारा दिया गया निर्णय प्रशंसनीय है और यह न्यायपालिका की खोई हुई स्वतन्त्रता और निष्पक्षता को पुनः कायम करने में सहायक होगा।

वर्तमान स्थिति—इन की प्रेसीडेन्सियल रिफरेंस का मामला उच्चतम न्यायालय की नौ सदस्यी संविधान पीठ ने **इनरी प्रेसीडेन्सियल रिफरेंस AIR 1999 SC 01** के मामले में सर्वसम्मति से यह अभिनिर्धारित किया है कि उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों में न्यायाधीशों की नियुक्ति और स्थानान्तरण के मामले में 1993 के निर्णय में प्रतिपादित परामर्श प्रक्रिया का पालन किए बिना मुख्य न्यायाधीश द्वारा की गई सिफारिशों को मानने के लिए कार्यपालिका बाध्य नहीं है। राष्ट्रपति के अनुच्छेद 143 के अधीन उच्चतम न्यायालय से 9 प्रश्नों पर अपनी सलाह देने के लिए कहा था। राष्ट्रपति ने यह पूछा था कि मुख्य न्यायाधीश अन्य न्यायाधीशों के परामर्श के बिना भेजी गई सिफारिश को मानने के लिए बाध्य है। एस. सी. एडवोकेट्स ऑन रिकॉर्ड के मामले में यह निर्णय दिया गया था कि उच्चतम न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति में मुख्य न्यायाधीश की सिफारिश को प्रमुखता दी जायेगी किन्तु अन्य

न्यायाधीशों के परामर्श के बाद इस निर्णय के पश्चात् कई मामलों में अन्य न्यायाधीशों के परामर्श के बिना ही सिफारिश मुख्य न्यायाधीश भेजने लगे। ऐसे आरोप निरन्तर लगते रहे।

यह प्रश्न तब और गम्भीर रूप में आया जब पिछले मुख्य न्यायाधीश श्री एम. एम. पुंछी ने भाजपा सरकार को न्यायाधीशों की नियुक्ति के लिए अपनी सिफारिश भेजी। ऐसा पता चला था कि उन्होंने मनमाने ढंग और अन्य न्यायाधीशों से परामर्श किए बिना राष्ट्रपति को अपनी सिफारिश भेजी थी। सरकार ने उसे रोक लिया और इस पर उच्चतम न्यायालय की सलाह माँगी। 9 सदस्यीय संविधान पीठ का निर्णय सुनाते हुए न्यायमूर्ति श्री एस. पी. भरुचा ने परामर्श प्रक्रिया को और अधिक विस्तृत कर दिया और यह अभिनिर्धारित किया कि उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों के मामले में मुख्य न्यायाधीश को उच्चतम न्यायालय के चार वरिष्ठतम न्यायमूर्तियों के समूह से (a Collegium of favour Senior most Judges) परामर्श करके ही राष्ट्रपति को अपनी सिफारिश भेजना चाहिए। 1993 के निर्णय में केवल दो वरिष्ठतम न्यायाधीशों से परामर्श करने की बाध्यता थी।

न्यायाधीशों के समूह में भारत के भावी मुख्य न्यायाधीश होने वाला न्यायाधीश भी सम्मिलित होना चाहिए। अनुच्छेद 124 (2) में प्रयुक्त श्रमणशब्द का तात्पर्य अनेक न्यायाधीशों (Plurality of Judges) से परामर्श है। न्यायालय ने यह स्पष्ट किया कि न्यायाधीशों की नियुक्तियों और तबादले के बारे में अन्य न्यायाधीशों से ली गई सलाह लिखित में होनी चाहिए और भारत के मुख्य न्यायाधीश को अपनी सिफारिश के साथ अन्य न्यायाधीशों के परामर्श को भी सरकार के पास भेजना चाहिए। न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि मुख्य न्यायाधीश की व्यक्तिगत सलाह अनुच्छेद 124(1) के अधीन श्रमणशब्द नहीं है। न्यायालय ने यह भी स्पष्ट किया कि यदि सरकार सिफारिश किए गए किसी व्यक्ति को न्यायाधीश नियुक्त न करने के बारे में भारत के मुख्य न्यायाधीश के पास आवश्यक सामग्री और सूचना भेजती है तो मुख्य न्यायाधीश उच्चतम न्यायालय के अन्य न्यायाधीशों की सलाह के बिना ही उस पर स्वयं कोई कार्यवाही नहीं कर सकते हैं।

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में उच्चतम न्यायालय का उक्त निर्माण समीचीन है। यद्यपि न्यायाधीशों की नियुक्ति और स्थानान्तरण के मामले में 1993 के निर्णय के अनुसार न्यायपालिका की ही सर्वोच्चता बनी रहेगी किन्तु अब वह और अधिक लोकतान्त्रिक, पारदर्शी तथा निष्पक्ष होगी। मुख्य न्यायाधीश अपनी मनमानी नहीं कर सकेगा। उसे उच्चतम न्यायालय के चार वरिष्ठतम न्यायाधीशों के समूह (Collegium of four senior most Judges of Supreme Court) से परामर्श करके ही नियुक्ति सम्बन्धी सिफारिश भेजनी होगी। उक्त प्रक्रिया अधिक लोकतान्त्रिक है और इसके दुरुपयोग किए जाने की सम्भावना मान्य होगी।

उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश के पद युक्त करने की प्रक्रिया— भारतीय संविधान के अनुच्छेद 124(4) के अन्तर्गत उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों को उनके पद से हटाने की प्रक्रिया उल्लिखित है। इस प्रक्रिया को 'महाभियोग' कहा जाता है।

उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों को केवल दो आधारों—सिद्ध कदाचार या असमर्थता के आधार पर राष्ट्रपति के आदेश द्वारा उनके पद से हटाया जा सकता है। उच्चतम न्यायालय के किसी न्यायाधीश को पद से हटाने के लिए समावेदन प्रत्येक सदन (लोकसभा और राज्यसभा दोनों) की कुल संख्या के बहुमत द्वारा तथा सदन में उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यों के कम से कम दो—तिहाई बहुमत द्वारा समर्थित होना चाहिए। इसके पश्चात् समावेदन राष्ट्रपति के समक्ष रखा जायेगा और उसके आदेश दे देने पर उसे उसके पद से हटा दिया जायेगा। ऐसा समावेदन संसद के एक ही सत्र में प्रस्तावित और स्वीकृत होना चाहिये। ऐसे किसी प्रस्ताव के संसद में रखे जाने तथा न्यायाधीश के कदाचार या असमर्थता के अन्वेषण और साबित करने की प्रक्रिया संसद विधि द्वारा विनियमित करेगी।

के. वीरास्वामी बन्नाम् यूनिन ऑफ इण्डिया I (1991) 3 SCC 655 में एक महत्वपूर्ण निर्णय में उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों को भ्रष्टाचार निवारक अधिनियम, 1947 के अधीन अपराधों के लिए अभियोजन चलाया जा सकता है। अनुच्छेद 124 (4) में प्रयुक्त शब्द कदाचार शब्द का अर्थ बहुत विस्तृत है और इसमें भ्रष्टाचार निवारक अधिनियम, 1947 की धारा 5(1) में वर्णित अपराधिक दुराचरण भी सम्मिलित है।

न्यायाधीश (जाँच) अधिनियम, 1968 संसद ने पारित किया है जिसके अधीन किसी न्यायाधीश के श्रुत्यवहार या अक्षमता की जाँच एक समिति द्वारा की जाएगी जिसे लोकसभा अध्यक्ष या राज्यसभा के अध्यक्ष जैसी भी स्थिति हो के द्वारा गठित किया जायेगा।

न्यायाधीश को त्यागपत्र के लिए बाध्य करना न्यायपालिका की स्वतन्त्रता पर आघात—सी. रवीन्द्रन ऐय्यर बन्नाम् न्यायाधीश एम. एम. भट्टाचार्य (1995) 5 SCC 457 के वाद में उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि केवल भारत का मुख्य न्यायाधीश ही उच्च न्यायालयों के न्यायाधीश या उसके मुख्य न्यायाधीश के विरुद्ध लगाए गए किसी आरोप, जो महाभियोग से कम है, के विरुद्ध कार्यवाही कर सकता है। इस वाद में उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि अधिवक्ता संघों द्वारा तथाकथित बुरे आचरण के आधार पर बम्बई उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति को प्रस्ताव पास करके त्यागपत्र देने के लिए बाध्य करने का कार्य संविधानसम्मत नहीं है और यह न्यायालय की अवमानना है तथा यह न्यायपालिका की स्वाधीनता पर आघात पहुँचाता है जो विधि शासन का एक आवश्यक तत्व है। संविधान में इसके लिए पहले से ही अनुच्छेद 124(4) और (5) में उपबन्ध दिए गए हैं। इसके बाहर किसी भी व्यक्ति या संस्था जैसे C.B.I. वित्त मंत्रालय, R.B.I. को भी किसी न्यायालय के आचरण के बारे में जाँच करने का अधिकार नहीं है।

अतः निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि उच्चतम न्यायालय के किसी न्यायाधीश को हटाने के लिए किसी अन्य प्रक्रिया द्वारा नहीं अपितु संविधान के अनुच्छेद 124(4) एवं (5) की प्रक्रिया के अनुरूप ही हटाया जायेगा अन्यथा नहीं।

प्रश्न 14. “राष्ट्रपति भारत के उच्चतम न्यायालय से सलाह ले सकता है।” इस कथन के आलोक में, भारतीय उच्चतम न्यायालय के परामर्शीय सेवाधिकार को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर—परामर्शदात्री अधिकारिता (अनुच्छेद 143)—अनुच्छेद 143 यह उपबन्धित करता है कि जब किसी समय राष्ट्रपति को यह प्रतीत होता है कि (क) विधि या तथ्यों का कोई ऐसा प्रश्न उत्पन्न हुआ है या उसके उत्पन्न होने की सम्भावना है (ख) ऐसी प्रकृति का और ऐसे सार्वजनिक महत्व का है कि उस पर उच्चतम न्यायालय की राय लेना समीचीन है तो वह उस प्रश्न को उसके विचारार्थ भेज सकता है। न्यायालय ऐसी सुनवाई के पश्चात्, जो वह ठीक समझे, राष्ट्रपति का उस पर अपनी राय देगा। खण्ड (2) के अधीन यदि राष्ट्रपति किसी ऐसे मामले को उच्चतम न्यायालय की राय के लिए सौंपता है, जो अनुच्छेद 131 के परन्तुक में वर्णित है तो न्यायालय उस पर राय देने के लिए बाध्य होगा।

(2) उच्चतम न्यायालय को कौनसे प्रश्न सौंपे जाँ इसका निर्धारण राष्ट्रपति करता है। राष्ट्रपति के इस निर्णय पर आपत्ति नहीं की जा सकती है। अनु. 143 के अन्तर्गत उच्चतम न्यायालय द्वारा दी गई राय, यद्यपि आदर के योग्य है, परन्तु वह न्यायालयों के ऊपर बाध्यकारी नहीं है।

वह राय अनु. 141 में प्रयुक्त ‘विधि’ शब्द के अन्तर्गत नहीं आती है, अतएव न्यायालय इसे मानने के लिए बाध्य नहीं है। किन्तु व्यवहारतः इसका प्रभाव बाध्यकारी ही है।

किन्तु **विशेष न्यायालय विधेयक 1978** के सन्दर्भ में उच्चतम न्यायालय ने अपने उक्त मत को बदल दिया है। और यह अधिनिर्धारित किया है कि अनु. 143 के अधीन उच्चतम न्यायालय राष्ट्रपति की राय देने के लिए बाध्य है। न्यायालय ने यह भी कहा है कि उच्चतम न्यायालय द्वारा दी गई, राय सभी न्यायालयों पर आबद्धकर है। किन्तु न्यायालय ने यह राय दिया है कि न्यायालय की राय के लिए शनिर्दिष्ट प्रश्नों (चमबपंसु नमेजपवदे) को ही सौंपा जाना चाहिये। यदि ऐसे प्रश्न अस्पष्ट या सामान्य प्रकृति के हैं तो उच्चतम न्यायालय अपनी राय देने के लिए बाध्य नहीं होगा।

प्रस्तुत मामले में इस महत्वपूर्ण प्रश्न पर न्यायालय की राय माँगी गयी थी कि क्या संसद को आपातकाल में किये गये अपराधों के परीक्षण के लिये विशेष न्यायालयों की स्थापना करने की शक्ति प्राप्त है? उच्चतम न्यायालय ने 6 रु 1 के बहुमत से यह अभिनिर्धारित किया कि संसद को ऐसे अपराधों के परीक्षण के लिए विशेष न्यायालयों को स्थापित करने की शक्ति प्राप्त है, बशर्ते कि ऐसे विधेयक में प्रक्रियात्मक संरक्षण के लिए समुचित व्यवस्था की गई हो। न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि यदि विधेयक में निम्नलिखित तीन बातें सम्मिलित कर दी जायें जो विधेयक विधिमान्य होगा (1) विशेष न्यायालयों में उच्च न्यायालयों के ‘कार्यरत’ न्यायाधीशों की नियुक्ति की जायेगी, निवृत्तमान न्यायाधीशों की नहीं (2) ऐसी नियुक्ति मुख्य न्यायाधिपति की सहमति (concurrency) से ही की जायेगी केवल परामर्श (consultation) से नहीं (3) अभियुक्त को एक न्यायालय से दूसरे न्यायालय में अपने मामले को हस्तान्तरित करने के लिए उच्चतम न्यायालय में आवेदन देने का अधिकार होना चाहिए। न्यायालय के निर्णय को मानकर सरकार के विधेयक में सभी संशोधनों का समाविष्ट कर दिया।

कावेरी जल विवाद अधिकरण AIR 1992 SCC 522 के मामले में निम्न तथ्य थे। कावेरी नदी के जल के बँटवारे के सम्बन्ध में कर्नाटक और तमिलनाडु राज्य में विवाद था। केन्द्र सरकार ने इस विवाद के निपटारे के लिए एक अधिकरण की नियुक्ति की। अधिकरण ने जून 1991 में कर्नाटक राज्य को एक निश्चित मात्रा में नदी का जल तमिलनाडु को देने का आदेश दिया। कर्नाटक राज्य ने इस आदेश का विरोध किया और एक अध्यादेश जारी करके सरकार को यह शक्ति प्रदान कर दी कि वह अभिकरण के निर्णय को पालन करने के लिए बाध्य नहीं है। तमिलनाडु राज्य ने इस कार्यवाही का कड़ा विरोध किया। विवाद को बढ़ता हुआ देखकर राष्ट्रपति ने मामले को संविधान के अनु. 143 के अधीन उच्चतम न्यायालय की सलाह के लिए सौंप दिया। उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि कर्नाटक राज्य प्रस्थापित अध्यादेश अविधिमान्य है क्योंकि वह केन्द्रीय अधिनियम (अन्तर्राज्य जल विवाद अधिनियम, 1956) के अधीन नियुक्त किया गया है जिसे अनु. 262 के अधीन बनाया गया है। उक्त अध्यादेश विधि शासन के विरुद्ध है और वह अपने मामले में स्वयं एक न्यायाधीश की भूमिका धारण कर लेता है जो विधि शासन और नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्त का अतिक्रमण करने के कारण अब असंवैधानिक है।

इस्माइल फारुकी बनाम् भारत संघ में संविधान पीठ ने निर्णय दिया कि उच्चतम न्यायालय ऐसे प्रश्न को विचारार्थ स्वीकार नहीं कर सकता है, जो ‘असंगत और अनावश्यक’ है अथवा जिससे संविधान का प्रयोजन पूरा न होता हो अथवा धर्मनिरपेक्षता के प्रतिकूल हो।

स्पेशल रिफरेन्स, 2002 का मामला AIR 2003 S.C. 87 गुजरात विधानसभा के सयम से पूर्व भंग हो जाने के कारण चुनाव कराने का मामला— इस मामले में न्यायालय के समक्ष विचारार्थ यह महत्वपूर्ण प्रश्न आया कि क्या विधानसभा के भंग हो जाने के पश्चात् अनु. 174 की अपेक्षा के अनुसार जिसमें यह कहा गया है कि एक सत्र की अन्तिम बैठक के और दूसरे सत्र की प्रथम बैठक के बीच 6 मास का अन्तर नहीं होना चाहिए, ऐसी स्थिति में अनु. 324 के अन्तर्गत निर्वाचन आयोग विधानसभा का चुनाव कराने के लिए बाध्य है। 2 फरवरी 2002 को तत्कालीन

मुख्यमन्त्री ने विधानसभा समय से पहले विघटित करके राज्य में चुनाव कराने के लिए राज्यपाल को सलाह दिया था। न्यायालय के समक्ष यह तर्क दिया गया कि न्यायालय इस मामले में अनु. 143 के तहत परामर्श देने के लिए बाध्य है। न्यायालय की पाँच न्यायमूर्तियों की पीठ ने यह निर्णय दिया कि ऐसे मामले पर जब कोई ऐसा प्रश्न उत्पन्न हुआ या होने की सम्भावना है जो सार्वजनिक महत्व का है और उस पर उच्चतम न्यायालय का कोई निर्णय नहीं है तो अनु. 143 के अन्तर्गत उच्चतम न्यायालय राष्ट्रपति की शंका के निवारण हेतु परामर्श देने के लिए कर्तव्यबद्ध है।

गुजरात राज्य के विघटित विधानसभा के विषय पर उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि अनु. 174 एक 'जीवित विधान' सभा पर लागू होता है न कि 'विघटित विधानसभा' पर। अतः विघटित विधानसभा के मामले में तत्काल निर्वाचन आयोग चुनाव कराने के लिए बाध्य नहीं है। अनु. 174 के अधीन किसी समय सीमा का उल्लेख नहीं है। यह भी तर्क दिया गया कि यदि इस मामले में किसी समय सीमा का उल्लेख नहीं है तो ऐसा भी हो सकता है निर्वाचन आयोग चुनाव ही न करावे और इस प्रकार लोकतांत्रिक व्यवस्था ही ध्वस्त हो जाए। न्यायालय ने कहा कि ऐसा नहीं है और विधानसभा के विघटन के पश्चात् उसे तत्काल निर्वाचन की प्रक्रिया आरम्भ कर देनी चाहिए और 6 मास के भीतर चुनाव करा लेना चाहिए। इस निर्णय से संविधान के उपबन्धों को लेकर शंका का निवारण हो गया और सरकार और निर्वाचन आयोग दोनों के बीच एक विवाद का अन्त हो गया।

प्रश्न 15. 'स्वतन्त्र न्यायपालिका' से आप क्या समझते हैं? भारत में न्यायपालिका की स्वतन्त्रता सुनिश्चित करने वाले संवैधानिक प्रावधानों की विवेचना कीजिए।

उत्तर—न्यायपालिका की स्वतन्त्रता—एक स्वतन्त्र और निष्पक्ष न्यायपालिका ही नागरिकों के अधिकारों की संरक्षिका हो सकती है तथा बिना भय तथा पक्षपात के सबको समान न्याय प्रदान कर सकती है। इसके लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि उच्चतम न्यायालय अपने कर्तव्यों के पालन के पूर्ण रूप से स्वतन्त्र और सभी प्रकार के राजनीतिक दबावों से मुक्त हो। न्यायाधीश स्थानान्तरण के मामलों में उच्चतम न्यायालय ने कहा है कि न्यायपालिका की स्वतन्त्रता संविधान का श्वाधारभूत ढाँचा है। भारतीय संविधान में न्यायपालिका की स्वतन्त्रता को कायम रखने के लिए निम्नलिखित उपबन्धों का समावेश किया गया है

- (1) कार्यपालिका से न्यायपालिका का पृथक्करण,
- (2) न्यायाधीशों की पदावधि की संरक्षा,
- (3) न्यायाधीशों के वेतन, भत्ते आदि विधायिका के मतदान से परे हैं,
- (4) संसद उच्चतम न्यायालय की अधिकारिता को बढ़ा सकती है, लेकिन कम नहीं कर सकती।
- (5) किसी न्यायाधीश के अपने कर्तव्य पालन में किये गये आचरण पर संसद में चर्चा का प्रतिषेध है।
- (6) अवमान के लिए दण्ड देने की शक्ति।

(1) कार्यपालिका से न्यायपालिका का पृथक्करण— अनुच्छेद 50 राज्य को निर्देश देते हैं कि राज्य लोकसेवाओं में न्यायपालिका को कार्यपालिका से पृथक् करने का प्रयास करेगा। न्यायपालिका का कार्यपालिका के नियन्त्रण से मुक्त रहना स्वतन्त्रता और निष्पक्षता के लिए अत्यन्त आवश्यक है। अनेक राज्यों में न्यायपालिका को कार्यपालिका से पृथक् कर दिया गया है।

(2) पदावधि की संरक्षा— एक बार नियुक्त किये जाने पर न्यायाधीश को आसानी से पदच्युत नहीं किया जा सकता है। उसे पदच्युत करने के लिए संविधान एक विशेष प्रक्रिया का प्रावधान करता है। प्रथम तो उसको केवल संविधान में दिये गये आधारों पर ही पदच्युत किया जा सकता है दूसरे, इस प्रयोजन हेतु राष्ट्रपति द्वारा पेश किये गये समावेदन संसद के प्रत्येक सदन में बहुमत द्वारा या उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से पारित किया जाना चाहिये। यह समावेदन संसद के एक ही सत्र में प्रस्तावित और पारित किया जाना चाहिये। उक्त प्रक्रिया से यह स्पष्ट है कि न्यायाधीशों को उनके पदों से पदमुक्त करना आसान नहीं है।

(3) न्यायाधीशों के वेतन, भत्ते आदि विधायिका के आधार से परे हैं— उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों का वेतन संविधान के अनुसार नियत किया जाता है और वह भारत की संचित निधि पर भारित होता है। उस पर संसद में मतदान नहीं होता है, उनके कार्यकाल के दौरान उनके वेतन और भत्तों में कोई परिवर्तन नहीं किया जा सकता है। इसका केवल एक अपवाद है, वह यह है कि देश में वित्तीय संकट के समय उनके वेतन और भत्तों में आवश्यक कटौती की जा सकती है।

(4) संसद उच्चतम न्यायालय की शक्ति और अधिकारिता को बढ़ा सकती है, किन्तु कम नहीं कर सकती—सिविलमामलों में संसद उच्चतम न्यायालय में की जाने वाली अपीलों की आर्थिक सीमा को बदल सकती है, और इस प्रकार उसकी अधिकारिता को बढ़ा सकती है। वह इसकी आपराधिक अधिकारिता को बढ़ा सकती है, वह इसके अपनी अधिकारिता को और अधिक कार्यसाधक रूप में प्रयोग करने के लिए सहायक शक्तियाँ प्रदान कर सकती है और अनु. 32 में वर्णित प्रयोजनों से भिन्न किन्हीं अन्य प्रयोजनों के लिए निर्देश, आदेश, या लेख, जिनके अन्तर्गत परमाधिकार रिट भी शामिल है, निकालने की शक्ति प्रदान कर सकती है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि उक्त वर्णित अनुच्छेदों के अन्तर्गत संसद उच्चतम न्यायालय की शक्तियाँ एवं अधिकार को बढ़ा सकती है लेकिन घटा नहीं सकती।

(5) न्यायाधीशों के अपने कर्तव्य-पालन में किये गये आचरण पर संसद में चर्चा पर रोक—संसद के किसी भी सदन या राज्य-विधानमण्डल के किसी सदन में किसी न्यायाधीश के अपने कर्तव्यों के पालन में किये गये आचरण पर कोई चर्चा नहीं की जा सकती है। यह उनकी स्वतन्त्रता के लिए आवश्यक है।

(6) न्यायालय के अवमान के लिए दण्ड देने की शक्ति—संविधान का अनुच्छेद 129 उच्चतम न्यायालय को और अनु. 215 उच्च न्यायालय को अपने अवमान के लिए किसी भी व्यक्ति को दण्ड देने की शक्ति प्रदान करता है। यह शक्ति न्यायालयों की स्वतन्त्रता और निष्पक्षता को सुरक्षित रखने के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इसका अर्थ यह नहीं है कि न्यायालय या न्यायाधीशों की आलोचना नहीं की जा सकती है। न्यायालय अथवा न्यायाधीशों की उचित और सत्य आलोचना वर्जित नहीं है।

प्रश्न 16. भारतीय संविधान के आपात उपबंधों पर संक्षेप में प्रकाश डालिए। आ घोषणा के क्या परिणाम होते हैं? क्या इसे न्यायालय में चुनौती दी जा सकती है?

उत्तर—भारत का संविधान संघात्मक है किन्तु राष्ट्रपति द्वारा आपातकाल की घोषणा करते ही संविधान एकात्मक संविधान की तरह कार्य करने लगता है, केन्द्रीय शक्ति शक्तिशाली हो जाती है तथा वित्त व्यवस्था पर उसका पूरा नियन्त्रण हो जाता है।

संविधान का भाग 18 राष्ट्रपति की आपातकालीन शक्तियों का वर्णन करता है। कि आपात का संविधान में विचार किया गया है वह तीन प्रकार का है—

(1) युद्ध या आन्तरिक अशान्ति से उत्पन्न संकट— यदि राष्ट्रपति इस बात से सन्तुष्ट है कि कोई ऐसा गम्भीर संकट मौजूद है जिससे भारत या उसके किसी क्षेत्र के भाग की सुरक्षा संकट में है, चाहे वह युद्ध से हो या बाहरी आक्रमण या सशस्त्र विद्रोह से हो, तो वह उद्घोषणा (Proclamation) द्वारा इस सम्बन्ध में ‘‘घोषणा’’ (Declaration) कर सकता है। ऐसी उद्घोषणा (Proclamation) उस समय भी की जा सकती है जब युद्ध या बाहरी आक्रमण या सशस्त्र विद्रोह की कोई वास्तविक घटना न घटी हो लेकिन ऐसी घटनाओं शीघ्र होने का खतरा मौजूद हो।

(2) राज्य के संवैधानिक तन्त्र के विफल हो जाने की दशा में— भारतीय संविधान का अनुच्छेद 356 यह उपबन्ध करता है कि यदि किसी राज्य के राज्यपाल की रिपोर्ट पर अथवा स्वयं विवेक से राष्ट्रपति को यह सन्तुष्टि हो जाये कि उस राज्य में ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है कि राज्य का शासन संविधान के उपबन्धों के अनुसार चलाया जाना कठिन है तो राष्ट्रपति उस राज्य हेतु आपातस्थिति की घोषणा करता है। इस स्थिति में राष्ट्रपति उस राज्य के समस्त अधिकार राज्य के किसी निकाय या प्राधिकारी में निहित कर सकता है अथवा समस्त या कोई भी शक्ति अपने हाथ में ले सकता है। राष्ट्रपति यह घोषित करता है कि राज्य विधानमण्डल की शक्तियाँ संसद के प्राधिकार द्वारा नियुक्त होंगी। राष्ट्रपति को ऐसे प्रासंगिक और अप्रसंगिक उपबन्ध बनाने का भी अधिकार होगा जो कि उसे उस घोषणा के उद्देश्य को प्रभावी करने के लिए आवश्यक या वांछनीय प्रतीत हों। परन्तु इस घोषणा द्वारा उच्च न्यायालयों से सम्बन्धित किसी उपबन्ध के प्रवर्तन को पूरी तरह से या आंशिक रूप से निलम्बित नहीं किया जा सकेगा।

अनुच्छेद 356 में प्रयुक्त पदावली से यह स्पष्ट है कि राष्ट्रपति राज्य के राज्यपाल से कोई रिपोर्ट न मिलने पर भी इस प्रकार की कार्यवाही कर सकता है। इसके लिए केवल इतना ही पर्याप्त है कि राष्ट्रपति इस बात से सन्तुष्ट हो जाये कि राज्य में संवैधानिक तन्त्र विफल हो गया है। यह सम्भव है कि उस राज्य का राज्यपाल मुख्यमंत्री से मिल जाय, राष्ट्रपति को संवैधानिक तन्त्र की विफलता की सूचना न भेजे। इस स्थिति में केन्द्र को अपने कर्तव्य का पालन करना होगा और स्वयं कार्य करना होगा। अनुच्छेद 355 से यह स्पष्ट है कि राष्ट्रपति की ‘सन्तुष्टि’ मन्त्रिमण्डल की सन्तुष्टि होती है। अनुच्छेद 355 में प्रयुक्त ‘‘राज्य का शासन संविधान के उपबन्धों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता’’ पदावली इसका निर्णय केवल राष्ट्रपति करेगा और राष्ट्रपति का निर्णय केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल का निर्णय होता है।

(3) वित्तीय आपात— संविधान का अनुच्छेद 360 यह व्यवस्था करता है कि यदि राष्ट्रपति को इस बात की सन्तुष्टि हो जाय कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है जिससे भारत या उसके किसी भाग का वित्तीय स्थायित्व संकट में है तो वह आपात की घोषणा कर सकता है। जिस अवधि में ऐसी घोषणा लागू हो संघ की कार्यकारिणी शक्ति किसी राज्य को वित्तीय औचित्य सम्बन्धी ऐसे सिद्धान्तों का पालन करने के लिए निर्देश देने तक जैसा कि निर्देशों से वर्णित हो तथा ऐसे निर्देश देने तक जिन्हें राष्ट्रपति देना उचित समझे लागू होगी।

आपात की घोषणा के परिणाम केन्द्रीय तथा राज्य सम्बन्ध पर

आपात उद्घोषणा के निम्नलिखित परिणाम होते हैं—

(1) संघ की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार—अनुच्छेद 353 के अनुसार जब आपात की उद्घोषणा प्रवर्तन में हो तो संघ की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार किसी राज्य को इस विषय में निर्देश देने तक होगा कि राज्य अपनी कार्यपालिका शक्ति का किस रीति से प्रयोग करे। इस प्रकार के निर्देश उस राज्य, जिसमें आपात उद्घोषणा लागू हो, के अतिरिक्त अन्य किसी राज्य को भी दिए जा सकते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि राज्य सरकार निलम्बित तो नहीं की जाती फिर भी संघ सरकार के पूर्ण नियन्त्रण में रहती है।

(2) संसद की विधायी शक्ति का विस्तार—अनुच्छेद 250 से यह उपबन्धित है कि जिस समय आपात की उद्घोषणा प्रवर्तन में हो, संसद राज्य सूची के भी किसी विषय के बारे में कानून बना सकती है। राज्य विधानमण्डल की

विधायी शक्ति निलम्बित नहीं की जाते, परन्तु यदि राज्य विधान-मण्डल की बनाई गई विधि के प्रतिकूल हो तो राज्य सूची का विषय होते हुए भी संसद की विधि मान्य होगी राज्य विधानमण्डल की नहीं।

(3) संघ और राज्यों के बीच राजस्वों के वितरण पर प्रभाव— अनुच्छेद 354 खण्ड (1) के अनुसार जिस आपात की उद्घोषणा का प्रवर्तन में हो, राष्ट्रपति आदेश द्वारा यह निर्देश दे सकता है कि अनुच्छेद 268 से 279 तक के सब या कोई उपबन्ध ऐसी किसी कालावधि में, जो उक्त आदेश में उल्लिखित हों और जो किसी हालत में उस वित्तीय वर्ष से आगे विस्तृत नहीं होगी जिसमें उद्घोषणा का प्रवर्तन समाप्त हो जाय, ऐसे अपवादों या परिवर्तनों के साथ प्रभावी होगी वह उचित समझे।

वित्तीय आपात की उद्घोषणा के होने पर धन-विधेयकों या अन्य विधेयकों, जिन पर अनुच्छेद 207 के प्रावधान लागू हैं जो राज्य के विधानमण्डलों द्वारा पारित करने के पश्चात् राष्ट्रपति के विचारार्थ रक्षित करने के लिए प्रावधान भी हो सकेंगे।

आपात-घोषणा के परिणाम मौलिक अधिकारों पर प्रभाव—जब तक अनुच्छेद 352 के अधीन उद्घोषणा आपातस्थिति लागू रहती है तब तक अनुच्छेद 19 की किसी बात से राज्य की विधि बनाने अथवा कार्यपालिका की कार्यवाही करने की शक्ति प्रतिबन्धित नहीं होगी। इस प्रकार आपात उद्घोषणा के प्रवर्तन काल में अनुच्छेद 19 के प्रावधान अपने आप निलम्बित हो जाते हैं इसके लिए अलग से किसी आदेश की आवश्यकता नहीं होती। आपातकाल के दौरान राज्य द्वारा बनाये गये कानूनों को इस आधार पर न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकती है कि वे मूल अधिकारों के उल्लंघन में हैं। पर अनुच्छेद 19 में प्रदत्त अधिकार निलम्बित हो जाते हैं, समाप्त नहीं। जब आपातकालीन स्थिति समाप्त हो जाती है तो मूल अधिकार पुनर्जीवित हो उठते हैं।

बेनेट कोलमैन बनाम भारत संघ AIR 1973 SC 106 के वाद में उच्चतम न्यायालय ने यह अवधारित किया कि आपात उद्घोषणा के प्रवर्तन काल में भी अनुच्छेद 19 के निलम्बन का यह अर्थ नहीं है कार्यपालिका की किसी कार्यवाही को अनुच्छेद 19 के उल्लंघन के आधार पर यह चुनौती नहीं दी जा सकती। उच्चतम न्यायालय ने कहा कि निम्नलिखित तीन परिस्थितियों में आपात की उद्घोषणा के लागू को चुनौती दी जा सकती है—

1. जब कार्यपालिका की कार्यवाही किसी अधिनियम द्वारा प्राधिकृत न हो।
2. यदि कार्यपालिका की कार्यवाही किसी ऐसे अधिनियम के अन्तर्गत की गई हो जो आपात उद्घोषणा से पहले पारित किया गया है और उस समय ही अनुच्छेद 19 का उल्लंघन करता हो।
3. जब कार्यपालिका की कार्यवाही किसी पिछली कार्यवाही को आगे प्रवर्तित रखने के लिए या आगे बढ़ाने के लिए जो अनुच्छेद 19 के उल्लंघन में प्रारम्भ की गई थी।

संविधान (44वें संशोधन) अधिनियम 1978 ने इस सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन किया है जो आंतरिक सशस्त्र विद्रोह की स्थिति में भी अनुच्छेद 19 अपने आप निलम्बित नहीं होगा।

जब आपातकालीन स्थिति लागू हो तो राष्ट्रपति यह घोषणा कर सकता है कि संविधान के भाग 3 द्वारा दिये गये अधिकारों में से ऐसे को लागू करने के लिए जैसा कि आदेश में वर्णित हो किसी न्यायालय में प्रवर्तन का अधिकार तथा इस प्रकार वर्णित अधिकारों के लिए किसी न्यायालय में लंबित सभी कार्यवाहियाँ उस अवधि के लिए निलम्बित रहेगा जिस अवधि का आदेश में उल्लेख हो। इस प्रकार का आदेश समस्त भारत पर अथवा उसके किसी भाग पर लागू हो सकेगा।

संविधान (44वें संशोधन) अधिनियम, 1978 के पश्चात् अब राष्ट्रपति आपातकाल में अनुच्छेद 20 और 21 के मूल अधिकारों के प्रवर्तन निलम्बित नहीं कर सकते। इस संविधान संशोधन द्वारा यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि अनु. 358 के अधीन केवल उन्हीं विधियों को न्यायालय में चुनौती दिये जाने पर संरक्षण मिलेगा जो आपात उद्घोषणा से सम्बन्धित है। इन संशोधनों के पहले अन्य विधियों की मान्यता को न्यायालयों में चुनौती नहीं दी जा सकती।

संविधान का 44वाँ संशोधन आपातकाल में नागरिकों के मौलिक अधिकारों के हेतु वरदान सिद्ध हुआ है। आपातकाल का लाभ उठाकर नागरिकों के अधिकारों को मनमाने ढंग से कार्यपालिका द्वारा समाप्त किये जाने की प्रवृत्ति इसमें कम होगी।

प्रश्न 17. “मूलभूत ढाँचे का सिद्धान्त एक र्यायिक अन्वेषण है। इसका उल्लेख संविधान में नहीं किया गया है।” आलोचना कीजिए। निर्णीत वादों की सहायता से मूलभूत ढाँचे के सिद्धान्त का वर्णन कीजिए।

उत्तर—आधारभूत ढाँचे का सिद्धान्त— केशवानन्द भारती के मामले में बहुमत ने यह निर्णय दिया कि संविधान की शक्ति के प्रयोग द्वारा संविधान के ‘आधारभूत ढाँचे’ को नष्ट नहीं किया जा सकता है। प्रश्न यह है कि आधारभूत ढाँचे के आवश्यक तत्व क्या हैं? बहुमत ने कुछ आधारभूत तत्वों का उल्लेख किया किन्तु यह भी स्पष्ट किया कि वे केवल दृष्टान्त-स्वरूप हैं और प्रत्येक मामले के तथ्यों पर इसका निर्धारण किया जायेगा कि संविधान का आधारभूत ढाँचा क्या है। मुख्य न्यायमूर्ति श्री सीकरी के अनुसार, निम्नलिखित संविधान के आधारभूत ढाँचे के उदाहरण हैं, जो संविधान की प्रस्तावना और उसकी सम्पूर्ण योजना में सरलता से प्रकट हो जाते हैं—

(1) संविधान की सर्वोपरिता, (2) सरकार का गणतन्त्रात्मक और प्रजातन्त्रात्मक रूप, (3) संविधान का धर्म—निरपेक्ष स्वरूप, (4) विधानमण्डल, कार्यपालिका और न्यायपालिका के बीच शक्तियों का पृथक्करण, (5) संविधान की परिसंघात्मक प्रकृति।

न्यायमूर्ति श्री शेलट और ग्रोवर के अनुसार निम्नलिखित आधारभूत ढाँचे के उदाहरण हैं—(1) संविधान की सर्वोपरिता, (2) सरकार का गणतन्त्रात्मक और लोकतन्त्रात्मक स्वरूप और देश की सम्प्रभुता, (3) संविधान का धर्मनिरपेक्ष और संघात्मक स्वरूप, (4) विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका में शक्तियों का विभाजन, (5) व्यक्ति की गरिमा जो भाग 3 में दी गई है, विभिन्न स्वाधीनता और मूल अधिकारों द्वारा सुनिश्चित है और भाग (4) में निहित कल्याणकारी राज्य की स्थापना का निदेश, (6) देश की एकता और अखण्डता। न्यायमूर्ति हेगडे और मुकर्जी ने (1) भारत की सम्प्रभुता, (2) देश की लोकतन्त्रात्मक प्रणाली, (3) देश की एकता, (4) वैयक्तिक स्वाधीनताएँ, (5) कल्याणकारी राज्य की स्थापना के आधारभूत ढाँचा बताया है।

न्यायमूर्ति श्री खन्ना के उक्त प्रश्न पर बहुमत का समर्थन किया, अपना निर्णय अलग दिया। उन्होंने कहा कि अनु. 368 के अन्तर्गत संशोधन की शक्ति में संविधान के पूरा-पूरा निराकरण करने की और उनके स्थान पर एक बिल्कुल नया संविधान रख देने की शक्ति शामिल नहीं है। संविधान के संशोधन का अर्थ संविधान का निराकरण नहीं वरन् उसमें आवश्यक परिवर्तन मात्र करना है। निःसन्देह ही इसका तात्पर्य पुराने संविधान के बुनियादी ढाँचे उसकी रूपरेखा को बनाये रखना है। पुराने संविधान के कुछ उपबन्धों को बनाये रखना हो, जब कि संविधान का बुनियादी ढाँचा तथा उसकी रूपरेखा नष्ट कर दी गई हो, पुराने संविधान को बनाये रखना नहीं माना जायेगा। संविधान का संशोधन पदावली का क्षेत्र या विस्तार चाहे जितना क्यों न हो, जिसके अन्तर्गत संविधान के बुनियादी ढाँचे तथा उसकी रूपरेखा को न तो विनष्ट किया जा सकता है और उन उसका निराकरण ही किया जा सकता है। राज्य का धर्म—निरपेक्ष स्वरूप, जिनके अनुसार राज्य किसी नागरिक के विरुद्ध केवल धर्म के आधार पर कोई विभेद नहीं करेगा, समाप्त नहीं किया जा सकता है। संविधान के संशोधन से सम्बन्धित उपबन्ध को न तो संविधान के ढाँचे को ध्वस्त करने का बहाना बनाया जा सकता है और न अनु. 368 का ऐसा अर्थान्वयन किया जा सकता है जिससे कि उसे संविधान के गले की फाँसी बना दिया जाय या उसमें ऐसी मंजूरी का उपबन्ध किया जाय जिसे विधिपूर्ण मृत्यु (Hara Kiri) का नाम दिया जा सके। ऐसे विध्वंस या विनाश को अनु. 368 द्वारा परिकल्पित संशोधन नहीं किया जा सकता।

केशवानन्द भारती के मामले में प्रतिपादित 'आधारभूत ढाँचा' के सिद्धान्त को अनेक विनिश्चयों में लागू किया गया है।

इन्दिरा गाँधी बनाम राजनारायण AIR 1975 SC 2299 के मामले में सर्वप्रथम उच्चतम न्यायालय ने 'आधारभूत ढाँचे' के सिद्धान्त के आधार पर एक सांविधानिक संशोधन को अविधिमान्य घोषित किया। इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने अपीलार्थी के चुनाव को भ्रष्ट आचरण के आधार पर शून्य घोषित कर दिया और उन्हें 6 वर्ष के लिए चुनाव अभ्यर्थी होने के लिए अनर्ह कर दिया था। संसद् ने 39वें संविधान संशोधन, 1975 द्वारा संविधान में एक नयी धारा 329 (क) जोड़कर उच्च न्यायालय के निर्णय को समाप्त कर दिया और उसके चुनाव वैध घोषित कर दिया। संशोधन का खण्ड (4) यह उपबन्धित करता था कि अपीलार्थी का चुनाव वैध था, वैध है और वैध रहेगा। यद्यपि उच्चतम न्यायालय ने अपीलार्थी के चुनाव को वैध घोषित किया, किन्तु 39वें संशोधन अधिनियम के खण्ड (4) को इस आधार पर अविधिमान्य घोषित कर दिया कि वह संविधान के आधारभूत ढाँचे को नष्ट करता है। न्यायमूर्ति श्री खन्ना ने कहा कि 'लोकतन्त्र' संविधान का आधारभूत ढाँचा है और प्रजातन्त्र की सफलता के लिए चुनाव का स्वतन्त्र और निष्पक्ष होना अनिवार्य है। मुख्य न्यायमूर्ति श्री चन्द्रचूड़ ने कहा कि अनु. 14 में निहित 'विधि-शासन' संविधान का आधारभूत ढाँचा है और संसोधन का खण्ड (4) उसे नष्ट करता है अतएव अवैध है। इस प्रकार प्रस्तुत मामले में निम्नलिखित बातों को संविधान के 'आधारभूत ढाँचे' का आवश्यक तत्व माना गया है—

1. विधि शासन
2. न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति,
3. लोकतन्त्र जो स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष चुनाव पर आधारित है।

न्यायाधीशों के स्थानान्तरण के मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया है कि अनु. 32 के अधीन उच्चतम न्यायालय की अधिकारिता संविधान का आधारभूत ढाँचा है।

मिनर्वा मिल AIR 1988 SC 1789 के मामले में उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि निम्नलिखित के 'आधारभूत तत्व' हैं

1. संसद् की संविधान संशोधन की सीमित शक्ति,
2. कुछ अधिकारों और राज्य के नीति-निदेशक तत्वों में सामंजस्य,
3. कुछ मामलों में मूल अधिकार,
4. कुछ मामलों में न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति।

न्यायपालिका की स्वतन्त्रता आधारभूत ढाँचे का भाग है।

'आधारभूत ढाँचा'— वास्तव में संविधान के प्रावधानों में ही निष्कर्षित आधारिक (foundational) सिद्धान्तों का समूह है। यह न्यायपालिका द्वारा अपनी ओर से ही निकाले गये काल्पनिक सिद्धान्त नहीं है।

42वाँ संविधान संशोधन और अनुच्छेद 368—इस संशोधन अधिनियम द्वारा अनुच्छेद 368 में दो नये खण्ड (4) और (5) जोड़े गये थे। खण्ड (4) यह उपबन्धित करता था कि अनुच्छेद 368 के अधीन किये गये संविधान के संशोधन को (जिसमें भाग 3 शामिल है) चाहे वे 42वें संशोधन के पूर्व या पश्चात् किए गये हों, किसी भी न्यायालय में इस आधार पर चुनौती नहीं दी जायेगी इस अनुच्छेद द्वारा विहित प्रक्रिया के अनुसरण में नहीं किया गया था। संक्षेप में,

खण्ड (4) यह स्पष्ट कर देता था कि अनुच्छेद 368 के अधीन किसी भी सांविधिक संशोधन की विधिमान्यता को किसी भी न्यायालय में किसी भी आधार पर (चाहे संविधान का मूल ढाँचा हो या प्रक्रिया हो) चुनौती नहीं दी जा सकती थी। खण्ड (5) सन्देह के निवारण के लिए यह घोषित करता था कि इस अनुच्छेद के अन्तर्गत संविधान के उपबन्धों का संशोधन जोड़कर, परिवर्तन या निरसन (repeal) करने के लिए संसद की संविधायी शक्ति (Constituent power) पर कोई भी परिसीमा न होगी।

42वाँ संविधान संशोधन उच्चतम न्यायालय द्वारा केशवानन्द भारती के मामले में दिये गये निर्णय से उत्पन्न कठिनाई को दूर करने के लिए पारित किया गया था जिसमें यह अभिनिर्धारित किया गया था कि संसद द्वारा संविधान के संशोधन की शक्ति का प्रयोग 'संविधान के आधारभूत ढाँचे' में परिवर्तन करने के लिए नहीं किया जा सकता है। संविधान संशोधन समिति के अध्यक्ष श्री स्वर्ण सिंह के अनुसार इस संशोधन द्वारा यह स्पष्ट कर दिया गया था कि संसद की संशोधन-शक्ति सर्वोच्च है और उस पर किसी भी प्रकार का (अभिव्यक्त या विवक्षित) परिसीमन या निर्बन्धन नहीं है। श्री स्वर्ण सिंह ने दावा किया कि संसद सर्वोच्च है, न्यायपालिका नहीं क्योंकि वह जनता की इच्छा का प्रतिनिधित्व करती है। न्यायालय द्वारा प्रतिपादित आधारभूत ढाँचे का सिद्धान्त अस्पष्ट और कठिनाई उत्पन्न करने वाला सिद्धान्त है।

खण्ड (4) स्पष्ट रूप से संविधान संशोधनों के न्यायिक पुनर्विलोकन (Judicial review) को वर्जित करता है। किन्तु जब तक केशवानन्द भारती का विनिश्चय उच्चतम न्यायालय द्वारा उलट नहीं दिया जाता है तब तक न्यायालय संशोधनों की विधिमान्यता पर इस आधार पर विचार कर सकता है कि क्या इससे संविधान के आधारभूत ढाँचे पर कोई आघात पहुँचाता है। यद्यपि खण्ड (1) के अनुसार, प्रक्रिया का पालन करना आवश्यक है किन्तु नये खण्ड (4) के अनुसार, यह आवश्यक नहीं है। इन खण्डों में विरोध की स्थिति में क्या होगा। क्या प्रक्रिया के पालन न करने पर इसे न्यायालय में चुनौती दी जा सकेगी। मेरे विचार में इसका उत्तर सकारात्मक है।

मिनर्वा मिल बनाम भारत संघ AIR 1980 SC 1789 के निर्णय में उच्चतम न्यायालय की पाँच न्यायाधीशों की पूर्णपीठ (मुख्य न्यायाधिपति श्री चन्द्रचूड़, न्यायाधिपति श्री गुप्त, श्री उंटवालिआ, श्री कैलाशम और श्री भगवती) ने एकमत से यह अभिनिर्धारित किया है कि अनु. 368 में 42वें संशोधन अधिनियम द्वारा जोड़े गये खण्ड (4) और (5), जिसके द्वारा संशोधन-शक्ति को असीमित बना दिया गया था, वे असंवैधानिक हैं, क्योंकि वे संसद को असीमित संशोधन-शक्ति प्रदान करते हैं और इस प्रकार संविधान के 'आधारभूत ढाँचे' को नष्ट करते हैं। न्यायालय ने यह स्पष्ट कर दिया है कि भारत में संविधान सर्वोच्च है न कि संसद। संसद अपनी सीमित संशोधन की शक्ति को बढ़ा नहीं सकती है। संविधान संशोधन की 'सीमित शक्ति' और 'न्यायिक पुनर्विलोकन' संविधान के 'आधारभूत ढाँचे' के आवश्यक तत्व हैं।

वामन राव बनाम भारत संघ AIR 1981 SC 271 के मामले में उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि अप्रैल 24, 1993 (जिस दिन केशवानन्द भारती के मामले में न्यायालय का निर्णय हुआ था) तक के सभी सांविधानिक संशोधन जिसमें वे सभी शामिल हैं जिनके द्वारा समय-समय पर नवीं अनुसूची में संशोधन किया गया था विधिमान्य तथा संवैधानिक हैं। किन्तु इस तारीख के पश्चात् नवीं अनुसूची में किए गए सभी सांविधानिक संशोधनों की विधिमान्यता को इस आधार पर चुनौती दी जा सकती है कि वे संसद की संविधायी शक्ति के बाहर हैं और संविधान के आधारभूत ढाँचे को नष्ट करते हैं।

“न्यायिक पुनर्विलोकन” संविधान का आधारभूत ढाँचा है— इसे संविधान संशोधन द्वारा भी अपवर्जित नहीं किया जा सकता।

एम. पी. सम्पत कुमार बनाम भारत संघ AIR 1987 SC 386 के मामले में अनु. 232क और उसके तहत बनाए गए प्रशासनिक अधिकरण अधिनियम, 1985 के कतिपय उपबन्धों की विधिमान्यता को इस आधार पर चुनौती दी गई थी कि उनके द्वारा प्रशासनिक अभिकरणों पर से अनु. 226 के अधीन उच्च न्यायालयों की अधिकारिता को समाप्त करके न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति को नष्ट किया गया था जो संविधान का आधारभूत ढाँचा है। उच्चतम न्यायालय ने अनु. 322 और प्रशासनिक अधिकरण अधिनियम को विधिमान्य घोषित किया क्योंकि उसके द्वारा बताए गए सुझावों को अधिनियम में शामिल कर लिया गया था और उसकी कमी दूर कर दी गई थी। उच्चतम न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि यद्यपि अधिनियम द्वारा अनु. 226 और 227 के अधीन उच्च न्यायालयों की अधिकारिता सेवा के मामलों में समाप्त कर दी गई है किन्तु इसके द्वारा अनु. 32 और अनु. 136 के अधीन उक्त मामलों में न्यायिक पुनर्विलोकन को समाप्त नहीं किया गया है अतः अधिनियम विधिमान्य है। 42वाँ संविधान संशोधन संविधान के आधारभूत ढाँचे को नष्ट नहीं करता है क्योंकि इसने उच्च न्यायालयों से पुनर्विलोकन की शक्ति लेकर वैकल्पिक संस्था में निहित कर दिया है जो उच्च न्यायालयों से कम प्रभावी नहीं है।

एम. चन्द्र कुमार बनाम भारत संघ AIR 1988 SC 1125 में उच्चतम न्यायालय की 7 सदस्यीय संविधान पीठ ने सर्वसम्मति से यह अभिनिर्धारित किया है कि अनु. 323 का खण्ड 2(ग) और अनु. 223 (ख) का खण्ड 3 (ग) जिसके द्वारा अनु. 32 के अधीन उच्चतम न्यायालय तथा अनु. 226 और 227 के अधीन उच्च न्यायालयों की अधिकारिता को प्रशासनिक अभिकरणों से समाप्त कर दिया गया था, असंवैधानिक एवं अवैध है क्योंकि वे न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति को नष्ट करते हैं जो संविधान का 'आधारभूत ढाँचा' है। **केशवानन्द भारती** के मामले में दिए अपने निर्णय का अनुसरण करते हुए न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि विधायी कार्य (विधानमण्डल की विधि बनाने की शक्ति) पर अनु. 226 के अधीन उच्च न्यायालयों एवं अनु. 32 के अधीन उच्चतम न्यायालय में निहित पुनर्विलोकन की शक्ति

संविधान का आधारभूत ढाँचा है जिसे संविधान संशोधन द्वारा भी अपवर्जित नहीं किया जा सकता है। न्यायालय ने प्रशासनिक अभिकरण अधिनियम, 1985 की धारा 28 को भी असंवैधानिक घोषित कर दिया जिसके द्वारा उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों की अधिकारिता प्रशासनिक अभिकरण पर समाप्त कर दी गई थी।

इस निर्णय से अब यह विवाद सर्वदा के लिए समाप्त हो गया कि न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति संविधान का आधारभूत ढाँचा है कि नहीं। संक्षेप में, अब संसद द्वारा भविष्य में पारित कोई भी सांविधानिक संशोधन न्यायालयों को इसकी विधिमान्यता की जाँच करने से रोक नहीं सकता है।

एम. नागराज बनाम भारत संघ AIR 2007 SC 71 के मामले में संविधान के तीन संशोधनों 77वाँ (जिसके द्वारा अनु. 16 में खण्ड (4क) जोड़कर अनुसूचित जाति के लिए प्रोन्नति में आरक्षण चलाने की अनुमति दे दी गई), 85वें संशोधन और खण्ड (4क) की शब्दावली में परिवर्तन करके आरक्षण को भूतलक्षी प्रभाव से चलाने की अनुमति दी गयी और 81वें संशोधन द्वारा प्रोन्नति की 50 प्रतिशत सीमा को इन वर्गों के लिए समाप्त कर दिया गया। पिटीशनरों ने यह तर्क दिया कि उक्त संशोधन के द्वारा संविधान के आधारभूत ढाँचे को नष्ट किया गया है। अतः वे असंवैधानिक हैं। किन्तु उच्चतम न्यायालय की पाँच न्यायाधीशों की पीठ ने यह निर्णय दिया कि उक्त संशोधन संविधान के आधारभूत ढाँचे को किसी प्रकार नष्ट नहीं करते हैं और संवैधानिक हैं। अनु. 16 में (4क) और (4ख) जोड़े गये हैं जो राज्य को सक्षम बनाने वाला उपबन्ध (Enabling provision) है। उक्त संशोधन अधिनियम संविधान के आधारभूत ढाँचे को नष्ट नहीं करते हैं। वे संवैधानिक अपेक्षाओं को समाप्त नहीं करते हैं। जैसे अनु. 355 के अधीन कार्यकुशलता, पद रोस्टर के आधार पर भरा जाना और 50 प्रतिशत की सीमा। संविधान लागू होने के लिए दो कसौटियाँ हैं एक 'सीमा की कसौटी' और दूसरी 'पहचान की (Identity) की कसौटी'। कैचअप नियम और परिणामिक ज्येष्ठता की अनु. 16(1) (4) में आवश्यकता नहीं है। इन नियमों को समाप्त करने से अनु. 14, 15 और 16 के अधीन समता कोड समाप्त नहीं होता है। यदि राज्य संतुष्ट है कि वह वर्ग 'पिछड़ा' है और राज्य की सेवाओं में उसका उचित प्रतिनिधित्व नहीं है तो वह आरक्षण दे सकता है। किन्तु आरक्षण देते समय उसे उपयुक्त अपेक्षाओं अर्थात् 50 प्रतिशत की सीमा, रोस्टर प्रणाली और उन्नत वर्गों (Creamy layer) को निकालकर ही पूरा करना होगा। आरक्षण निरस्त नहीं चलाया जा सकता है, उसकी भी एक सीमा है जब उसे समाप्त करना चाहिए।

आई. आर. सेलो और तमिलनाडु राज्य AIR 2007 SC 86 में संविधान की नी अनुसूची में विभिन्न अधिनियमों की विधिमान्यता को इस आधार पर चुनौती दी गयी थी कि उन्होंने न्यायिक पुनर्विलोकन से उन्हें बाहर करके संविधान के आधारभूत ढाँचे को नष्ट किया है। 24 अप्रैल, 1973 को उच्चतम न्यायालय केशवानन्द भारती के मामले में 'आधारभूत ढाँचे' का सिद्धान्त प्रतिपादित किया था। न्यायालय के 9 न्यायाधीशों की संविधान पीठ ने एकमत से यह अभिनिर्धारित किया था कि 9वीं अनुसूची में 24 अप्रैल, 1973 के पश्चात् सम्मिलित किए गए अधिनियमों की विधिमान्यता को चुनौती दी जायेगी। यदि वे नागरिकों के मूल अधिकारों का हनन करते हैं और संविधान के आधारभूत ढाँचे को नष्ट करते हैं। नी अनुसूची को संविधान के प्रथम संशोधन अधिनियम, 1951 के द्वारा संविधान में जोड़ा गया था। इसका मुख्य उद्देश्य केन्द्र और राज्यों द्वारा पारित भूमि सुधार कानूनों को न्यायालय में चुनौती दिए जाने से रोकना था। कालान्तर में इसमें ऐसे अधिनियमों को जोड़ा गया जिनका सम्बन्ध भूमि सुधारों से न होकर नागरिकों के मूल अधिकारों को छीनना था। तमिलनाडु के 69 प्रतिशत के आरक्षण का अधिनियम भी इसी में डालकर उसे न्यायिक पुनर्विलोकन से बाहर कर दिया गया था।

इस प्रकार अभी तक उच्चतम न्यायालय ने निम्नलिखित आधारभूत ढाँचे को मान्यता दी है

1. विधि शासन
2. समता का अधिकार एवं शक्ति के पृथक्करण का सिद्धान्त
3. संविधान की सर्वोच्चता
4. संघवाद
5. पंथनिरपेक्षता
6. देश का प्रभुत्वसम्पन्न, लोकतान्त्रिक गणतान्त्रिक ढाँचा
7. संसदीय प्रणाली की सरकार
8. न्यायपालिका की स्वतन्त्रता
9. उच्चतम न्यायालय की अनु. 32, 136, 141 और 142 के अधीन शक्ति
10. कतिपय मामलों में मूल अधिकार
11. संसद की संविधान संशोधन की सीमित शक्ति
12. न्यायिक पुनर्विलोकन ।

प्रश्न 18. व्यापार वाणिज्य एवं समागम की स्वतन्त्रता पर टिप्पणी लिखिए। अथवा अन्तर्राज्यीय व्यापार एवं वाणिज्य से आप क्या समझते हैं? भारत में अन्तर्राज्यीय व्यापार एवं वाणिज्य के संवैधानिक प्रावधानों का उल्लेख कीजिए।

उत्तर— प्रत्येक परिसंघात्मक संविधान में सांविधानिक उपबन्धों के माध्यम से राष्ट्र के आर्थिक ढाँचे के सृजन और संरक्षण को और आर्थिक क्रिया-कलापों में स्थानीय अवरोध को हटाकर, अन्तर्राज्यीय व्यापार एवं वाणिज्य के मार्ग में उपस्थित अवरोधों को दूर करने और इस प्रकार राज्य की एक स्वतन्त्र आर्थिक इकाई के रूप में बनाने हेतु, जिससे विभिन्न इकाइयों के आर्थिक स्रोत का सार्वजनिक हित के लिए उपभोग किया जा सके, प्रयास किया जाता है।

भारतीय संविधान का अनुच्छेद 301 घोषित करता है कि भारत राज्यक्षेत्र में सर्वत्र व्यापार, वाणिज्य एवं समागम अबाध (free) होगा। भारतीय संविधान का अनुच्छेद 301 आस्ट्रेलिया के संविधान की धारा 92 के आदर्शों पर निर्भर है जो यह उपबन्धित करता है कि “व्यापार, वाणिज्य एवं अन्तर्व्यवहार राज्यों के बीच पूर्णतया अबाध होना चाहिए।” किन्तु आस्ट्रेलिया के संविधान की धारा 9 में दी गयी स्वतन्त्रता की तुलना में भारत में यह स्वतन्त्रता अधिक व्यापक है क्योंकि धारा 92 केवल अन्तर्राज्यों के व्यापार के सम्बन्ध में ही उपबन्ध करती है जबकि अनुच्छेद 301 के अन्तर्गत दोनों शामिल हैं; अन्तर्राज्यीय तथा राज्य-सीमाक्षेत्र के अन्तर्गत व्यापार एवं वाणिज्य। इस प्रकार यह संसद तथा राज्य विधानमण्डलों की विधायी शक्ति पर निर्बन्धन लगाता है। आस्ट्रेलिया के संविधान के अधीन प्रयुक्त ‘पूर्ण स्वतन्त्रता’ शब्दावली ने विभिन्न कठिनाइयों को जन्म दिया था। यहाँ इस पदावली का प्रभाव यह था कि व्यापार और वाणिज्य को केन्द्रीय सरकार विनियमित ही नहीं कर सकती थी। इस पर लगाये गये निर्बन्धन युक्तियुक्त हैं या नहीं, इसका निर्णय करने का अधिकार न्यायालयों को था। किन्तु भारतीय संविधान के अनु. 301 में पूर्ण (Absolute) शब्दावली को न रखकर इस कठिनाई को दूर कर दिया गया है और यह स्पष्ट है कि राज्य को इस अधिकार को विनियमित करने की शक्ति प्राप्त है।

भारत में विधानका अनुद301 उनका अनु301 में प्राप्त पर लगाये जा सकते हैं। निधन 302 अनुच्छेद 305 तक में लिखित है। यह आवश्यक है क्योंकि कोई भी आपक (Absolute) है। अब आस्ट्रेलिया में भी यह स्थिति हैक किया जा सकता है।

अनुच्छेद 301 केवल अतों का ही नहीं वान् राज्य के अन्तर्गत होने वाले वाणिज्य एवं समागम को भी लागू होता है। इस प्रकार यदि राज्य की सीमा पर अथात पूर्व या उत्तरवर्ती किसी स्थिति पर नियन्त्रण लगाया जाता है तो अनुच्छेद 301 के उपा उत्तरचन होगा। अनु. 301 द्वारा प्रदत्तका अर्थ सभी निवसे स्वतन्त्र है, उन निर्बन्धों को छोड़कर जो इस भाग के अनु. 302 से 305 तक के अनुच्छेदों में उल्लिखित है। इस अनुच्छेद में प्रदत्त स्वतन्त्र पर केवल अनु. 302 से 305 तक के अनुयो जीन्सखिर निर्बन्धों को लगाया जा सकता है। इस अधिकार को कार्यकारिणी के आदेश में वापस नहीं लिया जा सकता है। ध्यान रहे कि अनु. 301उन निर्बन्धनों के विरुद्ध संर प्रदान करता है जिनसे व्यापार के मुक्त प्रवाह पर प्रत्यक्षतः और तात्काकालिक अवरोध उत्पन हो हैं कि आकस्मिक अथवा अप्रत्यक्ष निर्बन्धनों से।

अतियाबारी चाय कम्पनी बनाम असम राज्य AIR 1961 SC 232 के मामले में असम कराधान (सड़क अथवा अन्तर्जलप्रवाह द्वारा ले जाने वाले माल पर) अधिनियम, 1954 को इस आधार पर अवैध किया गया था कि वह संविधान के अनुच्छेद 301 का उल्लंघन करता है। पिटिशनर चाय के उत्पादन तथा असम राज्य से होकर कलकत्ता को उसके निर्यात का व्यापार करता था। उक्त अधिनियम के अन्तर्गत असम राज्य से होकर भेजी जाने काली चाय पर कर लगाया गया था। उत्तम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि प्रश्नगत अधिनियम निस्सन्देह रूप से और प्रत्यक्ष माल के परिवहन पर कर लगाने का उपबन्ध करता है। अतएव अनुच्छेद 301 को परिधि के भीतर आता है और यह अधिधिमान है। न्यायालय ने कहा कि काप्रतिकर सकते हैं यदि वे प्रत्यक्षतः एवं सारतः व्यापार को निर्बन्धित करते हैं। प्रस्तुत मामले में लगाया गया कर निस्सन्देह रूप से व्यापार के मुक्त प्रवाह पर प्रतिकूल प्रभाव डालता है।

ऐसे कर तभी लगाये जा सकते हैं जब अनुच्छेद 304 (ख) को शर्तें पूरी हो जाती हैं, अर्थात् राज्य ऐसे अधिनियम बनाने के पूर्व राष्ट्रपति को पूर्वस्वीकृति प्राप्त कर ले। यह बात को सुनिश्चित करने के लिए एक है कि विधायन द्वारा देश की आर्थिक एकता अस्त-व्यस्त न हो जाये। इस कद में अनुच्छेद 304 (ख) को शर्तें पूरी नहीं की गयी थीं। न्यायालय ने कहा कि अनुच्छेद 301 द्वारा प्रदत्ता एक भ्रममात्र हो रह जायेगी यदि माल का यातायात या परिवहन अनुच्छेद 301 से 304 तक शों को पूरा किये बिना कर लगाकर अवरुद्ध कर दिया जाता है।

ओटोमोबाइल ट्रान्सपोर्ट लिमिटेड बनाम राजस्थान राज्य AIR 1952 SC 1406 में राज्य सरकार ने राजस्थान राज्य-सीमा में रखी एवं प्रयुक्त की जाने वाली मोटर गाड़ियों पर टैक्स लगाया। न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि कर वैध है, क्योंकि वे विनियमात्मक उपाय थे, जो कि व्यापार, वाणिज्य एवं समागम या अन्तर्व्यवहार को आगे बढ़ाने के लिए प्रतिकारात्मक कर का उपबन्ध करते हैं।

मैसर्स वी. आर. इण्टरप्राइजेज बनाम् उत्तर प्रदेश राज्य AIR 1999 SC 1867 के मामले में पिटीशनरों ने उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा पारित लाटरी (विनियमन) अधिनियम की विधिमन्यमा को इस आधार पर चुनौती दिया कि उससे उनके अनु. 301, 302 और 303 में प्रदत्त अधिकार का उल्लंघन होता है। उत्तर प्रदेश सरकार ने उक्त अधिनियम की धारा 5 के अन्तर्गत एक आदेश पारित करके उत्तर प्रदेश में अन्य राज्यों की लाटरी की बिक्री पर रोक लगा दिया। उनका तर्क था कि लाटरी एक व्यवसाय है चूँकि इसे राज्य चलाता है अतः उसे रोक नहीं जा सकता है। उच्चतम न्यायालय के उनके तर्क को मानने से इन्कार कर दिया और यह अभिनिर्धारित किया कि लाटरी में संयोग का तत्व होता है अतः वह अनु. 301 के अन्तर्गत व्यापार और वाणिज्य नहीं हो सकता है। संयोग के तत्व विद्यमान होने के कारण लाटरी एक प्रकार का जुआ है। राज्य द्वारा लाटरी के टिकटों की बिक्री प्राधिकृत होने मात्र से वह श्यापार और वाणिज्य की श्रेणी में नहीं आ सकता है जैसा कि अनु. 301 के अन्तर्गत सामान्य रूप से व्यापार और वाणिज्य का समझा जाता है। अतः उत्तर प्रदेश राज्य द्वारा पारित अधिनियम अनु. 301 और 302 का उल्लंघन नहीं करता है और संवैधानिक है।

उपर्युक्त विनिश्चयों में दिये गये निर्णयों के आधार पर अनुच्छेद 301 के सम्बन्ध में निम्नलिखित सिद्धान्त सामने आते हैं—

- (1) अनुच्छेद 301 अन्तर्राज्यों तथा राज्यों के आन्तरिक भागों में व्यापार, वाणिज्य एवं अन्तर्व्यवहारों की स्वतन्त्रता को सुनिश्चित करता है।
- (2) व्यापार, वाणिज्य और समागम शब्दावली बड़ी विस्तृत अर्थों वाली है और इसके अन्तर्गत व्यक्तियों और वस्तुओं दोनों का आवागमन सम्मिलित हैं।
- (3) यह स्वतन्त्रता केवल विधायिका द्वारा प्रदत्त शक्ति के अधीन निर्मित ऐसी विधियों के विरुद्ध ही संरक्षण नहीं है जो व्यापार और वाणिज्य या उत्पादन-आपूर्ति और मालों के वितरण से सम्बन्धित वरन् कर अधिरोपित करने वाली सभी प्रकार की विधियों के विरुद्ध संरक्षण है।
- (4) केवल वही विधियाँ जो कि प्रत्यक्ष एवं तात्कालिक प्रभाव से व्यापार अथवा वाणिज्य की स्वतन्त्रता को निर्बन्धित करती हैं, अनु. 301 के क्षेत्र के बाहर मानी जायेंगी।

व्यापार एवं वाणिज्य पर निर्बन्धन— अनु. 301 द्वारा प्रदत्त स्वतन्त्रताओं पर अनु. 302 से 304 के अन्तर्गत निम्नलिखित निर्बन्धन लगाए जा सकते हैं—

(1) लोकहित में व्यापार एवं वाणिज्य को विनियमित बनाने की संसद की शक्ति—अनुच्छेद 302 संसद को एक राज्य और दूसरे राज्य के बीच अथवा भारत राज्य के क्षेत्र के किसी भाग के भीतर व्यापार, वाणिज्य या समागम की स्वतन्त्रता पर निर्बन्धन लगाने के लिए प्राधिकृत करता है, जैसा कि लोकहित में अपेक्षित हो। विधि द्वारा लगाये गये संसद के निर्बन्धन लोकहित में हैं अथवा नहीं, न्यायिक जाँच के विषय होंगे। अतियाबारी के मामले में कहा गया है कि संसद अनुच्छेद 322 के अन्तर्गत लोकहित में लगाये जाने वाले निर्बन्धनों के निर्धारण के लिए पूर्ण शक्ति प्रदान की गयी है। एक मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया है कि भारत रक्षा अधिनियम के नियमों के अन्तर्गत अनाजों के परिवहन पर लगाये गये निर्बन्धन सार्वजनिक हित के अन्तर्गत हैं।

अनुच्छेद 302 के अन्तर्गत दी गयी संसद की शक्ति, अनुच्छेद 303(1) द्वारा परिसीमित कर दी गयी है। अनु. 303(1) उपबन्धित करता है कि अनु. 302 में किसी बात के होते हुए भी सप्तम सूचियों में से किसी भी व्यापार और वाणिज्य सम्बन्धी किसी प्रविष्टि के आधार पर संसद की कोई विधि बनाने की शक्ति होगी जो एक राज्य को दूसरे राज्य से अधिमान देती या दिया जाना प्राधिकृत करती है। इन अनु. के उपखण्ड (2) के अन्तर्गत संसद राज्यों में प्रभेद कर सकती है, यदि विधि द्वारा यह घोषित किया जाता है कि भारत राज्य क्षेत्र के किसी भाग में वस्तुओं की दुर्लभता से उत्पन्न किसी स्थिति से निबटने के प्रयोजन के लिए ऐसा करना आवश्यक है। इस प्रश्न के निर्धारण करने की शक्ति संसद को ही है कि क्या भारत के किसी भाग में वस्तु का दुर्लभता की स्थिति विद्यमान है।

(2) व्यापार एवं वाणिज्य को विनियमित करने की राज्यों की शक्ति—अनुच्छेद 304 (अ) राज्यों को अन्य राज्यों से आयात की गयी वस्तुओं पर कर लगाने की शक्ति देता है जो कि उस राज्य में निर्मित या उत्पादित वैसी ही वस्तुओं पर लगाता हो, इस तरह आयात की गयी वस्तुओं तथा ऐसी निर्मित या उत्पादित वस्तुओं के बीच कोई विभेद नहीं किया जा सकता है।

मद्रास राज्य बनाम भाईलाल भाई AIR 1964 SC 1006 के मामले में मद्रास राज्य ने एक विधि बनाकर आयात की गयी तम्बाकू पर बिक्री कर लगाया, किन्तु स्थानीय क्षेत्र में उत्पादित तम्बाकू को बिक्री-कर से छूट प्रदान की। न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि लगाया गया कर विभेदकारी है अतः अवैध है।

इस अनुच्छेद का उपखण्ड (2) राज्य को लोकहित में, जैसा अपेक्षित हो, व्यापार, वाणिज्य एवं समागम पर युक्तियुक्त निर्बन्धन लगाने की शक्ति प्रदान करता है। लेकिन इस प्रयोजन हेतु लगाया गया कोई विधेयक या संशोधन राज्य विधानमण्डलों में बिना राष्ट्रपति की पूर्वस्वीकृति के लिए प्रस्तावित नहीं किया जायेगा। अन्तर्राज्यीय व्यापार या वाणिज्य को नियमित करने के लिए राज्य द्वारा निर्मित किसी विधि को अनुच्छेद 304 (ब) के अन्तर्गत दी गयी निम्नलिखित शर्तों को पूरा करना राज्य के लिए आवश्यक होगा—

- (1) राष्ट्रपति की पूर्व मंजूरी प्राप्त कर लेनी चाहिए,
- (2) विधि को लोकहित में होना चाहिए तथा
- (3) लगाये गये निर्बन्धन युक्तियुक्त होना चाहिए।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यापार एवं वाणिज्य को विनियमित करने हेतु संसद में पर्याप्त शक्ति निहित है। राज्य की शक्ति संसद की विनियम निर्मित करने वाली शक्तियों के अधीनस्थ होती है। कोई भी राज्य बिना राष्ट्रपति की संस्तुति के विनियम निर्मित करने वाली विधियों को अधिनियमित नहीं कर सकता है। अतियाबारी के मामले में वस्तुओं के परिवहन पर लगाया गया कर अवैध माना गया क्योंकि राष्ट्रपति की मंजूरी के बिना वह पारित किया गया था।

प्रश्न 19. भारतीय संविधान के अनुच्छेद 311 के अन्तर्गत लोकसेवकों को प्राप्त सुरक्षा। अथवा प्रसाद का सिद्धान्त।

उत्तर—प्रसाद का सिद्धान्त (Doctrine of Pleasure) (अनु. 310) — इंग्लैण्ड में यह सामान्य नियम है कि लोकसेवक सम्राट के प्रसादपर्यन्त अपने पद को धारण करते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि उन्हें किसी भी समय बिना कोई कारण दिखाये उनको नौकरी से बर्खास्त किया जा सकता है। यहाँ तक कि सम्राट और सेवक में यदि कोई नियोजन की संविदा भी है तो सम्राट उससे बाध्य नहीं है। दूसरे शब्दों में, यदि कोई लोकसेवक नौकरी से

पदावधि के पहले ही निकाल दिया जाता है तो भी वह सम्राट से बकाया वेतन या किसी प्रकार का दावा नहीं कर सकता है। 'प्रसाद का सिद्धान्त' लोकनीति पर आधारित है।

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 310 में इंग्लैण्ड की सामान्य विधि के नियम को समाविष्ट किया गया है। अनु. 310 यह उपबन्धित करता है कि प्रत्येक व्यक्ति, जो संघ की प्रतिरक्षा, सेवा या असैनिक सेवा या अखिल भारतीय सेवा का सदस्य है, अथवा संघर्ष के अधीन प्रतिरक्षा से सम्बन्धित किसी पद को अथवा किसी असैनिक पद को धारण करता है, राष्ट्रपति के प्रसादपर्यन्त पद धारण करता है। इसी तरह राज्य-सेवकों के सदस्यगण राज्यपाल के प्रसाद-पर्यन्त पद धारण करते हैं। यह एक सामान्य नियम है किन्तु संविधान में अपवाद भी दिये गये हैं, जहाँ 'प्रसाद का सिद्धान्त' नहीं लागू होता है।

'प्रसाद के सिद्धान्त' पर निर्बन्धन — भारत के संविधान में 'प्रसाद का सिद्धान्त' बहुत सीमित रूप से लागू होता है। अनुच्छेद 310 में प्रयुक्त प्रारम्भिक पदावली 'संविधान द्वारा स्पष्टतापूर्वक उपबन्धित अवस्था को छोड़कर' प्रसाद के सिद्धान्त के प्रयोग पर निर्बन्धन लगाती है और उसके प्रयोग की सीमाओं को विहित करती है। अतएव भारत में एक लोकसेवक अपने बकाया वेतन के लिए सरकार के विरुद्ध वाद चला सकता है। **बिहार राज्य बनाम अब्दुल मजीद** के मामले में एक पुलिस सब इन्सपेक्टर कायरता के आधार पर सेवा से पदच्युत कर दिया गया था। बाद में उसे पुनः बहाल कर दिया गया, किन्तु सरकार ने पदच्युति की अवधि के लिए वेतन देना अस्वीकार कर दिया। उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि वह बकाया वेतन पाने का हकदार था, क्योंकि उसने सेवा संविदा के अधीन कार्य किया था।

जिस प्रकार सेवा-शर्तों के अनुसार सरकार को किसी सेवक को अनिवार्य सेवानिवृत्ति करने की शक्ति प्राप्त है उसी प्रकार सेवक को भी अपने पद से स्वेच्छापूर्वक 3 माह की सूचना देकर त्याग-पत्र देने का अधिकार प्राप्त है, चाहे उसे राज्य स्वीकार करे या नहीं।

भारतीय संविधान श्रृंखला के सिद्धान्त पर निम्नलिखित निर्बन्धन लगाता है—

- (1) यह सिद्धान्त अनुच्छेद 311 के अधीन है, अर्थात् इसका प्रयोग अनुच्छेद 311 में विहित प्रक्रिया के अनुसार ही किया जा सकता है। अनुच्छेद 311 के उल्लंघन होने पर श्रृंखला के सिद्धान्त का प्रयोग अवैध हो जायेगा।
- (2) यह निम्न अधिकारियों पर नहीं लागू होता है उच्चतम न्यायालय (अनु. 124) और उच्च न्यायालय (अनु. 218) के न्यायाधीश, भारत का महालेखाकार (अनु. 148 (2)), मुख्य चुनाव आयुक्त (अनु. 324), लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष तथा सदस्य (अनु. 317) के पद राष्ट्रपति या राज्यपाल के प्रसाद-पर्यन्त पर ही निर्भर करते हैं।
- (3) प्रसाद का सिद्धान्त मूल अधिकारों के अधीन है, अर्थात् इसके प्रयोग द्वारा नागरिकों के मूल अधिकारों का अतिक्रमण नहीं होना चाहिए।

लोकसेवकों के सांविधानिक संरक्षण (अनु. 311)— अनु. 311 के अन्तर्गत लोकसेवकों को, अपने पद से मनमाने ढंग से पदच्युत किये जाने के विरुद्ध निम्नलिखित सांविधानिक संरक्षण प्रदान किये गये हैं—

- (1) कोई भी लोकसेवक अपने नियुक्त कर्त्ता से नीचे के किसी प्राधिकारी द्वारा पदच्युत नहीं किया जायेगा या पद से हटाया नहीं जायेगा (अनुच्छेद 311 (1)),
- (2) कोई भी व्यक्ति तब तक पदच्युत या पद से हटाया या पंक्तिच्युत नहीं किया जायेगा जब तक कि उसे अपने विरुद्ध दोषारोपों से अवगत न करा दिया गया हो और उसके सम्बन्ध में सुनवाई का युक्तियुक्त अवसर न दे दिया गया हो।

उपर्युक्त संरक्षण 'सिविल सेवा' (Civil Post) धारण करने वाले व्यक्तियों को ही उपलब्ध है। यह सैनिक सेवकों या प्रतिरक्षा से सम्बन्धित सेवाओं पर कार्य करने वाले व्यक्तियों को नहीं प्राप्त है अतएव उन्हें बिना कोई कारण दिखाये पदच्युत किया जा सकता है। संविधान में सिविल सेवा की कोई परिभाषा नहीं दी गयी है, किन्तु अनुच्छेद 310 और 311 के उपबन्धों के अनुसार ऐसा प्रतीत होता है कि प्रतिरक्षा पदों के अतिरिक्त अन्य पद लोकपद हैं। 'सिविल सेवा' का अर्थ है— प्रशासन के असैनिक पदों पर नियुक्ति राज्य और पद धारण करने वाले व्यक्ति के बीच स्वामी और सेवक का सम्बन्ध तब स्थापित होता है जब निम्नलिखित तत्व मौजूद होते हैं (1) राज्य को उस पद के सेवकों को चुनने तथा नियुक्त करने का अधिकार (2) उसके द्वारा कार्य किये जाने के ढंग पर नियन्त्रण का अधिकार (3) उसके लिए राज्य कोष से पारिश्रमिक या वेतन देने का अधिकार।

(1) नियुक्तकर्ता से निचले प्राधिकारी द्वारा पदच्युति वर्जित— अनुच्छेद 311 (1) के अनुसार कोई भी लोकसेवक अपने नियुक्त करने वाले प्राधिकारी से निचले किसी प्राधिकारी द्वारा न तो पदच्युत किया जा सकता है और न पद से हटाया जा सकता है। इसका अर्थ नहीं कि पदच्युति केवल उसी प्राधिकारी द्वारा की जा सकती है जिसने नियुक्ति की या उससे ज्येष्ठ अधिकारी द्वारा ही हो सकती है। इतना पर्याप्त है कि हटाने वाला प्राधिकारी उसी श्रेणी का हो जिस श्रेणी का नियुक्त करने वाला अधिकारी था। उदाहरण के लिए **महेश बनाम उत्तर प्रदेश के मामले में** प्रार्थी रेलवे के डिविजनल ऑफिसर द्वारा नियुक्त किया गया था और सुपरिन्टेन्डेन्ट पावर के द्वारा पदच्युत कर दिया गया था। उच्चतम न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि उसकी पदच्युति वैध है, क्योंकि दोनों अधिकारी एक श्रेणी के हैं। इसी प्रकार, यदि पदच्युति नियुक्तकर्ता से पद में ज्येष्ठ किसी प्राधिकारी द्वारा की जाती है तो उससे अनु. 311(1) का अतिक्रमण नहीं होगा और पदच्युति विधिमान्य होगी। अनु. 311 यह अपेक्षा नहीं करता कि पदच्युति करना या पद से हटाया जाना नियुक्ति करने वाले अधिकारी द्वारा ही किया जा सकता है।

(2) **सुनवाई का युक्तियुक्त अवसर** — अनुच्छेद 311(2) यह उपबन्ध करता है कि किसी भी एक सिविल सेवक को तब तक 'पदच्युत' (Dismissal) या 'हटाना' (Removal) या 'पंक्ति में अवनत' (Reduction in rank) नहीं किया जा सकता है जब तक उसे अपनी प्रस्तावित कार्यवाही के विरुद्ध लगाये गये आरोपों के विरुद्ध सुनवाई का युक्तियुक्त अवसर न प्रदान किया गया हो। 42वें संशोधन के पूर्व लोकसेवकों को सुनवाई का अवसर दो स्थानों पर देने का उपबन्ध था उसके विरुद्ध जाँच के समय जो 'नैसर्गिक' न्याय के नियमों के अनुसार अपेक्षित है किसी भी व्यक्ति को उसे सुनवाई का अवसर दिये बिना दण्डित नहीं किया जा सकता है और (2) दण्ड देने का समय जबकि जाँच के परिणामस्वरूप उसके विरुद्ध आरोप सिद्ध हो चुका है और उसे पदच्युत, हटाया जाना या पंक्तिच्युत किया जाना—इन तीनों दण्डों में से कोई दण्ड का प्रस्ताव किया जाता है। 42वें संविधान संशोधन, 1976 द्वारा दूसरे स्तर पर सिविल सेवकों को प्राप्त सुनवाई या युक्तियुक्त अवसर के अधिकार को समाप्त कर दिया गया है।

अपने एक महत्वपूर्ण निर्णय मैनेजिंग डायरेक्टर **ई सी आई एल बनाम बी करुणाकर (1993) 4. SC 727** मामले में उच्चतम न्यायालय के 5 न्यायाधीशों की पूर्ण पीठ ने सर्वसम्मति से यह अभिनिर्धारित किया है कि जब जाँच अधिकारी अनुशासनिक अधिकारी नहीं होता है वहाँ अपचारी कर्मचारी (Delinquent employee) को जाँच अधिकारी की रिपोर्ट प्राप्त करने का हक होता है ताकि वह अनुशासनिक अधिकारी के समक्ष अपना बचाव युक्तियुक्त रूप से प्रस्तुत कर सके। उक्त मामले में अनुशासनिक कार्यवाही दो भागों में बँट जाती है, पहल स्तर तब समाप्त होता है जब अनुशासनिक अधिकारी साक्ष्य के जाँच अधिकारी की रिपोर्ट और कर्मचारी के उत्तर प्राप्त होने पर एक निष्कर्ष पर पहुँचता है और दूसरा स्तर तब आरम्भ होता है जब वह निष्कर्षों के आधार पर दण्ड देने का निर्णय लेता है। जाँच अधिकारी का रिपोर्ट देने से इन्कार करना कर्मचारी को अपने को निर्दोष सिद्ध करने के युक्तियुक्त अवसर न देना है और इससे नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्तों की अवहेलना होती है और अनु. 14 और 21 का अतिक्रमण होता है। यदि किसी नियम या स्थायी आदेश द्वारा इस अवसर से कर्मचारी को वंचित किया जाता है तो वह अवैध होगा। इस मामले में विहित नियम सभी प्रतिष्ठान सरकारी, गैर सरकारी, पब्लिक और प्राइवेट क्षेत्र के उपक्रमों पर लागू होगा।

बहुमत ने **भारत संघ बनाम मोहम्मद रमजान (1991) 1 SCC 588** के मामले में दिए निर्णय की पुष्टि की जिसमें यह निर्णय दिया गया था कि 42वें संविधान संशोधन के पश्चात् भी अपचारी कर्मचारों की जाँच अधिकारी की रिपोर्ट पाने का हक होगा। किन्तु न्यायालय ने यह स्पष्ट किया कि यह नियम भविष्यलक्षी अर्थात् आगे से लागू किया जायेगा और 42वें संशोधन के पूर्व की स्थिति को पुनः नहीं लौटाएगा। वह वहाँ भी लागू नहीं होगा जहाँ अनुशासनिक अधिकारी स्वयं जाँच अधिकारी है।

संविधान के 15वें संशोधन अधिनियम, 1963 के द्वारा संविधान के अनु. 311 के खण्ड (2) और (3) के स्थान पर एक नया उपबन्ध रखा गया है। इस संशोधन द्वारा संसद ने उच्चतम न्यायालय द्वारा 'युक्तियुक्त अवसर' शब्दावली के निर्वचन को स्वीकार किया है, किन्तु सुनवाई के द्वितीय अवसर के क्षेत्र को सीमित कर दिया है। सुनवाई का दूसरा अवसर केवल प उन्हीं साक्ष्यों के आधारों पर मिलेगा जो जाँच के दौरान दिये गये थे। किन्तु निम्नलिखित परिस्थितियों में उक्त अधिकार सिविल सेवकों को उपलब्ध नहीं होंगे—

अनु. 311 (1) का अपवाद—अनुच्छेद 311 के खण्ड (2) के अनुसार निम्नलिखित परिस्थितियों में किसी सरकारी सेवक को युक्तियुक्त अवसर प्रदान किए जाने का अधिकार नहीं प्राप्त है—

(क) जहाँ कि कोई व्यक्ति ऐसे आचरण के आधार पर पदच्युत किया जाता है या हटाया जाता है या पंक्तिच्युत किया जाता है जिसके लिए अपराध आरोप या उसे दोषसिद्ध किया गया है या

(ख) जहाँ किसी व्यक्ति को पदच्युत करने या पद से हटाने या पंक्तिच्युत करने वाले अधिकारी को यह समाधान हो जाता है कि किसी कारण से, जो उस अधिकारी द्वारा लेखबद्ध किया जायेगा, यह युक्तियुक्त रूप से व्यवहार्य नहीं है कि सुनवाई का ऐसा अवसर प्रदान किया जाय।

(ग) जहाँ राष्ट्रपति या राज्यपाल का समाधान हो जाता है कि राज्य की सुरक्षा के हित में यह समीचीन नहीं है ऐसी जाँच की जाय।

भारत संघ बनाम तुलसी राम पटेल (1985) 35 SC 398 के महत्वपूर्ण मामलों में उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि उपर्युक्त मामलों में अनुशासनिक प्राधिकारी द्वारा बिना जाँच के और सुनवाई का अवसर दिये बिना दिया गया दण्ड संवैधानिक था। इसी आधार पर न्यायालय ने **डिवीजनल पर्सनल ऑफिसर सदरन रेलवे बनाम टी. आर. चलप्पन** के मामले में दिये गये अपने विनिश्चय को उलट दिया जिसमें यह निर्णय दिया गया था कि दण्ड देते समय सुनवाई का अवसर दिया जाना चाहिए।

किन्तु न्यायालय ने यह स्पष्ट किया कि पीड़ित सरकारी सेवक को अभी भी दो उपचार प्राप्त हैं। एक उपर्युक्त दंड के विरुद्ध विभागीय अपील और दूसरा, न्यायिक पुनर्विलोकन का अधिकारी जिसमें न्यायालय यह जाँच करेगा कि क्या सम्बन्धित प्राधिकारी ने दुर्भावना से कार्य किया है या सेवा नियमों को गलत आधार पर लागू किया है या दण्ड मनमाना अथवा अपराध के अनुपात में अत्यधिक है।

पदच्युत कब दण्ड माना जायेगा ?

पदच्युति या पंक्तिच्युति को कब दण्ड माना जायेगा, इसके निर्धारण के लिए उच्चतम न्यायालय ने निम्नलिखित कसौटियाँ विहित की हैं—

(क) क्या सिविल सेवक को किसी विशेष पद या श्रेणी को धारण करने का अधिकार प्राप्त है।

(ख) क्या उसे कुपरिणाम भुगतने का आदेश दिया गया है?

यदि किसी सेवक को किसी विशेष पद या श्रेणी को, किसी सेवा की संविदा या सेवा-शर्तों के नियम के अधीन धारण करने का अधिकार प्राप्त है तो उस पद से उसकी पदच्युति या हटाया जाना या पंक्तिच्युत अनुच्छेद 311(2) के अर्थान्तर्गत दण्डस्वरूप माना जायेगा।

पुरुषोत्तम लाल धींगरा बनाम भारत संघ AIR 1958 SC 36 के मामले में अपीलार्थी धींगरा रेलवे में एक तृतीय श्रेणी का सेवक था। उसे द्वितीय श्रेणी पर कार्यवाहक के रूप में त र नियुक्त किया गया था। दो वर्ष पश्चात् उसे असंतोषजनक कार्य के आधार पर पुनः तृतीय श्रेणी के पद पर कार्य करने का आदेश दिया गया। आदेश में उल्लिखित था कि यह उसके भावी तरक्की में किसी भी तरह रुकावट नहीं पैदा करेगा, यदि भविष्य में उसका कार्य या आचरण संतोषजनक पाया जायेगा। उच्चतम न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि उसे द्वितीय श्रेणी के पद धारण करने का कोई अधिकार नहीं था क्योंकि वह इस पद पर कार्यवाहक के रूप में कार्य कर रहा था जो अस्थायी था और जिसे बिना पूर्वसूचना के समाप्त किया जा सकता है। दूसरे यह कि अपीलार्थी का पंक्तिच्युति दण्डस्वरूप नहीं की गयी थी, क्योंकि उसकी उन्नति इत्यादि के अवसर नहीं छीने गये थे। वह अनुच्छेद 311 (2) में प्रदत्त संरक्षणों का दावा नहीं कर सकता है।

रिसाल सिंह बनाम हरियाणा राज्य AIR 2014 SC के मामले में उच्चतम न्यायालय ने कहा कि जाँच किये बिना लोकसेवक की पदच्युति तभी विधिपूर्ण होगा जब इसका कारण लेखबद्ध किया गया हो, अन्यथा पच्युति आदेश दूषित होगा जिसे अपास्त किया जा सकता है।

अनु. 311 का संरक्षण स्थायी और अस्थायी दोनों प्रकार के सेवकों को प्राप्त है— उच्चतम न्यायालय ने **पुरुषोत्तम लाल धींगरा बनाम भारत संघ** के मामले में यह स्पष्ट कर दिया कि अनुच्छेद 311 में प्रदत्त सांविधानिक संरक्षण सभी प्रकार के राज्य कर्मचारियों, चाहे वे स्थायी हों या अस्थायी, को प्राप्त हैं क्योंकि अनुच्छेद 311 के उपबन्ध में इस प्रकार का कोई भेद नहीं किया गया है। किन्तु यह आवश्यक है कि स्थायी या अस्थायी लोकसेवकों को पदच्युति पद से हटाया जाना या पंक्तिच्युति दण्डस्वरूप की गई हो।

पंजाब राज्य बनाम सुख बहादुर के मामले में उच्चतम न्यायालय ने अस्थायी सिविल सेवकों और प्रोबेशनरों से सम्बन्धित सभी विनिश्चयों पर पुनर्विचार कर उनके सम्बन्ध में निम्नलिखित सिद्धान्त विहित किये हैं—

(1) यदि अस्थायी सिविल सेवकों की सेवाएँ उनके नियोजन की शर्तों के अनुसार समाप्त कर दी जाती हैं तो उन्हें अनु. 311 का संरक्षण नहीं मिलेगा।

(2) सेवा-समाप्ति के आदेश की पूर्वगामी तथा पश्चात्गामी परिस्थितियों की जाँच जायेगी, यह निर्धारित करने के लिए कि सेवा-समाप्ति दण्डस्वरूप हुई है या नहीं। किस हेतु से दिया गया, इसका कोई महत्व नहीं है।

(3) यदि ज्येष्ठ अधिकारी द्वारा केवल इस बात के लिए जाँच की जानी है सिविल सेवक को सेवा में रखना चाहिये या नहीं, और इसके परिणामस्वरूप अस्थायी सिविल सेवक की सेवाएँ समाप्त कर दी जाती हैं तो उसे अनु. 311 का संरक्षण प्राप्त होगा।

(4) यदि पूर्ण विभागीय जाँच, जैसा कि अनु. 311 में विहित है, के परिणामस्वरूप सेवा-समाप्ति का आदेश पारित किया जाता है तो अनु. 311 का संरक्षण प्राप्त होगा। पूर्ण जाँच के में निम्नलिखित बातें आती हैं जैसे एक जाँच अधिकारी की नियुक्ति, आरोपपत्र का दिया जाना, सफाई का अवसर दिया जाना और उस पर विचार किया जाना आदि।

एच. डी. बी. के. दास बनाम एफ. एल. ऐ कलेक्टर के मामले में उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि एक अस्थायी या प्रोबेशनर सेवक की सेवाएँ समाप्त करने वाला आदेश यदि दाण्डिक स्वरूप का है तो उससे अनुच्छेद 311 का अतिक्रमण होगा और आदेश अवैध हो जायेगा।

निष्कर्ष—उपर्युक्त विधिक प्रावधान एवं न्यायिक निर्वचन में प्राप्त निर्णय के आधार पर ही किसी लोकसेवक को पदच्युत किया जा सकता है जो निष्कर्षतः सही प्रतीत होता है अन्यथा वह असंवैधानिक होगा।

प्रश्न 20. क्या संसद मूल अधिकारों में संशोधन कर सकती है? अपने तर्कों की पुष्टि महत्वपूर्ण निर्णयों से कीजिए। अथवा भारतीय संसद के संशोधन के अधिकार का संक्षिप्त विवेचन कीजिए।

उत्तर—भारतीय संविधान के अध्याय 3 में मूल अधिकारों का वर्णन किया गया है। यह प्रश्न कि क्या संविधान के इस भाग में वर्णित मूल अधिकार अनुच्छेद 368 के अन्तर्गत संशोधित किये जा सकते हैं अथवा नहीं, सर्वप्रथम **शंकर प्रसाद बनाम भारत संघ, AIR 1951 SC 458** के वाद में उत्पन्न हुआ। इस वाद में संविधान के प्रथम संशोधन अधिनियम 1951 ई. की वैधता को चुनौती दी गयी थी। इस चुनौती का आधार यह था कि यह संशोधन संविधान के भाग 3 में दिये गये मूल अधिकारों का उल्लंघन करता है जो अनुच्छेद 13(2) द्वारा वर्जित हैं। अतः यह संशोधन अधिनियम अवैध है। अनुच्छेद 13 यह उपबन्ध करता है कि राज्य ऐसी कोई विधि नहीं बनायेगा जो नागरिकों के भाग 3 में दिये गये अधिकारों को कम करती है या छीनती है। यह भी तर्क दिया गया कि अनुच्छेद 368 के अन्तर्गत पारित संवैधानिक संशोधन भी अनुच्छेद 13 में वर्णित शब्दों के अर्थों में विधि है।

उच्चतम न्यायालय ने उक्त तर्क को अस्वीकार कर दिया तथा यह अभिनिश्चित किया कि संविधान के संशोधन की शक्ति, जिसमें मूल अधिकार भी सम्मिलित हैं अनुच्छेद 368 में नहित हैं। अनुच्छेद 13 में प्रयुक्त विधि के शब्द के अन्तर्गत केवल विधियाँ आती हैं जो सामान्य विधायनी शक्ति के प्रयोग द्वारा निर्मित की जाती हैं न कि वे संवैधानिक

संशोधन विधि जो संवैधानिक शक्ति के प्रयोग द्वारा पारित की जाती हैं। अतः अनुच्छेद 368 के अन्तर्गत पारित संवैधानिक संशोधन, संवैधानिक होंगे, भले ही वे मूल अधिकारों का उल्लंघन करते हैं।।

इसी प्रकार **सज्जन सिंह बनाम राजस्थान सरकार, AIR 1965 SC 845** के वाद में भी उच्चतम न्यायालय ने शंकरी प्रसाद बनाम भारत संघ के वाद में दिये गये पूर्व निर्णय को स्वीकार करते हुए कहा है कि अनुच्छेद 368 के अनुसार संसद संविधान का संशोधन करके मूल अधिकारों को भी परिवर्तित कर सकती है। इस वाद में संविधान के 17वें संशोधन अधिनियम की वैधता को चुनौती दी गयी थी। उच्चतम न्यायालय के बहुमत के निर्णय में कहा गया था कि संविधान संशोधन का तात्पर्य यह है कि यदि संविधान निर्मातागण मूल अधिकारों को संशोधन से परे रखना चाहते होते तो निश्चित ही उन्होंने इसके बारे में संविधान में स्पष्ट उपबन्ध का समावेश किया होता।

परन्तु **गोलकनाथ बनाम पंजाब राज्य, AIR 1967 SC 1643** के वाद में उच्चतम न्यायालय ने बहुमत से शंकरी प्रसाद तथा सज्जन सिंह के वाद में दिये गये निर्णय को बदल दिया तथा यह विनिश्चित किया कि संसद को भाग 3 में संशोधन करने की कोई शक्ति प्राप्त नहीं है। इस वाद में निम्न सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है—

(1) संविधान के संशोधन की शक्ति संविधान के अनुच्छेद 245, 246 एवं 248 में निहित है, न कि अनुच्छेद 368 में। अनुच्छेद 368 में केवल संशोधन की प्रक्रिया का उपबन्ध किया गया है, संविधान की शक्ति का नहीं।

(2) संविधान संशोधन अनुच्छेद 13 में प्रयुक्त शब्दों के अन्तर्गत विधि है और इसलिए यह वह मूल अधिकारों को छीनती या न्यून करती है तो वह शून्य है। विधि शब्द के अन्तर्गत सभी प्रकार की विधियाँ शामिल हैं चाहे वे साधारण विधि हों या संवैधानिक विधि।

(3) संसद नागरिकों के मूल अधिकारों से सम्बन्धित भाग 3 में कोई ऐसा संशोधन नहीं कर सकती जो उनमें कोई कमी करे या उन्हें समाप्त करे।

(4) सर्वोच्च न्यायालय के पूर्ववर्ती निर्णय इस पर बाध्यकारी नहीं हैं।

उच्चतम न्यायालय द्वारा गोलकनाथ के विवाद में दिये गये निर्णय उत्पन्न विषयमताओं को दूर करने के लिए संसद ने 24वाँ संविधान संशोधन अधिनियम, 1971 ई. पारित किया। इसके द्वारा अनुच्छेद 13(2) में संशोधन करके यह उपबन्ध किया कि “वह राष्ट्रपति के समक्ष रखा जायेगा जो विधेयक को अपनी अनुमति देगा।” इससे स्पष्ट है कि राष्ट्रपति संविधान संशोधन पर अपनी सहमति देने को बाध्य होगा। इस अनुच्छेद में एक नया खण्ड 4 जोड़ा गया है जो यह उपबन्धित करता है कि संसद द्वारा अनुच्छेद 368 के अन्तर्गत पारित कोई भी विधि शक्ति भी निहित है। अनुच्छेद 368 के खण्ड 2 के पूर्व एक नया खण्ड जोड़ा गया है जो यह संशोधन की प्रक्रिया का ही उपबन्ध नहीं करता वरन् उसके अन्तर्गत संविधान संशोधन की अनुच्छेद 13(2) के अन्तर्गत विधि शब्द के अन्तर्गत नहीं होगी। अनुच्छेद 368 केवल संविधान उपबन्ध करता है कि संसद संविधान में किसी उपबन्ध के परिवर्धन, परिवर्तन या निरसन के रूप में संशोधन इस अनुच्छेद में दी गयी प्रक्रिया के अनुसार कर सकेंगे।

केशवानन्द भारती बनाम केरल राज्य, AIR 1973 SC 1461 के ऐतिहासिक वाद में संशोधन के 42वें संशोधन अधिनियम की विधिमान्यता को उच्चतम न्यायालय में चुनौती दी गयी। इस वाद में मुख्य विचारणीय प्रश्न यह था कि संविधान के अनुच्छेद 368 में से यह निर्णय दिया कि संसद को मूल अधिकारों में संशोधन करने की शक्ति प्राप्त है। इस संसद को जो संविधान की शक्ति प्राप्त है उसकी क्या सीमा है? उच्चतम न्यायालय ने बहुमत प्रकार के न्यायालय ने गोलकनाथ के वाद में दिये गये अपने पूर्व निर्णय को उलट दिया।

उच्चतम न्यायालय का विचार था कि अनुच्छेद 368 के, जैसा कि यह मूल रूप में था के अन्तर्गत संविधान संशोधन करने की शक्ति तथा उसकी प्रक्रिया दोनों निहित हैं। 24वाँ संशोधन अनुच्छेद 368 में जो कुछ विवक्षित था उसे अभिव्यक्ति भाषा में स्पष्ट करने के अलावा और कुछ नहीं करता है। उक्त संशोधन मूल अनुच्छेद द्वारा प्रदत्त शक्ति का विस्तार नहीं करता है इसलिए मार्जिनल नोट में किये गये परिवर्तन का कोई महत्व नहीं है, न ही इसमें परिवर्धन परिवर्तन या निरसन शब्द के जोड़ने का कोई महत्व है, क्योंकि ये शब्द केवल उस रीति को विहित करते हैं जिसके द्वारा संशोधन किया जा सकता है, न कि संशोधन शब्द में आवश्यक रूप से अन्तर्विष्ट है चूँकि मूल अनुच्छेद प्राप्त शक्ति एक सीमित शक्ति है, अतः संशोधन अनुच्छेद में जोड़ी गयी उक्त शब्दावली का कोई महत्व नहीं है। इन आधारों पर 24वाँ संविधान अधिनियम विधिमान्य है।

न्यायाधीश श्री खन्ना ने बहुमत का समर्थन किया किन्तु अपना निर्णय अलग दिया। उन्होंने कहा कि अनुच्छेद 368 के अन्तर्गत संशोधन की शक्ति में संविधान को पूरा-पूरा निराकरण करने की तथा उसके स्थान पर एक बिल्कुल नया संविधान रख देने की शक्ति सम्मिलित नहीं है। संविधान के संशोधन का अर्थ संविधान का निराकरण करना नहीं है वरन् उसमें आवश्यक परिवर्तन करना मात्र है। संविधान शब्द का तात्पर्य है कि पुराने संविधान का अस्तित्व परिवर्तन हो जाने के पश्चात् भी बना रहता है तथा उसका मूल स्वरूप कभी खत्म नहीं होता है। निःसन्देह इसका तात्पर्य संविधान के बुनियादी ढाँचे या उसकी रूपरेखा को बनाये रखना है। संविधान के बुनियादी ढाँचे तथा उसकी रूपरेखा के अधीन रहते हुए संशोधन विषयक शक्ति परिपूर्ण है तथा उसमें विभिन्न अनुच्छेदों को, कितने मूल अधिकार से सम्बन्धित अनुच्छेद हैं, परिवर्तन या निरसन करने की शक्ति भी सम्मिलित है। संविधान के उस भाग को छोड़कर जो संविधान के बुनियादी ढाँचे या रूपरेखा से सम्बन्धित हैं, संशोधन की शक्ति पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया जा सकता है।

न्यायाधीश श्री द्विवेदी ने कहा है कि अनुच्छेद 368 में प्रयुक्त संशोधन शब्द इतना व्यापक है कि उसके अधीन भाग 2 सहित संविधान के प्रत्येक उपबन्ध को परिवर्तित निरसित या निराकृत किया जा सकता है।

इस विवाद में बहुमत से निम्नलिखित सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये—

1. गोलकनाथ के निर्णय को निरस्त किया गया।
2. यह निश्चित किया गया कि संसद संविधान में जिसमें मूल अधिकार भी शामिल हैं, संशोधन कर सकती है।
3. संविधान संशोधन अधिनियम 24वें, 26वें व 29वें को वैध घोषित किया गया।

संविधान के 42वें संशोधन अधिनियम द्वारा अनुच्छेद 368 में 4 व 5 खण्ड जोड़कर यह उपबन्ध किया गया है कि इस संविधान के किसी संशोधन, जिसमें कि 3 के उपबन्ध भी शामिल हैं, जिनका कि इस अनुच्छेद के अन्तर्गत संशोधन किया जाना है तथा संशोधन अधिनियम (42वें, 1976 ई.) से पूर्व किये जा चुके हैं को किसी भी आधार पर किसी न्यायालय में चुनौती नहीं दी जायेगी। परन्तु हाल ही में निर्णीत किये गये एक महत्वपूर्ण मामले 1997 AIR SC 1125 एल. चन्द्र कुमार बनाम भारत संघ के मामले में यह अवधारित किया गया है कि संविधान के अनुच्छेद 323 का खण्ड 2 (ग) तथा 323 (ख) का खण्ड 3 (ग) असंवैधानिक एवं अवैध है, क्योंकि ये उच्चतम न्यायालय एवं उच्च न्यायालय की न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति को समाप्त करते हैं जोकि संविधान का आधारभूत ढाँचा है तथा इसे संविधान में अनुच्छेद 368 को भी संशोधित करके समाप्त नहीं किया जा सकता है।

अतः अब इस उपर्युक्त निर्णय से स्पष्ट हो गया है कि अब संसद द्वारा भविष्य में कोई भी संवैधानिक संशोधन किया जाता है तो उसकी विधिमान्यता को न्यायालयों में चुनौती दी जा सकती है।

प्रश्न न० 21—संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए।

उत्तर— भारतीय संविधान के अनुच्छेद 311 के अन्तर्गत लोक सेवकों को प्राप्त सुरक्षा—अनुच्छेद 311 के अन्तर्गत लोकसेवकों को, अपने पद से मनमाने ढंग से पदच्युत किये जाने के विरुद्ध निम्नलिखित सांविधानिक संरक्षण प्रदान किये गये हैं—

(1) कोई भी लोकसेवक अपने नियुक्त कर्त्ता से नीचे के किसी प्राधिकारी द्वारा पदच्युत नहीं किया जायेगा या पद से हटाया नहीं जायेगा अनुच्छेद 311(1)।

(2) कोई भी व्यक्ति तब तक पदच्युत या पद से हटाया या पंक्तिच्युत नहीं किया जायेगा, जब तक कि उसे अपने विरुद्ध दोषारोपों से अवगत न करा दिया गया हो और उसके सम्बन्ध में सुनवाई का युक्तियुक्त अवसर न दे दिया गया हो।

उपर्युक्त संरक्षण 'सिविल सेवा' धारण करने वाले व्यक्तियों को ही उपलब्ध है। यह सैनिक सेवकों या प्रतिरक्षा से सम्बन्धित सेवाओं पर कार्य करने वाले व्यक्तियों को नहीं प्राप्त है; अतएव उन्हें बिना कोई कारण दिखाये पदच्युत किया जा सकता है। 'संविधान में सिविल सेवा' की कोई परिभाषा नहीं दी गयी है, किन्तु अनुच्छेद 310 और 311 के उपबन्धों के अनुसार ऐसा प्रतीत होता है कि प्रतिरक्षा पदों के अतिरिक्त अन्य पद लोकपद हैं। 'सिविल सेवा' का अर्थ है— प्रशासन के असैनिक पदों पर नियुक्ति राज्य और पद धारण करने वाले व्यक्ति के बीच स्वामी और सेवक का सम्बन्ध तब स्थापित होता है जब निम्नलिखित तत्व मौजूद होते हैं— राज्य को उस पद के सेवकों को चुनने तथा नियुक्त उसके लिए राज्य—कोष से पारिश्रमिक या वेतन देने का अधिकार।

(1) नियुक्तकर्त्ता से निचले प्राधिकारी द्वारा पदच्युत वर्जित— अब हम भारतीय संविधान के इस अनुच्छेद पहले खंड यानि 311(1) पर चर्चा करेंगे। इस प्रावधान के अनुसार, किसी भी संघ या राज्य सरकार के सिविल सेवक को उस प्राधिकारी के अधीनस्थ किसी प्राधिकारी द्वारा हटाया या बर्खास्त नहीं किया जा सकता है जिसने उन्हें नियुक्त किया है। उदाहरण के लिए महेश बनाम उत्तर प्रदेश अपीलकर्त्ता के विद्वान वकील ने तर्क दिया कि संविधान और रेलवे कोड के नियम दोनों की आवश्यकता यह मानती है कि हटाने के लिए सक्षम प्राधिकारी या तो वही प्राधिकारी होना चाहिए जिसने नियुक्त किया है या उसी विभाग में नियुक्ति करने वाले प्राधिकारी से सीधे उच्चतर कोई अन्य प्राधिकारी होना चाहिए, हमें नहीं लगता कि यह तर्क तर्कसंगत है। संविधान की आवश्यकता यह है कि किसी व्यक्ति को उस प्राधिकारी द्वारा नहीं हटाया जाना चाहिए जिसने उसे नियुक्त किया है और रेलवे कोड में जो नियम निर्धारित किया गया है वह मूलतः वही है, अर्थात्, हटाने के लिए सक्षम प्राधिकारी नियुक्ति करने वाले से कमतर नहीं होना चाहिए। इन प्रावधानों को इस तरह नहीं पढ़ा जा सकता कि हटाने का अर्थ यह हो कि हटाने का काम उसी प्राधिकारी द्वारा किया जाना चाहिए जिसने नियुक्ति की है या उसके सीधे वरिष्ठ द्वारा। हमें यह पर्याप्त लगता है कि हटाने वाला प्राधिकारी उसी रैंक या ग्रेड का हो। वर्तमान मामले में यह नहीं पता चलता कि अपीलकर्त्ता को विभाग की किस विशेष शाखा में लिया गया था, पहली बार 1944 में पूर्व के तहत। एफ. लेकिन पीडब्लू 4, जो कि डिवीजनल सुपरिंटेंडेंट के कार्यालय का हेड क्लर्क है, के साक्ष्य में यह बात सामने आई है कि रनिंग शेड फोरमैन का कार्यालय जिसमें अपीलकर्त्ता 1951 में क्लर्क था, सीधे सुपरिंटेंडेंट पावर के अधीन था। वह स्पष्ट रूप से मंजूरी देने के लिए सबसे उपयुक्त अधिकारी था, बशर्ते कि वह डिवीजनल पर्सनल ऑफिसर से कम रैंक का न हो।

(2) सुनवाई का युक्तियुक्त अवसर— अनुच्छेद 311(2) किसी सिविल सेवक को बर्खास्त करने, हटाने या पद से हटाने के दौरान उचित जांच करने का प्रावधान करता है। इसमें कहा गया है कि ऐसे प्रत्येक सिविल सेवक को जिसे बर्खास्त किया जाना है, हटाया जाना है या पद से हटाया जाना है, उसे सुनवाई का उचित अवसर दिया जाना चाहिए। उसे साक्ष्य प्राप्त करने और स्वीकार करने तथा अपना मामला साबित करने का अवसर दिया जाना चाहिए। हालाँकि, यदि प्राधिकारी को ऐसा करना उचित लगता है तो ऐसी जांच को छोड़ा जा सकता है। अनुच्छेद 311(2) का ऐसा अपवाद तब लागू होता है जब सिविल सेवक पर आपराधिक आरोप लगाए जाते हैं, यदि प्राधिकारी

इसे उचित समझता है या यदि राष्ट्र की सुरक्षा और संप्रभुता का सवाल है। सुनवाई का यह उचित अवसर मूल रूप से सिविल सेवक को जांच चरण के साथ-साथ दंड चरण में भी दिया जाता था। हालांकि, भारतीय संविधान में 42वें संशोधन द्वारा इसमें बदलाव किए गए। 1976 के संशोधन अधिनियम ने दंड चरण को हटा दिया। दंड चरण वह होता है जब जांच पूरी हो जाती है और सिविल सेवक के खिलाफ आरोप उचित संदेह से परे साबित हो जाते हैं। इस प्रकार, जब दंड को प्रभावी होने के लिए उचित माना जाता है, तो सिविल सेवक को उसके लिए तय की जा रही सजा के खिलाफ बोलने और अभ्यावेदन करने का अवसर नहीं मिलता है। इस प्रकार, वर्तमान रुख ऐसा है कि, जिस सिविल सेवक के खिलाफ अनुच्छेद 311 के लागू होने का आरोप है, उसे जांच चरण में अभ्यावेदन करने का उचित अवसर मिलता है और उसके बाद नहीं। एक बार उसके खिलाफ लगाए गए आरोप साबित हो जाने के बाद, उसे जूरी के सामने अपना मामला पेश करने का अधिकार नहीं रह जाता है।

भारत संघ एवं अन्य बनाम तुलसीराम पटेल (1985) भारत संघ और अन्य बनाम तुलसीराम पटेल के मामले में, भारत के सर्वोच्च न्यायालय ने अनुच्छेद 311(2) के अपवादों पर चर्चा की, अर्थात्, ऐसे मामले जहाँ प्राधिकारी द्वारा अनुशासनात्मक जाँच को छोड़ा जा सकता है। सर्वोच्च न्यायालय ने माना कि विवेकशीलता परीक्षण लागू किया जाना चाहिए। यह परीक्षण किया जाना चाहिए कि सामान्य विवेक वाला एक उचित व्यक्ति किसी स्थिति में तथ्यों और परिस्थितियों के अनुसार क्या करेगा। न्यायालय ने आगे कहा कि यदि सिविल सेवक को आपराधिक आरोपों में दोषी ठहराया जाता है, तो उसे बिना किसी विभागीय जाँच के बर्खास्त या उसके पद से हटाया जा सकता है।

अनुच्छेद 311 के अपवाद—

अनुच्छेद 311 के दोनों खंडों के अपवाद नीचे दिए गए हैं:—

(1) अनुच्छेद 311(1) में एक अपवाद है जिसके अनुसार अनुच्छेद के प्रावधान केवल सिविल सेवकों, यानी लोक सेवकों या सार्वजनिक अधिकारियों पर लागू होंगे। यह रक्षा कर्मियों या संघ या राज्य सरकारों के तहत किसी अन्य प्रकार की सेवा पर लागू नहीं होता है।

(2) अनुच्छेद 311(2) कहता है कि उचित जांच होनी चाहिए और सुनवाई का उचित अवसर प्रदान किया जाना चाहिए, इसमें कुछ अपवाद हैं—

(क) जब किसी व्यक्ति को उसके खिलाफ आपराधिक आरोपों के कारण बर्खास्त, हटाया या पद में कमी कर दी जाती है और उसे दोषी ठहराया जाता है, तो अनुच्छेद 311(2) के तहत जांच की आवश्यकता नहीं होती है।

(ख) जब प्राधिकारी व्यक्ति, जो ऐसे सिविल सेवक को बर्खास्त करने, हटाने या उसके पद में कमी करने का हकदार है, आगे कोई जांच करना अनावश्यक समझता है, तो उसे ऐसे सिविल सेवक को बर्खास्त करने, हटाने या उसके पद में कमी करने से पहले, लिखित रूप में दर्ज किए जाने वाले कारणों से, ऐसी जांच न करने की शक्ति है।

(ग) जब भारत के राष्ट्रपति या किसी राज्य के राज्यपाल को यह विश्वास हो जाए कि राज्य की सुरक्षा और संप्रभुता को बनाए रखने के लिए ऐसे सिविल सेवक को उसके पद से बर्खास्त या हटाना आवश्यक है, तो वे बिना कोई जांच किए ऐसी बर्खास्तगी या हटाने का निर्देश दे सकते हैं।

(2) तत्व और सार का सिद्धान्त— विधान मण्डल द्वारा बनाई गई विधि जब दूसरे विधान मण्डल के क्षेत्र का अतिक्रमण करती है तो उभर कर सामने आती है। दूसरे शब्दों में जब एक विधानमण्डल द्वारा बनाई गई कोई विधि दूसरे विधानमण्डल के भी क्षेत्र में अतिक्रमण करती है तो इस बात के अवधारण करने के लिए कि प्रश्नास्पद विधान उस विधानमण्डल की शक्ति के अधीन आता है या नहीं, जिसने उसे बनाया है, न्यायालय सार तत्व का सिद्धान्त लागू करता है। प्रायः अधिनियमों में ऐसे उपबन्ध होते हैं, जो आनुषंगिक रूप से दूसरे विधानमण्डल के विधान विषयों पर अतिक्रमण करते हैं। यदि शाब्दिक निर्वाचन किया जाय तो इस प्रकार के विधान अवैध हो जाएँगे। किन्तु यदि विधान सारवान रूप से या विधान का वास्तविक उद्देश्य ऐसे विषय से सम्बन्धित है, जिस पर वह विधानमण्डल विधि बनाने में सक्षम है, तो उसे विधिमन्य घोषित किया जाएगा, भले ही वह वह दूसरे विधानमण्डल के अधिकार क्षेत्र में आने वाले विषय पर आनुषंगिक रूप से अतिक्रमण करता हो। उस विधान की वास्तविक प्रकृति तथा स्वरूप का पता लगाने के लिए पूरे अधिनियम पर विचार किया जायेगा और उसके उद्देश्य और विस्तार तथा उसके उपबन्ध के प्रभाव की जांच की जायेगी।

प्रफुल्ल कुमार बनाम बैंक ऑफ कामर्स, खुलना इस वाद में बंगाल मनी लैण्ड्स एक्ट, 1946 की वैधता को चुनौती दी गयी जो कि वह राशि और ब्याज की दर पर प्रतिबन्ध लगाती थी। किसी भी ऋण पर जो वह देता था यह अवैध बंगाल विधान मण्डल के परनोटों सम्बन्धी विधि के आधार पर अवैध था क्योंकि परनोटों सम्बन्धी कानून केन्द्रीय विषय के अन्तर्गत आता है। प्रीवी काउंसिल ने निर्धारित किया कि बंगाल साहूकारी अधिनियम सार और सारांश के अनुकूल रुपया उधार देने और साहूकारों के बारे में था और यह एक राजकीय विषय है। बेशक यह केन्द्रीय अधिकार क्षेत्र में कुछ अकस्मात प्रवेश करता था। कहने का उद्देश्य यह है कि यदि कोई विधि मूलतः अपने अधिकार क्षेत्र में बनायी गयी हो तो उसे स्वीकार किया जा सकता है चाहे वह थोड़ा बहुत दूसरे के अधिकार क्षेत्र में प्रवेश करती हो।

बम्बई राज्य बनाम बालसरा के मामले में बाम्बे मद्यनिषेध अधिनियम, जिसके द्वारा राज्य में मादक द्रव्यों को खरीदने तथा रखने का निषेध कर दिया गया था, की सांविधानिकता को इस आधार पर चुनौती दी गयी थी कि वह संघ सूची में वर्णित विषय 'मादक द्रव्यों के आयात-निर्यात पर अतिक्रमण करता है, क्योंकि मादक द्रव्यों के क्रय-विक्रय और उपयोग को रोकने से उसके आयात-निर्यात पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। उच्चतम न्यायालय ने अधिनियम को

बंध अभिनिर्धारित किया क्योंकि उसके अनुसार अधिनियम का मुख्य उद्देश्य राज्य- सूची के विषय से सम्बन्धित था, संघ सूची से नहीं।

(3) व्यापार, वाणिज्य एवं समागम की स्वतंत्रता— अनुच्छेद 301 पूरे देश में व्यापार, वाणिज्य और समागम की स्वतंत्रता के बारे में बात करता है। इसमें कहा गया है कि भाग गम्पू के तहत अन्य प्रावधानों के अधीन इन गतिविधियों को करने की स्वतंत्रता मुक्त होगी। यहां स्वतंत्रता का अर्थ है व्यक्ति, संपत्ति, चीज जो मूर्त या अमूर्त हो सकती है, की आवाजाही की स्वतंत्रता का अधिकार राज्य के भीतर (इंट्रा-स्केल) या राज्यों के बाहर (इंट्रा-स्केल) में बाधाओं से अबाधित हो सकता है।

इस लेख में प्रयुक्त तीन मुख्य शब्द हैं—

व्यापार— व्यापार का अर्थ है लाभ कमाने के उद्देश्य से माल खरीदना और बेचना। अनुच्छेद 301 के तहत व्यापार शब्द का अर्थ एक निश्चित उद्देश्य के साथ एक वास्तविक, संगठित (ऑर्गेनाइज्ड) और संरचित (स्ट्रक्चर्ड) गतिविधि है। अनुच्छेद 301 के उद्देश्य के लिए व्यापार शब्द का प्रयोग व्यवसाय के साथ परस्पर किया जाता है।

वाणिज्य— वाणिज्य का अर्थ है हवा, पानी, टेलीफोन, टेलीग्राफ या किसी अन्य माध्यम से संचरण (ट्रांसमिशन) या आवाजाही अनुच्छेद 301 के तहत वाणिज्य के लिए जो आवश्यक है वह परिवहन (ट्रांसपोर्टेशन) या संचरण है न कि लाभ है।

समागम— इसका अर्थ है माल को एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाना। इसमें वाणिज्यिक और गैर-वाणिज्यिक दोनों तरह के सौदे शामिल हैं। इसमें यात्रा और दूसरों के साथ व्यवहार के सभी रूप शामिल होंगे। हालांकि यह तर्क दिया जाता है कि अनुच्छेद 301 में गारंटीकृत स्वतंत्रता अपने व्यापक अर्थ में समागम तक नहीं पहुंचती है। इसके दो कारण हैं।

(1) सबसे पहले, 'समागम' शब्द का प्रयोग 'व्यापार और वाणिज्य' शब्दों के साथ किया जाता है और इसलिए यहां इस शब्द का अर्थ 'वाणिज्यिक-समागम' होगा न कि उद्देश्यहीन गति।

(2) दूसरा कारण यह है कि यद्यपि अनुच्छेद 301 विधानमंडल और संसद की शक्ति अनुच्छेद 245 और 246 के तहत उन्हें प्रदान की गई है, पर एक सीमा लगाता है लेकिन समागम शब्द 7वीं अनुसूची के तहत कानून के विषय के रूप में शामिल नहीं है; जैसे कि शब्द व्यापार और वाणिज्य को शामिल किया गया है और इसलिए यहां समागम शब्द का अर्थ व्यापक अर्थ में नहीं लगाया जा सकता है।

(3) अनुच्छेद 301 में 'मुक्त' शब्द के प्रयोग का अर्थ देश पर शासन करने वाले कानूनों और नियमों से स्वतंत्रता नहीं है। स्वतंत्रता में बाधा डालने वाले कानूनों और व्यापार गतिविधियों के सुचारु और आसान तरीके से उचित संचालन के लिए नियमों और विनियमों वाले कानूनों के बीच स्पष्ट अंतर है।

(4) संसद का अधिवेशन सत्रावसान तथा विघटन— संविधान के अनुच्छेद 25 में संसद के अधिवेशन, सत्रावसान तथा विघटन के विषय में आवश्यक व्यवस्थाएँ की गई हैं। इस अनुच्छेद द्वारा भारत के राष्ट्रपति को यह अधिकार प्रदान किया गया है कि वह संसद के अधिवेशन को बुलाये, संसद का सत्रावसान करे या संसद को भंग कर दे, संसद को बुलाये जाने के विषय में आवश्यक व्यवस्था यह है कि संसद के एक अधिवेशन के अन्तिम दिन दूसरे अधिवेशन के प्रथम दिन के बीच कालावधि छः मासे कम होनी चाहिए।

(5) परमादेश— परमादेश का अर्थ होता है समादेश या आदेश यह एक समादेश है जिसमें किसी व्यक्ति, निगम, कनिष्ठ न्यायालय, सरकार या किसी लोक अधिकारी को रिट का उपयोग ऐसे आदेश देने के लिए किया जाता है जो सार्वजनिक कर्तव्य करने का इन्कार करता है। परमादेश जारी किए जाने से पहले निम्न शर्तें पूरी होनी चाहिए—

(1) याची को यह दिखाना पड़ेगा कि उसका कोई विधिक अधिकार है।

(2) यह कर्तव्य विधि द्वारा अधिरोपित हो।

(3) याची ने विधिक कर्तव्य करने के लिए प्राधिकारी से समावेदन किया था किन्तु प्राधिकारी ने न तो काम किया है और न करने से इन्कार किया है।

(4) लोक प्राधिकारी ऐसी विधि के अधीन कार्य कर रहा है जो असंवैधानिक है।

निम्न मामलों में परमादेश रिट जारी नहीं की जायगी—

(1) जहाँ कोई कार्य करने या न करने का विवेकाधिकार है।

(2) किसी प्राइवेट व्यक्ति या संगठन के विरुद्ध परमादेश तभी किया जाएगा जबकि उन्हें कोई सार्वजनिक कर्तव्य सौंपा गया हो।

(3) इस रिट का उपयोग सरकार के विरुद्ध किसी संविदा का प्रवृत्त कराने के लिए नहीं किया जा सकता विधायक विबंध के रूप में यह रिट जारी की जा सकती है।

(4) किसी कम्पनी के विरुद्ध चाहे वह सरकारी कम्पनी ही क्यों न हो।

परमादेश निम्न के विरुद्ध नहीं जारी हो सकता— राष्ट्रपति, राज्यों में राज्यपाल, उच्च न्यायालय, या न्यायिक हैसियत से कार्य करने वाले न्यायाधीश या न्यायमूर्ति विरुद्ध किन्तु न्यायाधीश या न्यायमूर्ति के विरुद्ध प्रशासनिक हैसियत से करने के दौरान जारी की जा सकती है।

6. सत्रावसान (Prorogation)—सत्रावसान (Prorogation) के द्वारा सत्र को समाप्त किया जाता है। अतः इसको स्थगन (Adjournment) से भिन्न समझना चाहिये और इसके द्वारा सत्र समाप्ति नहीं होती है। संसद की बैठक

स्थगन करना तो सदन के हार्थों में होता है पर सत्रावसान (Prorogation) राष्ट्रपति (President) ही कर सकता है।

राष्ट्रपति (President) को लोकसभा (House of the People) भंग करने का अधिकार है। पर प्रश्न उठता है कि यद्यपि राष्ट्रपति को लोकसभा भंग करने का अधिकार प्राप्त है। क्या इस सम्बन्ध में कोई सुनिश्चित नियम या रिवाज है। इस विषय में भारत के राष्ट्रपति के अधिकार तथा लोकसभा (House of the People) भंग करने के रिवाज इंग्लैण्ड के सम्राट (King of the England) के समान हैं।

7. सदनों की संयुक्त बैठक (Joint Sitting of the Houses)— राष्ट्रपति को अधिकार है कि सदन के दोनों सदनों की संयुक्त बैठक बुलाये, (1) जबकि कोई वित्त-विधेयक (Money Bill) के अलावा कोई विधेयक सदन द्वारा पास कर दिया गया है तथा दूसरे सदन द्वारा अस्वीकृत कर दिया हो अथवा (2) जब कि कोई सदन विधेयक में किये जाने वाले संशोधन से अन्तिम रूप से अहसमत हो अथवा (3) जब कि दूसरे सदन द्वारा वह विधेयक पास न किया गया हो और उस विधेयक के प्राप्त होने के बाद छः महीने बीत चुके हों। ध्यान रहे कि यदि किसी संयुक्त बैठक में एक विधेयक उपस्थित हो और मत प्रदान करने वालों की बहुसंख्या द्वारा पास कर दिया गया हो, तो वह विधेयक दोनों सदनों द्वारा पास किया गया माना जायेगा।

8. बंदी प्रत्यक्षीकरण अभिलेख (Write of Habeas Corpus)— बन्दी प्रत्यक्षीकरण याचिका (Habuaus Caspus) का अर्थ होता है शरीर लेकर आओ। इस रिट के द्वारा न्यायालय ऐसे व्यक्ति को जिसे निरुद्ध किया गया है या कारावास में रखा गया है न्यायालय के समक्ष प्रत्यक्ष उपस्थित करा सकता है। ऐसा हो जाने पर न्यायालय उस व्यक्ति के निरुद्ध किये जाने के कारणों की परीक्षा करता है। यदि निरोध कोई विधिक औचित्य नहीं है तो उसे स्वतन्त्र कर दिया जाता है। उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि बंदी के शरीर को न्यायालय के समक्ष पेश करना इस रिट का सारवान् लक्षण नहीं है यह मत **कान्हू सान्याल बनाम् जिला मजिस्ट्रेट, 1974 SC** में किया गया है

रिट निम्नलिखित परिस्थितियों में निकाली जाती है—

- (i) जहाँ निरोध प्रक्रिया के उल्लंघन में है।
- (ii) गिरफ्तारी का आदेश किसी विधि का उल्लंघन करता है।
- (iii) किसी व्यक्ति को किसी प्राइवेट व्यक्ति ने निरुद्ध किया है।
- (iv) किसी व्यक्ति को ऐसी विधि के अधीन निरुद्ध किया गया है जो असंवैधानिक है।
- (v) निरोध आदेश असदभावी है।

विधि के अन्तर्गत साधारण नियम यह है जो व्यक्तिरिट की याचिका करता है वह ऐसा व्यक्ति होना चाहिए जिसके अधिकार का अतिलंघन हुआ है, किन्तु यह नियम बंदी प्रत्यक्षीकरण रिट को लागू नहीं होता। जो व्यक्ति कारावास में निरुद्ध है उसके सामने बहुत सी परेशानियाँ होती हैं। विधि इस बात को समझती है और बंदी की ओर से उसके सगे-सम्बन्धी, मित्र या सामाजिक कार्यकर्ता यह किसी अपरिचित व्यक्ति द्वारा भी याचिका पेश किए जाने की अनुमति देती है।

बंदी प्रत्यक्षीकरण की रिट तब नहीं निकाली जाएगी जब रिट के उत्तर में यह बताया गया है कि कोई व्यक्ति कारावास में सक्षम न्यायालय के आदेश से है। यह रिट तब नहीं दी जाती जब किसी विधिमान्य विधि के अधीन शारीरिक निर्बन्धन लगाए गए हैं। जहाँ यह दर्शाया जाता है कि याची को विधि के प्राधिकार के बिना गिरफ्तार किया गया और कारावास में रखा गया या विद्वेष के आशय से ऐसा किया गया तो न्यायालय धन के रूप में उपर्युक्त प्रतिकर भी दिला सकता है, जैसे महत्वपूर्ण वादों में दिया गया (1) रुदल शाह बनाम् राज्य 1983, (2) भीम सिंह बनाम् जम्मू कश्मीर राज्य 1986 SC

9. प्रतिषेध (Prohibition)—जैसा कि इस लेख (Writ) के नाम से ही आभास होता है कि इसका कार्य किसी को वर्जित करना है। वास्तव में यह वह रिट है जो उच्च न्यायालय द्वारा अधीनस्थ न्यायालय को इस आशय से जारी की जाती है कि वह अधीनस्थ न्यायालय अथवा न्यायाधिकरण को उसके समक्ष लम्बित अथवा की जाने वाली ऐसी कार्यवाही जो विधि अथवा अधिक्षेत्र के बिना की जा रही हो अथवा उसके पूर्ण अथवा आंशिक रूप से उल्लंघन करके की जा रही हो, को रोक दे। वास्तव में इस लेख का मुख्य उद्देश्य अधीनस्थ न्यायालयों के द्वारा की गई न्यायिक त्रुटियों को ठीक करना है।

कभी-कभी अधीनस्थ न्यायालय अथवा न्यायाधिकरण का गठन असंवैधानिक है अथवा उनकी शक्तियों से परे कार्य करता है। इस प्रकार की कार्यवाही करने को रोकने के लिये भी उच्च न्यायालय अथवा सर्वोच्च न्यायालय प्रतिषेध लेख जारी कर सकता है। नैसर्गिक न्याय अथवा प्राकृतिक न्याय के सिद्धान्तों का उल्लंघन यदि अधीनस्थ न्यायालय करता है तो भी उच्च न्यायालय या सर्वोच्च न्यायालय ऐसा कृत्य करने से रोकने के लिए रिट जारी कर सकता है। संक्षेप में निम्नलिखित परिस्थितियों में उच्च न्यायालय अथवा उच्चतम न्यायालय प्रतिषेध लेख (Prohibition Writ) जारी कर सकता है (1) जब अवर न्यायालय (Lower Court) अथवा न्यायाधिकरण (Tribunal) वर्जित मामलों में कार्यवाही करता है। (2) जहाँ अवर न्यायालय ने अपने क्षेत्राधिकार के परे कार्य किया है। (3) जहाँ अवर न्यायालय ने क्षेत्राधिकार न होते हुए कार्य किया है। (4) जहाँ न्यायालय सामान्य विधि अथवा प्राकृतिक विधि के सिद्धान्तों का अनुसरण करने के बजाय उनका उल्लंघन करता है अथवा कानून द्वारा निर्दिष्ट कृत्य से भिन्न प्रकार से कार्यवाही करता है।

10. उत्प्रेषण रिट (Writ of certiorari)—उच्चतम न्यायालय अथवा उच्च न्यायालय अपने अधीनस्थ न्यायालय जो यह लेख जारी करता है। इस रिट या लेख द्वारा अवर न्यायालय (Lower Court) को आदेश दिया जाता है कि वह उसके न्यायिक अथवा समन्यायिक कर्तव्यों के पालन में निर्णीत मामले के समस्त कागज—पत्र उसके पास (उच्च न्यायालय अथवा सर्वोच्च न्यायालय के पास) भेज दे जिससे कि अवर न्यायालय (Lower Court) द्वारा निर्णीत मामले का परीक्षण किया जा सके या प्रक्रिया सम्बन्धी त्रुटि पाई जाने पर अवर न्यायालय के निर्णय को शून्य प्रभावी घोषित किया जा सके अथवा उसको रद्द किया जा सके।

इस रिट (Certiorari Writ) का उद्देश्य यह है कि उच्च न्यायालय अथवा सर्वोच्च न्यायालय अवर न्यायालयों (Lower Courts) के कार्य—कलापों पर निगरानी रखे।

11. अधिकार पृच्छा (Quo Warranto)—अधिकार—पृच्छा (Quo Warranto) का उद्देश्य लोकपद को धारण करने वाले व्यक्ति के उस पद के दावे, अधिकार आदि का परीक्षण करना है कि नहीं उसने सार्वजनिक पद अवैध 1 रूप से तो हड़पा नहीं गया है अथवा उसके उपभोग करने से रोका जाय। अधिकार—पृच्छा का शाब्दिक अर्थ है, 'आपका अधिकार क्या है?' इसको अधिकार—पृच्छा इस कारण कहते हैं इसके द्वारा पदधारी से यह पृच्छा की जाती है अर्थात् पूछा जाता है कि किस अधिकार के अधीन वह उस पद को धारण किये हुए है। यदि न्यायालय का मत होता है कि वह व्यक्ति अवैध 1 रूप से कथित पद को धारण किये हुए है तो न्यायालय उस पद धारक को वह पद छोड़ने का आदेश देता है। इस पर लेख द्वारा एक सार्वजनिक पद के प्रति ही न्यायालय उक्त पृच्छा कर सकता है और ऐसे ही पद के प्रति न्यायालय उक्त रिट भी जारी कर सकता है।

प्राइवेट सेवा का पद इस रिट का विषय नहीं हो सकता है।

11— छद्म विधायन का सिद्धान्त (Doctrine of Colourable Legislation)—यदि संविधान केन्द्र और राज्यों में विधायी शक्ति का विभाजन करता है और मूल अधिकारों के रूप में उन पर आवश्यक सीमाएँ निर्धारित करता है, जैसा कि हमारे संविधान के अन्तर्गत है, तो ऐसे प्रश्न भी उठ सकते हैं कि क्या विधानमण्डल ने शक्ति का प्रयोग करके सांविधानिक सीमाओं का अतिक्रमण किया है या अपनी शक्ति से बाहर कार्य किया है? इस प्रकार का अतिक्रमण प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष हो सकता है। कभी—कभी ऐसा होता है कि यद्यपि विधानमण्डल किसी विधि को बनाने में ऊपरी तौर से अपनी शक्तियों के भीतर कार्य करता है, तथापि सारतः या यथार्थ में वह सांविधानिक सीमाओं का अतिक्रमण करता है। ऐसे परोक्ष विधायन को 'छद्म विधायन' कहते हैं। ऐसे मामलों में अधिनियम का सार (Substance) महत्वपूर्ण होता है, उसका बाह्य रूप या आकृति (form) नहीं। यदि किसी विधान की विषय—वस्तु सारतः उस विधानमण्डल की शक्ति के बाहर है तो उसका बाह्य रूप उसे न्यायालय द्वारा अमान्य घोषित करने से नहीं बचा सकेगा। विधानमण्डल कोई अप्रत्यक्ष या परोक्ष तरीका अपनाकर सांविधानिक सीमाओं का अतिक्रमण नहीं कर सकता है। **आर. एस. जोशी बनाम अजित मिल्स लि. (Colourability)** से तात्पर्य 'अक्षमता' (Incompetency) है। कोई वस्तु छद्मय तब होती है जब वह जिस रूप में प्रकट की जाती है वास्तव में उस रूप में नहीं होती। भारतीय शब्दावली में इसे शमायाश कहते हैं। 'छद्मता' में दुर्भावना का तत्व नहीं होता है।

इस सिद्धान्त का आधार यह है कि जो कार्य विधानमण्डल प्रत्यक्ष रूप से नहीं कर सकता, वह कार्य वह अप्रत्यक्ष रूप से भी नहीं कर सकता है अर्थात् यदि किसी विषय पर उसे विधि बनाने की शक्ति नहीं है तो वह अप्रत्यक्ष तरीके से उस पर विधि नहीं बना सकता है। ऐसे मामलों में न्यायालय विधान की वास्तविक प्रकृति एवं स्वरूप की जाँच करेंगे न कि उसके प्रयोजन (Motive) की जो उसमें प्रत्यक्षतः दृश्यमान है। किन्तु यदि विधानमण्डल को किसी विषय पर विधि बनाने की शक्ति है तो इसका कोई महत्व नहीं है कि वह किसी प्रयोजन से बनाया गया है।

कामेश्वर सिंह बनाम बिहार राज्य इस विषय पर उच्चतम न्यायालय का एकमात्र विनिश्चय है जिसमें छद्म—विधायन के सिद्धान्त पर किसी अधिनियम को अवैध घोषित किया गया है। इसमें बिहार भूमि सुधार अधिनियम, 1950 की विधिमान्यता को चुनौती दी गयी थी। इस अधिनियम के द्वारा जमींदारों की भूमि अधिगृहीत कर ली गयी थी और उन्हें प्रतिकर देने की व्यवस्था थी। जमींदारों को मालगुजारी के रूप में मिलने वाली आय के आधे गार पर प्रतिकर दिया जाना था। इसके अनुसार भूति अधिग्रहण के पूर्व की बकाया धनराशि राज्य में निहित हो जानी थी और उसमें से आधी जमींदारों को प्रतिकर के रूप में दिये जाने की व्यवस्था थी। न्यायालय ने अधिनियम को अविधिमान्य घोषित कर दिया क्योंकि उनमें प्रतिकर को निर्धारित करने के लिए वस्तुतः कोई आधार नहीं विहित किया गया था। यद्यपि ऊपरी तौर से ऐसा करने का प्रयास किया गया था किन्तु अधिनियम में दी हुई व्यवस्था के परिणामस्वरूप जमींदार को कोई प्रतिकर नहीं मिलता था।

12. असंगति (Repugancy)—सामान्य नियम यह है कि ऐसी दशा में केन्द्रीय विधि राज्य के विधानमण्डल की विधि पर अभिभावी होगी। अनुच्छेद 254 यह उपबन्धित करता है कि यदि किसी राज्य के विधानमण्डल द्वारा बनायी गयी विधि का कोई उपबन्ध संसद द्वारा बनायी गयी विधि के, जिसे बनाने के लिए संसद सक्षम है या समवर्ती सूची में प्रमाणित किसी विद्यमान विधि के किसी उपबन्ध के विरुद्ध है तो खण्ड (2) के उपबन्धों के अधीन रहते हुए, संसद द्वारा बनायी गयी विधि चाहे वह राज्य के विधानमण्डल द्वारा बनायी गयी विधि से पहले या उसके बाद में पारित की गयी हो, राज्य की विधि पर अभिभावी होगी और राज्य विधानमण्डल द्वारा बनायी गयी विधि की सीमा तक शून्य होगी। खण्ड (2) में इस नियम का एक अपवाद है। इसके अनुसार यदि राज्य द्वारा समवर्ती सूची वर्णित विषयों पर बनाई गई किसी विधि में कोई ऐसा उपबन्ध है, जो संसद द्वारा उस विषय पर बनायी गयी विधि के या किसी

वर्तमान विधि के विरुद्ध है, तो राज्य द्वारा बनायी गयी ऐसी विधि या वर्तमान विधि, यदि उसको राष्ट्रपति की अनुमति मिल गयी है तो उस राज्य में अभिभावी होगी। उक्त अपवाद का भी एक अपवाद है। खण्ड (2) के परन्तुक के अनुसार संसद राष्ट्रपति की अनुमति के बाद भी उस विषय पर विधि बना सकती है और राज्य द्वारा निर्मित विधि का परिवर्द्धन, परिवर्तन या निरसन कर सकती है। उपर्युक्त नियम में केन्द्रीय विधि की प्रमुखता स्पष्ट है।

जावेर भाई बनाम बम्बई राज्य का मामला इस विषय पर इसका एक अच्छा उदाहरण है। सन् 1946 में केन्द्रीय विधानमण्डल ने आवश्यक वस्तु (अस्थायी शक्ति) अधिनियम पारित किया जिसके अनुसार इसके उल्लंघन करने वालों को धारा 3 के अन्तर्गत अधिक से अधिक 3 वर्ष का कारावास या जुर्माना या दोनों दण्ड दिया जा सकता था। बम्बई राज्य के विधानमण्डल ने इस दण्ड को कम समझकर एक अधिनियम पारित करके इस दण्ड को बढ़ाकर 7 वर्ष का कारावास या जुर्माना या दोनों कर दिया। इस अधिनियम को गवर्नर जनरल की अनुमति प्राप्त हो गयी और इस प्रकार केन्द्रीय विधि निरसित हो गयी। किन्तु 1957 में संसद ने अपने 1946 वाले अधिनियम में संशोधन करके धारा 3 में विहित दण्ड में काफी परिवर्तन कर दिया। उच्चतम न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि 1957 में संसद के संशोधित अधिनियम द्वारा बम्बई विधानमण्डल को अधिनियम विवक्षित रूप से (Impliedly) निरस्त हो गया अतः केन्द्रीय विधि संवैधानिक है।

13. सामूहिक उत्तरदायित्व (Collective Responsibility)—मन्त्रिपरिषद् का सामूहिक उत्तरदायित्व संसदीय सरकार का मुख्य आधार है। इंग्लैण्ड में यह सिद्धान्त एक महत्वपूर्ण रूढ़ि (convention) पर आधारित है। भारतीय संविधान ने स्पष्ट उपबन्ध द्वारा इस सिद्धान्त को सुरक्षित किया है। अनुच्छेद 75 (3) के अनुसार मन्त्रिपरिषद् लोकसभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी है। सामूहिक उत्तरदायित्व का अर्थ यह कि मन्त्रीगण अपने कार्यों के लिए टीम के रूप में लोकसभा के प्रति उत्तरदायी होते हैं। मन्त्रीगण एक टीम के रूप में कार्य करते हैं और मन्त्रिमण्डल में लिए गये सभी निर्णय उसके सदस्यों के संयुक्त निर्णय होते हैं। मन्त्रिमण्डल की बैठक में मन्त्रियों में किसी विषय पर कितना भी मतभेद क्यों न रहा हो, किन्तु एक बार जब निर्णय लिया जाता है तब सभी मन्त्रियों को उसे स्वीकार करना होगा और विधानमण्डल में या उसके बाहर उसका समर्थन करता होगा। लार्ड सैलिसबरी ने कहा है कि जो निर्णय मन्त्रिमण्डल में लिया जाता है, सभी मन्त्रिगण जो उससे इस्तीफा नहीं दे देते हैं, पूर्णरूप से उत्तरदायी होते हैं और बाद में वे यह नहीं कह सकते हैं कि उन्होंने वहाँ अन्य लोगों के कहने से सहमति दे दी थीय लेकिन वस्तुतः वे उससे सहमत नहीं हैं। यदि कोई मन्त्री प्रधानमन्त्री अथवा मन्त्रिपरिषद् की नीतियों से असहमत है तो उसके लिए त्यागपत्र देने के अलावा दूसरा कोई विकल्प नहीं है। यह प्रधानमन्त्री के हाथ में सबसे बड़ा अस्त्र है जिसके माध्यम से वह मन्त्रिपरिषद् के अपने सहयोगियों में एकता और अनुशासन बनाये रखता है। इस सिद्धान्त के अनुसार मन्त्रिपरिषद् लोकसभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी है। इसका अर्थ यह है कि यदि मन्त्रिपरिषद् लोकसभा का विश्वास खो देती है, अर्थात् किसी नीति के प्रश्न पर पराजित हो जाती है तो मन्त्रिपरिषद् को इस्तीफा दे देना पड़ता है।

14. प्रशासनिक अधिकरण (Administrative Tribunals)—इसकी उत्पत्ति संविधान के अनुच्छेद 323 से हुई है। यह संघ और राज्यों के विषयों के सम्बन्ध में लोक सेवाओं और सार्वजनिक पदों पर नियुक्त व्यक्तियों की सेवा की भर्ती और सेवा शर्तों से सम्बन्धित विवादों और शिकायतों का अधिनिर्णयन करता है।

सामान्य न्यायालयों से हटकर जब किसी स्वतन्त्र न्यायिक प्रकार के अभिकरण का गठन शासन करता है तब उसे प्रशासनिक न्यायाधिकरण या अर्द्ध न्यायिक अभिकरण कहते हैं। इन्हें शक्तियाँ भी शासन द्वारा ही प्रदान की जाती हैं। इनका स्रोत संविधान भी हो सकता है। प्रशासन में प्रशासनिक अधिनिर्णय के महत्व को देखते हुए सिविल सेवा न्यायाधिकरणों की स्थापना की जाती है।

1. आयकर अपील न्यायाधिकरण
2. रेलवे रेट न्यायाधिकरण
3. श्रम न्यायालय
4. औद्योगिक न्यायाधिकरण
5. किराया न्यायाधिकरण।

B.A.LL.B.-4th Sem. Paper-VI Family Law-II (Muslim Law)

प्रश्न न० 1— मुस्लिम-विधि के विभिन्न स्रोतों की विवेचना कीजिए।

उत्तर— मुस्लिम विधि के स्रोतों से तात्पर्य उन विषयवस्तु से है जिनसे विधि को प्राप्त किया जा सकता है। मुस्लिम विधि के स्रोतों को दो भागों में बाँटा गया है—

(क) प्राथमिक स्रोत। (ख) गौण स्रोत या द्वितीयक स्रोत।

(क) प्राथमिक स्रोत या प्रधान स्रोत— प्राथमिक स्रोतों को पुनः चार भागों में विभाजित किया गया है जो निम्नलिखित हैं—

(1) कुरान— कुरान शब्द की उत्पत्ति 'कुरा' जो अरबी शब्द से हुई जिसका अर्थ है 'पढ़ना' अथवा जो पढ़ा जाना चाहिए। मुसलमान लोग कुरान को ईश्वर के वचन के रूप में विश्वास करते हैं। कुरान एक दैवीमूल की पुस्तक है जो मोहम्मद साहब के माध्यम से जनहित के लिए अवतरित हुई है। काल गणना की दृष्टि से कुरान मुस्लिम विधि का प्राथमिक स्रोत माना गया है। काल गणना के अनुसार यह प्राथमिक स्रोत इसलिए है क्योंकि कुरान से ही वर्तमान मुस्लिम समाज का जन्म हुआ है यद्यपि पैगम्बर

मोहम्मद साहब का कहना था कि इस्लाम कोई नया धर्म नहीं है यह तो पहाड़ियों की भाँति पुरातन है। पैगम्बर मोहम्मद साहब को प्रथम दैवी संदेश समय-समय पर उनके जीवनपर्यन्त अवतरित होते रहे लेकिन इन्हें पैगम्बर साहब के जीवन काल में संग्रहित व क्रमबद्ध नहीं किया गया। अबू बकर ने जो पैगम्बर साहब के खलीफा हुए और सन् 632 ई. वे मरे, पहली बार कुरान के विभिन्न लेखांशों का संग्रह किया गया तथा इनका संकलन करके एक व्यवस्थित पुस्तक का रूप प्रदान किया जो कुरान कहलाया अतः दैवी संदेशों के संकलन कुरान का प्रत्येक शब्द स्वयं ईश्वर (अल्लाह) का सन्द माना जाता है। मोहम्मद साहब तो केवल संदेशावाहक(रसूल) थे और अपने साथियों से कहा करते थे कि कुरान को याद कर लिया करो और लिखा करो। इसी कारण मुसलमानों का इस पवित्र पुस्तक से इतना प्रेम एवं लगाव है कि संग्रह के लगभग एक हजार वर्ष भी यह अपने वास्तविक रूप में मौजूद है। कुरान की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं—

(1) कुरान की उत्पत्ति दैवी है। इस्लाम के अन्तर्गत ऐसा विश्वास किया जाता है कि इस पवित्र पुस्तक का प्रत्येक शब्द सर्वशक्तिमान ईश्वर की देन है। पैगम्बर साहब ने इन शब्दों को मात्र उच्चारित किया है। उन्हें बनाया नहीं है चूँकि इन ईश्वरीय शब्दों का संकलन है इसलिए इसका प्रत्येक शब्द अपरिवर्तनीय है, आपत्तिहित या अतिप्रतिशोधनीय है। दैवी उत्पत्ति होने के कारण विधि-स्रोत के रूप में कुरान सर्वोच्च एवं अन्तिम प्रभाव माना जाता है।

(2) काल गणना के अनुसार कुरान मुस्लिम विधि का प्राथमिक स्रोत है। वर्तमान मुस्लिम-समुदाय का आविर्भाव कुरान में निहित धार्मिक शिक्षाओं के फलस्वरूप हुआ है। अतः इस्लामी विधि का कोई भी अध्ययन कुरान से प्रारम्भ कुरान से प्रारम्भ होना आवश्यक है।

(3) कुरान सुरा या आयत में विभक्त है। इसका प्रत्येक दन्द अथवा पद्यांश "आयत" कहलाता है। पूरे कुरान में 6237 आयतें हैं। तथा कुल 114 अध्याय हैं जिन्हें 'सुरा' कहा जाता है। ये अध्याय कार्यक्रम के अनुसार नहीं रखे गये हैं वरन् प्रथम अध्याय को छोड़कर सबसे बड़ा अध्याय पहले तब उससे छोटा इत्यादि लघुतर क्रम में रखे गये हैं।

(4) कुरान में धर्म, कानून तथा नैतिकता का सम्मिश्रण है। कहीं-कहीं तो धार्मिक नैतिक तथा विधिक नियम इस प्रकार या कानून का है और कौन केवल धार्मिक या नैतिक। ऐसा विश्वास किया जाता है कि धर्म और नैतिकता सम्बन्धी कुरान की आयतें मक्का से प्रकट हुई और विधि सम्बन्धी आयतें में उतरीं और विधि सम्बन्धी आयतों की संख्या 200 है जो कि विभिन्न अध्यायों में बिखरी हुई है और केवल इन आयतों को ही विधि के स्रोत के रूप में मान्यता प्रदान की जाती है।

(5) कुरान में विधि विषयक आयतें, कई प्रकार से दी गयी हैं, कुछ आयतें आपत्तिजनक और बुरी प्रथाओं (जैसे बहुविवाह, जुआ, ऊँचे दर पर ब्याज वसूलना तथा नवजात कन्याओं की हत्या आदि) के समाप्त करने के लिए है जो वास्तविक जीवन में घटित समस्याओं के निवारण के लिए अवतरित हुई।

(6) कुरान में निहित शब्दों एवं आयतें दैवी उत्पत्ति के हैं जिनमें परिवर्तन करना थोड़ा-सा भी सम्भव नहीं है। अपरिवर्तन होने के कारण समाज की बदलती आवश्यकताओं के अनुसार आयतों में न तो संशोधन किया जा सकता है और न ही इनमें कोई परिवर्तन किया जा सकता है। इसलिए यदि किसी आयत का कोई विशिष्ट अर्थ शिया या सुन्नी सम्प्रदाय के विधिशास्त्रियों द्वारा पहले ही दिया जा चुका है तो अदालतों को उस आयत विशेष का कोई दूसरा अर्थ देने का कोई अधिकार नहीं है।

(7) कुरान मुस्लिम विधि की पूर्ण संहिता नहीं है। अधिकांश आयतें धर्म, दर्शन तथा नैतिकता से सम्बन्धित हैं। कुरान में कुल 200 आयतें ही ऐसी हैं जिनमें विधिक नियमों का उल्लेख है और इनमें भी 80 आयतें ही वैयक्तिक विधि से सम्बन्धित हैं। इस प्रकार मुस्लिम वैयक्तिक विधि व्याख्या अत्यन्त ही संक्षिप्त है। वैयक्तिक विधि की सामान्य रूप रेखा ही दी गयी है। इनके विस्तृत उल्लेख कुरान में नहीं है।

इस प्रकार कुरान मुस्लिम विधि का एक ऐसा स्रोत है जो सीधे इश्वरीय संदेशों के रूप में प्राप्त हुआ है अतः उसे सर्वोच्च एवं सर्वोत्तम स्रोत माना जाता है।

(2) सुन्नत अथवा अहादिस(Tradition of the Proh)— ‘सुन्ना’ शब्द का शाब्दिक अर्थ ‘कड़ा हुआ रास्ता’ है। यह पैगंबर के कुछ अभ्यास और उदाहरणों को दर्शाता है, जो कुछ भी पैगंबर ने भगवान के संदर्भ के बिना कहा या किया, और उनकी परंपराओं के रूप में माना जाता है। यह मुस्लिम कानून का दूसरा स्रोत है। पैगंबर के शब्दों में परंपराएं अल्लाह का आदेश हैं। जहां अल्लाह के शब्द किसी दिए गए कानून के नियम के लिए अधिकार प्रदान नहीं कर सकते थे, पैगंबर के शब्दों को एक अधिकार के रूप में माना जाता था क्योंकि ऐसा माना जाता है कि उनकी बातें भी अल्लाह से प्रेरणा लेती थीं। मुस्लिम कानून के अनुसार, रहस्योद्घाटन दो प्रकार के होते हैं अर्थात् प्रकट (जहीर) और आंतरिक (बातिन)। प्रकट या अभिव्यक्त रहस्योद्घाटन अल्लाह के शब्द थे और देवदूत गेब्रियल के माध्यम से पैगंबर के पास आए। ऐसे खुलासे कुरान का हिस्सा बन गए। दूसरी ओर, आंतरिक रहस्योद्घाटन वे थे जो ‘पैगंबर के शब्द’ थे और गेब्रियल के माध्यम से नहीं आए थे, लेकिन अल्लाह ने अपने कथनों में विचारों को प्रेरित किया था। इस तरह के आंतरिक खुलासे सुन्ना का हिस्सा बने। इसलिए, परंपराएं कुरान से इस अर्थ में भिन्न हैं कि कुरान में ईश्वर के शब्द हैं जबकि सुन्ना पैगंबर की भाषा में है।

सुन्ना में पैगम्बर की निम्नलिखित परम्परायें निहित हैं—

(क) सुन्नत-उल-फैल— ऐसी परम्पराओं में पैगम्बर साहब साहब के आचरण सन्निहित है अर्थात् पैगम्बर साहब स्वयं के कृत्य ऐसी परम्पराओं की श्रेणी में आते हैं।

(ख) सुन्नत-उल-कौल— ऐसी परम्पराओं में पैगम्बर साहब के स्वयं के उपदेश आते अर्थात् पैगम्बर साहब द्वारा दी गयी व्यवस्था और उनके वचन।

(ग) सुन्नत-उल-तकरीर— अर्थात् पैगम्बर मोहम्मद का मौन समर्थन अर्थात् जो कुछ उनकी उपस्थिति में बिना उनकी आपत्ति के किया गया, किसी स्थिति अथवा घटना के बारे में पैगम्बर का मौन रह जाना उनका मौन माना गया है।

परम्पराओं को सुन्ना रूप के रूप में विधि का प्रामाणिक स्रोत केवल तभी माना जाता था जब उनका वर्णन किसी योग्य एवं सक्षम वाचक द्वारा किया गया हो। एक योग्य वाचक में निम्नलिखित योग्यतायें होनी चाहिए—

(1) वह वयस्क तथा स्वस्थ मस्तिष्क वाला हो। (2) उसकी स्मरण शक्ति तीक्ष्ण हो। (3) वह मुस्लिम हो तथा

(4) नीतिपरायण आचरण वाला हो। पैगम्बर साहब की निम्नलिखित तीन पीढ़ियों को योग्य वाचक माना गया है—

(क) पैगम्बर साहब के सहयोगी— ऐसे व्यक्ति जिन्हें पैगम्बर के साथ रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था उन्हें पैगम्बर साहब का सहयोगी कहा जाता है।

(ख) सहयोगियों के उत्तराधिकारी— ऐसे व्यक्ति जिन्हें पैगम्बर साहब के साथ रहने का सौभाग्य तो नहीं प्राप्त हुआ था। परन्तु जिन्हें पैगम्बर साहब के सहयोगियों के साथ रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था, उन्हें उत्तराधिकारी कहा जाता है।

(ग) उत्तराधिकारी के उत्तराधिकारी— सहयोगियों के उत्तराधिकारियों के दिवंगत हो जाने पर इन उत्तराधिकारियों के उत्तराधिकारियों द्वारा प्रमाणित परम्परायें भी मान्य थी लेकिन ये सबसे कम विश्वसनीय मानी गयी, अतः महत्व की दृष्टि से उत्तराधिकारियों के उत्तराधिकारियों के सुन्ना को तृतीय स्थान पर रखा गया है।

प्रामाणिकता के आधार पर परम्पराओं के तीन भागों में विभाजित किया गया है—

(अ) अहदीस-ए-मुतावातिर— समस्त मुस्लिम समाज ऐसी परम्पराओं को प्रामाणिक मानता है। ऐसी परम्पराओं की संख्या केवल 5-6 पीढ़ियों तक ही सीमित है। ऐसी परम्परायें कुरान की आयतों की भाँति प्रामाणिक मानी जाती है।

(ब) अहदीस-ए-मशहूर— मोहम्मद साहब की ऐसी परम्परायें जिसे मुस्लिम समाज के बहुमत द्वारा मान्यता मिली और वे काफी मशहूर हुई ‘अहदीस-ए-मशहूर’ कहलाई।

(स) अहदीस-ए-अहद— इस कोटि से सुन्ना न तो सर्वसम्मति द्वारा मान्य थे और न ही इनका प्रचलन सदैव रहा है। समाज के केवल अल्पसंख्यक लोगों ने ही इनका अनुसरण किया और समाज में इस प्रकार के सुन्ना का प्रचलन एकाकी परम्पराओं के रूप में सीमित रहा। अधिकांश विधिशास्त्री अहादिस-ए-अहद को मुस्लिम विधि नहीं माना।

(3) इज्मा— किसी नयी समस्या के लिए कुरान तथा सुन्ना में कोई नियम प्राप्त होने विधिवेत्ताओं के मतैक्य निर्णय द्वारा नया कानून प्राप्त कर लिया जाता था। इस प्रकार का मतैक्य निर्णय इज्मा कहलाया जो मुस्लिम का विधि का स्रोत माना जाता है अर्थात् किसी समय के मुस्लिम विधिशास्त्रियों के द्वारा किसी विशिष्ट विषय पर दी गयी सहमति ही इज्मा है।

इज्मा का सिद्धान्त कुरान के निम्नांकित आदेशों पर आधारित है— “अल्लाह अपने बन्दे (लोगों) को मानो, उससे रसूल की आज्ञा मानो और तुम में से जो प्राधिकारी हो, उनकी आज्ञा मानो, यदि तुम्हें ज्ञान हो तो उनसे पूछो जिन्हें ज्ञान है।”

इज्मा इस्लामी कानून के तीसरे स्रोत का प्रतिनिधित्व करता है जो प्रत्यायोजित कानून की तरह है। इसे किसी धार्मिक मामले पर एक निश्चित अवधि के न्यायविदों की आम सहमति के रूप में परिभाषित किया गया है। इसे कार्रवाई के लिए पर्याप्त साधन माना जाता है क्योंकि इस्लाम के पैगंबर ने कहा था, “मेरा समुदाय किसी त्रुटि पर सहमत नहीं होगा।”

इज्मा की रचना—कानून के किसी विषय पर नये नियम की आवश्यकता होने पर विधिशास्त्री जो मुजतहिद कहलाते थे, अपने मतैक्य सहमति द्वारा इच्छित नियम बना लिया करते थे। इस प्रकार मुजतहिद के मतैक्य नियम द्वारा गया कानून का नियम इज्मा कहलाता। इज्मा द्वारा कानून के लिए कुछ विशिष्ट लोगों को उनकी योग्यता के आधार चुना जाता था। मुजतहिदों की न्यूनतम योग्यता थी—

(1) उन्हें मुस्लिम होना चाहिए। (2) उन्हें कानून का ज्ञान होना चाहिए। (3) उन्हें स्वतन्त्र निर्णय लेने की क्षमता होनी चाहिए।

इज्मा के निर्माण की पूरी प्रक्रिया इजतहिद कहलाती है। इज्मा के महत्व और श्रेष्ठता के आधार पर इज्मा का वर्गीकरण तीन श्रेणियों में किया गया है—

(क) सहयोगियों का इज्मा— पैगम्बर मोहम्मद के सहयोगी सबसे उत्तम कोटि के विधिवेत्ता माने जाते थे।

(ख) विधिशास्त्रियों का इज्मा— पैगम्बर मोहम्मद साहब की मतैक्य सम्मति के अभाव में अन्य विधिशास्त्रियों का इज्मा मान्य हुआ। अधिकांशतः हनफी नियम इसी कोटि के इज्मा द्वारा प्रतिपादित किये गये थे।

(ग) जनसाधारण का इज्मा— मुस्लिम समाज के बहुसंख्यक मुस्लिम जनों का मत इस श्रेणी के अन्तर्गत रखा गया है लेकिन मुस्लिम—विधि के स्रोत के रूप में इस श्रेणी के इज्मा का निम्नलिखित दो कारणों से कोई मूल्य नहीं है। प्रथम—इतने बड़े मुस्लिम समाज के बहुसंख्यक लोगों का एक स्थान पर एकत्र होकर अपना मत व्यक्त लगभग असम्भव ही रहा अतः पूर्ण बहुमत भी कभी प्राप्त नहीं हुआ। द्वितीय— सभी मुस्लिम विधिवेत्ता नहीं माने जा सकते।

(4) कियास— कियास अनिवार्य रूप से व्याख्या का एक उपकरण है और मौजूदा कानून को बदलने का साधन नहीं है, बल्कि इसका उपयोग केवल एक नई तथ्यात्मक स्थिति के लिए कुरान और सुन्ना के अनुरूप कानूनी सिद्धांत खोजने के लिए किया जा सकता है। इज्तिहाद का अर्थ है “व्यक्तिगत तर्क”। इसमें इस्लामी कानून के नियमों का ज्ञान और किसी के निर्णय का अभ्यास दोनों शामिल हैं यदि न्यायविदों को अपना तर्क लागू करने की अनुमति नहीं दी गई तो कियास भी असंभव होगा।

कियास की विधि से नियम प्राप्त करने के लिए केवल निम्नलिखित दो शर्तें आवश्यक थी।

(1) सादृश्यता स्थापित करने वाले मुजतहिद अर्थात् विधिशास्त्री रहा हो, तथा

(2) उसने नियम को कुरान सुन्ना या इज्मा के किसी निश्चित मूल पाठ से निर्गमित किया हो।

मुस्लिम—विधि के रूप में कियास के सन्दर्भ में दो बातें उल्लेखनीय हैं—

(1) विधिशास्त्रियों का मतैक्य आवश्यक नहीं है। केवल एक विधिशास्त्री ही नियम निर्गमित करने के लिए पर्याप्त है।

(2) कियास द्वारा कानून प्राप्त करने की विधि अत्यन्त वैज्ञानिक है।

प्रश्न न० 2— “मुस्लिम विधि के अनुसार एक विशुद्ध दीवानी संविदा है। व्याख्या कीजिए।

उत्तर— मुस्लिम विधि में विवाह सम्पन्न होने के लिए किसी प्रकार के धार्मिक अनुष्ठान विधितः आश्यकत नहीं है लेकिन प्रत्येक कानून में कुछ ऐसे प्रावधान अवश्य हैं जो विवाह की मान्यता के लिए आवश्यक हैं। मुस्लिम विधि में विवाह के लिए आवश्यक तत्व निम्नलिखित हैं जिनके न करने से विवाह या तो निष्प्रभावी हो जाते हैं या अनियमित हो जाते हैं। ये आवश्यक तत्व निम्नलिखित हैं—

(1) प्रस्ताव (Proposal इजब) एवं स्वीकृति अथवा कबूल (Acceptance) (2) सहमति (3) साक्षी अर्थात् गवाह

(4) विवाह करने की क्षमता (5) वर्जित सम्बन्धों का अभाव

(1) प्रस्ताव एवं स्वीकृति— अन्य संविदाओं के समान विवाह भी प्रस्ताव एवं स्वीकृति से पूर्ण होता है। यह आवश्यक है कि विवाह का एक पक्षकार दूसरे पक्षकार से विवाह करने का प्रस्ताव करे। जब दूसरा पक्षकार प्रस्ताव की स्वीकृति दे देता है तभी विवाह पूर्ण होता है। अतः हम यह कहते हैं कि व्यावहारिक संस्था के रूप में विवाह की वही स्थिति है जो किसी अन्य संविदा की।

मुसम्मात वशीरन बनाम मोहम्मद हुसैन के वाद कहा गया है कि प्रस्ताव और स्वीकृति देने की कोई निश्चित तरीका नहीं बताया गया है। इसका साक्ष्य कि स्त्री ने अपना मत विवाह करने के लिए दे दिया है और पुरुष ने मेहर देना स्वीकार कर लिया है, विवाह के लिए पर्याप्त है। प्रस्ताव और स्वीकृति प्रकट करने वाले शब्दों का उच्चारण दोनों पक्षकार एक—दूसरे के कथन को सुन सकें।

प्रस्ताव और स्वीकृति का एक बैठक में पूरा होना आवश्यक है। यदि प्रस्ताव एक बैठक में और स्वीकृति दूसरे बैठक में हुई हो तो विवाह मान्य नहीं माना जायेगा।

(2) सहमति— विवाह के पक्षकारों की स्वतन्त्र सहमति का होना आवश्यक है। इतना ही नहीं उनकी सहमति भय, अनुचित दबाव या कपट से मुक्त होनी चाहिए अर्थात् विवाह के विधिमान्य होने के लिए पक्षकारों या उनके अभिभावकों की सहमति आवश्यक है। ऐसे लड़के या लड़की के मामले में जिसने वयस्कता न प्राप्त की हो, विवाह वैध न होगा जब तक कि विधिक संरक्षक ने उसके लिए अनुमति न दे दी हो। यदि विवाह के पक्षकार स्वस्थ चित्त और वयस्क है तो ऐसी दशा में स्वयं उनके द्वारा सहमति का दिया जाना आवश्यक है।

सहमति अभिव्यक्त या विवक्षित हो सकती है। मुस्कराना, हँसना या शान्त रहना एक उपलक्षित सहमति कही जाती है जहाँ पर विवाह के लिए दबाव, धमकी, अनुचित असर या अन्य किसी प्रकार की जबरदस्ती सहमति ली गयी है तो ऐसी सहमति को स्वतन्त्र सहमति न हो कहा जा सकता है। दबाव से ली गयी सहमति विवाह को अमान्य कर देती है, किन्तु हनफी शाखा का मत है कि निकाह दबाव के द्वारा मान्य है। **कुलसुम बीबी बनाम अब्दुल**

कादिर (1921) 43 बम्बई 151 के वाद में कहा गया कि विवाह के समय पत्नी द्वारा गर्भ का छिपाना विवाह को अवैध नहीं बना देता।

सहमति किसी शर्त या घटन पर आधारित नहीं होनी चाहिए।

(3) **खासी या गवाह**— सुन्नी विधि के अन्तर्गत प्रस्ताव और स्वीकृति दो ऐसे पुरुष या एक पुरुष और दो स्त्री साक्षियों की उपस्थिति में होना जरूरी है जो स्वस्थ चित्त और वयस्क मुसलमान हो। साक्षियों की अनुपस्थिति विवाह को शून्य नहीं बल्कि अनियमित बना देती है। शिया विधि के अन्तर्गत विवाह के समय नहीं बल्कि विवाह विच्छेद की घोषणा के समय साक्षी आवश्यक होते हैं अतः शिया विधि के अन्तर्गत साक्षियों की अनुपस्थिति में किया गया विवाह पूर्णतया वैध माना जाता है।

(4) **विवाह करने की क्षमता**— प्रत्येक नाबालिग व बालिग व्यक्ति जो मुस्लिम हो विवाह करने योग्य समझा जाता है। वह पति-पत्नी होने के योग्य समझा जाता है। जो व्यक्ति बालिग एवं स्वस्थ चित्त है वह स्वतः विवाह कर सकता है और नाबालिग या पागल है वे अपने अभिभावक की मध्यस्थता द्वारा ही विवाह कर सकता है। विवाह करने की क्षमता के लिए निम्नलिखित तीन बातों का होना आवश्यक है— (1) स्वस्थ मस्तिष्क (2) स्वतन्त्र सहमति (3) वयस्कता।

अवयस्क तथा पागल के विवाह में अभिभावकता— अब्दुल कासिम बनाम मुसम्मत जमीला खातून (1040) कलकत्ता 251 के वाद में कहा गया कि अभिभावक की अनुमति के बिना किसी अवयस्क का विवाह अमान्य होता है जब तक कि वयस्कता प्राप्त कर लेने पर उसका अनुसमर्थन न किया जाए।

यदि विवाह के पक्षकार नाबालिग हो तो संविदा करने का अधिकार उनके स्थान पर निम्नलिखित क्रम में उल्लेखित व्यक्तियों को होता है— (1) पिता, (2) पितामह, चाहे जितनी पीढ़ी ऊपर के हों, (3) सगा भाई, (4) सहोदर भाई, (5) सगे भाई का पुत्र, (6) सहोदर भाई का पुत्र, (7) सगा चाचा, (8) सहोदर चाचा, (9) सगे चाचा का पुत्र, (10) सहोदर चाचा का पुत्र।

इन पुरुष संरक्षकों के पश्चात् निम्न स्त्री एवं बन्धु नातेदार संरक्षक में आते हैं—(1) माता, (2) दादी, (3) नानी, (4) सगी बहन, (5) सहोदर बहन, (6) एकोदर रक्त बहन, (7) एकोदर रक्त भाई, (8) एकोदर रक्त भाई के वंशज, (9) एकोदर रक्त बहन के वंशज, (10) बुआ, (11) मामा, (12) मौसी, (13) चाचा की पुत्री और उसके वंशज।

शिया विधि के अन्तर्गत केवल पिता और पितामह को, चाहे वे जितनी पीढ़ी ऊपर हों, अवयस्क या विक्षिप्त के विवाह की संविदा करने का अधिकार होता है।

विवाह अभिभावक को स्वस्थ मस्तिष्क का वयस्क तथा मुसलमान होना आवश्यक है।

(5) **वर्जित सम्बन्धों का अभाव**— पक्षों के विवाह में कोई बाधा न होनी चाहिए। कुछ पूर्ण निषेध है जिनसे विवाह नियमप्रभावी हो जाता है।

प्रश्न न0 3— “वयस्कता के विकल्प” की प्रकृति एवं विस्तार का संक्षेप में वर्णन कीजिए। विधायिका के द्वारा कहाँ तक इसके प्रावधानों का संशोधन हुआ है।”

उत्तर— यौवन का विकल्प— वयस्कता का विकल्प ऐसे अवयस्क लड़के या लड़की का, जिसके विवाह की संविदा अभिभावक द्वारा की गयी हो, वयस्कता प्राप्त कर लेने पर विवाह की सस्वीकृति या पुष्टि का अधिकार है, कुछ विशेष परिस्थितियों में किसी मुसलमान लड़के या लड़की को जिसके विवाह की संविदा वैवाहिक अभिभावक द्वारा की गयी हो, वयस्कता प्राप्त कर लेने पर विवाह को अस्वीकार कर देने का विकल्प प्राप्त है। अवयस्क बालकों के इस अधिकार को वयस्कता का विकल्प कहते हैं एवं अस्वीकार के समय तक विवाह मान्य होता है।

बम्बई उच्च न्यायालय ने अब्दुल करीम बनाम अमीना बाई (1935) 59 बम्बई 529 के वाद में निर्णय दिया कि पत्नी को दिया गया अस्वीकार का विकल्प ऐसे सिद्धान्तों पर आधारित है जिन पर कुरान में बार-बार जोर दिया गया है। यह अभिरक्षा के उन साधनों में से एक है जिनके द्वारा इस्लाम स्त्रियों और बच्चों पर कठोर दबाव डालने वाली इस्लाम के पूर्व की प्रथाओं में कमी लाता है।

मुस्लिम विधिशास्त्री व्यक्ति के जीवन को तीन अवस्थाओं में विभाजित करते हैं— (1) सगीर, (2) सरीरी, (3) बुलुग सगीर वह अवस्था है जब लड़के या लड़की की उम्र सात वर्ष से कम हो। सरीरी अवस्था सात और पन्द्रह के बीच की अवस्था होती है। बुलुग अवस्था पन्द्रह वर्ष की अवस्था पूर्ण होते ही प्रारम्भ हो जाती है। सगीर अवस्था में किया गया विवाह शून्य होता है चाहे संरक्षक की सहमति से हो या न हो। सरीरी अवस्था में लड़के या लड़की की सहमति विवाह के लिए मान्य नहीं होती है किन्तु लड़के या लड़की का विवाह उसके संरक्षक द्वारा किया जा सकता है। बुलुग अवस्था के प्राप्त होते ही लड़का या लड़की विवाह के प्रयोजन के लिए बालिग समझे जाते हैं और वे संरक्षक की सहमति के बिना भी विवाह कर सकते हैं।

अगर लड़के या लड़की का विवाह उसके अभिभावक ने दूसरी अवस्था में किया है तो उन्हें तीसरी अवस्था में अभिभावक द्वारा किए गए विवाह का अनुसमर्थन या उसके अस्वीकार करने का अधिकार प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार यह देखा जाता है कि इस विकल्प के अधिकार का उद्भव दूसरी अवस्था में होता है और उसका लाभ इस तीसरी अवस्था में उठाया जाता है, जब वह पन्द्रह वर्ष की आयु पूरी कर लेते हैं।

यौनवावस्था के विकल्प के सम्बन्ध में प्राचीन मुस्लिम विधि— यदि अवयस्क का विवाह पिता या पितामह ने किया हो तो विवाह मान्य और अवयस्क पर बन्धनकारी होता है और अवयस्क वयस्कता प्राप्त कर लेने पर उसे सिवा अत्यन्त विशिष्ट परिस्थितियों के अस्वीकार नहीं कर सकता। पिता या पितामह द्वारा अवयस्क का विवाह कराये जाने

पर अवयस्क वयस्क होने पर विवाह तभी कर सकता है जब पिता या पितामह कपट या लापरवाही का हो या जब विवाह से अवयस्क को प्रत्यक्षतः क्षति पहुँचती हो। उदाहरण— यदि पिता या पितामह का विवाह किसी पागल व्यक्ति से कर देता है अथवा दूल्हा रोगी हो या जड़ बुद्धि हो तो ऐसी दशा में अवयस्क हो जाने पर पिता या पितामह के द्वारा कराये गये इस विवाह को अस्वीकार कर सकता है। पिता या पितामह से भिन्न अभिभावक द्वारा कराये गये विवाह को अवयस्क वयस्क हो जाने पर बिना कोई कारण दिये अस्वीकार या अनुसमर्थित कर सकता है।

यदि लड़की को विवाह की जानकारी हो तो वयस्कता प्राप्त करने पर उसे तुरन्त ही विकल्प के अधिकार का प्रयोग करना जरूरी है। कोई अनुचित विलम्ब उसे विकल्प के अधिकार से वंचित कर देगा तो विकल्प समाप्त हो जाता है।

पुरुष के विवाह अस्वीकार करने का विकल्प तक बना रहता है जब तक कि वह संविदा का अनुसमर्थन (1) सुव्यक्त घोषणा, (2) मेहर का भुगतान, अथवा (3) समागम द्वारा न कर दे।

मुस्लिम विधि के अन्तर्गत यौवनावस्था के विकल्प से सम्बन्धित क्वीमस विधि (आधुनिक) निम्नलिखित है—

(1) पिता या पितामह द्वारा कराये गये विवाह में यौवनावस्था के विकल्प का अधिकार नहीं रहता। पिता या पितामह की सहमति से सम्पन्न कराया गया अवयस्क का विवाह सामान्यतः उस अवयस्क के लिए बाध्यकारी माना जाता है लेकिन यह सिद्ध हो जाने पर कि पिता अथवा पितामह ने उस अवयस्क का विवाह कपटपूर्ण अर्थात् धोखा देकर या असावधानी—पूर्वक सम्पन्न कराया था तो उसे यौवनावस्था प्राप्त करने का विवाह को निरस्त अथवा निराकृत कर देने का अधिकार है।

(2) 1939 से पहले पति तथा पत्नी दोनों के लिए यौवनावस्था के विकल्प का उपर्युक्त नियम समान था लेकिन मु. वि. वि. अधि. 1939 की धारा 2 (7) के अन्तर्गत पत्नी को यौवनावस्था के विकल्प का अधिकार पिता अथवा पितामह द्वारा सम्पन्न कराये गये विवाह में भी प्राप्त है।

(3) मु. वि. वि. अधि. 1939 की धारा 2(7) के अनुसार यौवनावस्था के विकल्प का अधिकार पत्नी को 18 वर्ष तक ही प्राप्त है अर्थात् 15 वर्ष की आयु प्राप्त कर लेने के बाद पत्नी को 18 वर्ष की आयु पूर्ण ही इस विकल्प का प्रयोग अनिवार्यतः कर लेना चाहिए अन्यथा विकल्प का अधिकार समाप्त हो जाता है।

(4) सम्भोग हो जाने पर पति या पत्नी दोनों का यौवनावस्था के विकल्प का अधिकार समाप्त हो जाता है। सम्भोग यदि पत्नी की इच्छा के विरुद्ध हुआ अथवा अवयस्क पत्नी के साथ हुआ तो पत्नी का अधिकार समाप्त हो जाता है।

(5) यौवनावस्था के विकल्प द्वारा विवाह निराकृत किये जाने पर विवाह—विच्छेद अपने आप नहीं हो जाता है। विवाह—विच्छेद के लिए न्यायालय की पुष्टि आवश्यक है।

पीर मोहम्मद बनाम मध्य प्रदेश ए.आई.आर. (1960) म.प्र. 24 के वाद में कहा गया कि विवाह—विच्छेद के लिए न्यायालय की मात्र औपचारिक पुष्टि ही पर्याप्त रहती है, न्यायालय की डिक्री आवश्यक नहीं है। जब तक न्यायालय की पुष्टि के बीच यदि किसी पक्षकार का देहान्त हो जाए तो जीवित दम्पति मृतक व्यक्ति या पत्नी की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी हो सकता है।

प्रश्न न० 4— मेहर की परिभाषा दीजिए। मेहर के एवज में पत्नी को पति के विरुद्ध क्या अधिकार है? अथवा मेहर के बदले में मुसलमान विधवा स्त्री का पति की सम्पत्ति पर क्या अधिकार है?

उत्तर— इस्लाम के आने के पहले विवाह के समय पत्नी का पिता मेहर की धनराशि प्राप्त करता था। विवाह के बाद पत्नी पति की सम्पत्ति मानी जाती थी। प्राचीन प्रथा के अनुसार त्यागी गई स्त्री के गुजर—बसर के लिए पति द्वारा उसे कुछ धनराशि देना विहित करती थी। उचित कानून के अभाव में इस नियम की अवहेलना ही अधिक होती थी, यदि पत्नी के विरुद्ध पति पर पुरुषगमन का झूठा आरोप लगाता था तो पत्नी मेहर की हकदार नहीं होती थी लेकिन इस्लाम ने पत्नी को परपुरुषगमन के झूठे आरोप के आधार पर तलाक का अधिकार दिया और पत्नी मेहर की हकदार बना दी गई। उस समय एक प्रथा शिगार विवाह के नाम से प्रचलित थी, जिसमें एक पुरुष अपनी पुत्री अथवा बहन को विवाह के प्रतिफल के रूप में दूसरे व्यक्ति को देता था उसकी बहन अथवा पुत्री से वह स्वयं विवाह कर लेता था। इस तरह किसी भी पत्नी को मेहर नहीं मिलता था। पत्नी के ऊपर अपवित्रता के आरोप उसे मेहर से वंचित करने के लिए लगा दिए जाते थे।

परिभाषा— विल्सन के अनुसार मेहर पत्नी द्वारा शरीर के समर्पण का प्रतिफल है 'डावर' शब्द अरबी के मेहर शब्द का मुस्लिम प्राविधिक पर्यायवाची है। आमिर अली के मत से मेहर पत्नी के उपयोग और लाभ के लिए प्रतिकर है।

मुल्ला के अनुसार "मेहर एक ऐसी धनराशि या सम्पत्ति है जिसको विवाह के प्रतिकर के रूप में प्राप्त करने के लिए पत्नी हकदार है।"

तैयब जी के अनुसार "मेहर वह धनराशि है जो विवाह के बाद पति द्वारा पत्नी को पक्षकारों के करार या कानून के अनुसार दिया जाता है वह या तो तत्कालिक होता है या स्थायित्व होता है।"

अब्दुल कादिर बनाम सलीमा के वाद में न्यायमूर्ति महमूद ने शादी की तुलना बिक्री के अनुबंध और ऐसे अनुबंध के लिए मेहर के रूप में मेहर से की और कहा, श्रबिक्री के अनुबंध के अनुरूप वैवाहिक संभोग के लिए मेहर को प्रतिफल के रूप में माना जा सकता है। . अपने पति का विरोध करने का अधिकार तब तक है जब तक मेहर का भुगतान नहीं किया गया है, एक विक्रेता के बेचे गए माल पर ग्रहणाधिकार के समान है जब तक कि वे उसके कब्जे

में रहते हैं और जब तक कीमत या उसका कोई भी हिस्सा भुगतान नहीं किया जाता है और उसका पति के प्रति समर्पण सदृश होता है। विक्रेता को माल की डिलीवरी।

मेहर रेल के समान समझा जाता है और पत्नी अन्य महाजनों के साथ-साथ इसे वसूलने के अधिकारी होती है। पति की मृत्यु के बाद वह उसकी सम्पत्ति से भी वसूली कर सकती है। पत्नी का यह अधिकार किसी दूसरे असुरक्षित महाजनों के अधिकार से अधिक नहीं होते हैं। यदि पत्नी ने विधिपूर्ण ढंग से बिना किसी कपट तथा दबाव के अपने मेहर के बदले में पति की सम्पत्ति के पूर्ण या किसी भाग पर कब्जा पा लिया है जो जब तक उसको मेहर प्राप्त नहीं हो जाता है वह उस कब्जे की उसका उत्तराधिकारी है तथा अन्य महाजनों के विरुद्ध कायम रखने की अधिकारी है वह पत्नी जिस मेहर के बदले में अपने पति की सम्पत्ति पर कब्जा प्राप्त नहीं है उत्तराधिकारी हो तथा अन्य महाजनों को कब्जे से निष्कासित नहीं कर सकती है। इस अधिकार को धारणाधिकार कहते हैं परन्तु वह कानूनी दे इसे पक्का धारणाधिकार नहीं माना जाता है। **हमीरा बीबी बनाम जुबैदा बीबी [4]**, मामले में, न्यायिक समिति ने माना कि मुस्लिम कानून के तहत विवाह की स्थिति के तहत देहज एक आवश्यक घटना है, इस हद तक कि जब विवाह के समय यह अनिर्दिष्ट होता है। अनुबंधित, कानून घोषित करता है कि इसका निर्णय निश्चित सिद्धांतों पर किया जाना चाहिए।

(1) कब्जा बनाए रखने का अधिकार विवाह सम्बन्ध के दौरान नहीं रहता है— कब्जा बनाए रखने का अधिकार पति की मृत्यु के बाद विवाह विच्छेद आता है, इसके पूर्व नहीं। इस प्रकार यदि कोई महाजन पति के विरुद्ध बिक्री प्राप्त है और पति की सम्पत्ति उसके जीवन काल में ही इजरा बिक्री में विक्रय होती है तो पत्नी कब्जा बनाए रखने का कोई अधिकार खरीददार के विरुद्ध नहीं रहता और उसे खरीददार को कब्जा दे देना चाहिए।

हाशमी मियां दादा मियां बनाम असीम उन्नीसा के वाद में मुम्बई उच्च न्यायालय ने कहा कि सम्पत्ति पर कब्जा प्राप्त करने में पति की ही स्वतन्त्र सहमति पर्याप्त है इसके उत्तराधिकार की सहमति आवश्यक नहीं है।

(2) वास्तविक कब्जा— प्रतिधारण के अधिकार का अर्थ है मेहर ऋण का भुगतान होने तक संपत्ति पर कब्जा जारी रखना। इसलिए, विवाह विच्छेद के बाद संपत्ति पर पत्नी या विधवा का वास्तविक कब्जा होना चाहिए और यदि पत्नी या विधवा के पास संपत्ति का वास्तविक कब्जा नहीं है तो वह कब्जा बरकरार नहीं रख सकती।

(3) प्रतिधारण का अधिकार बंधक के अनुरूप नहीं है— पत्नी या विधवा को संपत्ति में कोई दिलचस्पी नहीं है, उसने संपत्ति को बंधक के रूप में अपने पास रखा है। लेकिन गिरवी के मामले में, गिरवीदार उसके और संपत्ति के मालिक के बीच हुए एक समझौते के तहत संपत्ति को बरकरार रखता है और पत्नी या विधवा द्वारा बंधक के मामले में, कानून द्वारा उसे यह अधिकार प्रदान किया जाता है।

(4) यह सम्पत्ति पर प्रभाव नहीं होता है— कब्जा रखने का अधिकार पति की सम्पत्ति पर कोई प्रभाव पैदा नहीं करता है। मुस्लिम विधवा को मेहर का दावा उसके मृतक पति की किसी विशिष्ट सम्पत्ति पर प्रभाव नहीं बनता किन्तु यदि विधवा अपने मृतक पति की सम्पत्ति पर मेहर के एवज में बिना बल या कपट के विद्युत कब्जा पर गई हो तो जब तक उसका मेहर ऋण न दे दिया जाए वह उसे अपने पति के उत्तराधिकारियों के विरुद्ध कायम रख सकती है।

यदि सम्पत्ति पर एक कब्जा सम्बन्धी ग्रहणाधिकार होता है— पत्नी अपने मेहर को ही केवल वसूलने का अधिकारी होती है, वह उसे केवल सम्पत्ति के किराए वाला वसूल सकती है। कब्जे का अधिकार सम्पत्ति पर उसे कोई स्वामित्व या हक नहीं देता है, सम्पत्ति का हित सदा उस सम्पत्ति के वास्तविक स्वामियों अर्थात् पति के उत्तराधिकारियों में निहित होता है। पत्नी सम्पत्ति की बंधक बिक्री द्वारा नहीं सकती है, यदि वह भेजती है तो उसके हिस्से का ही विक्रय मान्य होता है।

(5) विधवा अपने मृत पति के अन्य उत्तराधिकारियों को संपत्ति से प्राप्त लाभ और किराए का हिसाब देने के लिए बाध्य है, जबकि वह मेहर पर ब्याज वसूलने की हकदार है जो उसे देय है और इसे पति के विरुद्ध समायोजित करने की हकदार है। शुद्ध लाभ।

(6) विधवा को संपत्ति पर कब्जा बनाए रखने का अधिकार विशेष प्रयोजन के लिए होता है, इसलिए उसे मेहर की राशि यथाशीघ्र उस संपत्ति से पूरी करनी होती है। यदि विधवा के पास संपत्ति नहीं है या उसने संपत्ति खो दी है तो वह संपत्ति पर कब्जे के लिए दावा नहीं कर सकती।

(7) विधवा का अपने मेहर की अदायगी के लिए पति की सम्पत्ति पर कब्जे के अधिकार के कारण उत्तराधिकारियों को अपने अधिकारों का प्रयोग करने पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है। उत्तराधिकारियों का अपने हिस्से की सम्पत्ति पर कब्जा पाने का अधिकार है, वे कब्जा पाने का वाद दायर कर सकते हैं और न्यायालय उनके पक्ष में बिक्री भी पारित कर सकता है परन्तु यह बिक्री इस शर्त पर पारित होगी कि वे अपने हिस्से के अनुपात से विधवा के मेहर की राशि को निर्धारित समय में अदायगी कर दें।

(8) काबिज रहने का अधिकार सम्पत्ति पर कब्जा बनाए रखने मात्र का अधिकार है, उसे सम्पत्ति को किसी भी रूप में अन्य संक्रमण करने का अधिकार नहीं है। यदि पत्नी स्वतन्त्र सहमति से कब्जा छोड़ देती है तो उसका कब्जा खत्म समझा जाता है, प्रतिधारण अर्थात् कब्जा बनाए रखने का अधिकार है, स्थानांतरण योग्य अधिकार है अथवा नहीं इस प्रश्न के सम्बन्ध में विभिन्न उच्च न्यायालयों के मतों में भिन्नता है। जुबेर अहमद बनाम जयनंदन प्रसाद ए. आई.आर. 1960 पटना 147 के वाद में उच्च न्यायालय के अनुसार अर्द्ध मेहर के बदले पति की सम्पत्ति कब्जा

किए रखने का अधिकार उस विधवा के व्यक्तित्व से अलग करके किसी अन्य में निहित नहीं हो सकता है अतः किसी विधवा का प्रतिधारण का अधिकार स्थानांतरण योग्य अधिकार नहीं है।

प्रश्न न० 5— मुस्लिम विवाह-विच्छेद अधिनियम, 1939 के अन्तर्गत मुसलमान पत्नी किन आधारों पर विवाह-विच्छेद की डिक्री प्राप्त कर सकती है?

उत्तर— मुस्लिम विवाह विच्छेद अधिनियम 1939 में पूर्व मुस्लिम विधि में क्रान्तिकारी परिवर्तन किए। वर्तमान अधिनियम की धारा 2 अनुसार कोई पत्नी जिसका विवाह मुस्लिम विधि के अन्तर्गत सम्पन्न हुआ हो निम्नलिखित आधारों में से किसी एक आधार पर न्यायालय की डिक्री द्वारा अपना विवाह भंग कराने के लिए प्रस्तुत कर सकती है—

(1) **4 वर्ष से पति लापता हो—** जब पति 4 वर्षों से लापता हो तो मुस्लिम विधि के अन्तर्गत विवाहिता स्त्री अपने विवाह विच्छेद की डिक्री पाने की हकदार है। इस आधार पर न्यायालय द्वारा दी गई डिक्री तभी क्रियान्वित की जा सकती है जब डिक्री के पारित होने के पश्चात् 6 महीने का समय व्यतीत हो चुका हो। यदि न्यायालय की डिक्री की तारीख 6 महीने के भीतर पति स्वयं या किसी ऐजेंट द्वारा वैवाहिक कर्तव्यों का पालन करने को तैयार हो तो न्यायालय पारित डिक्री रद्द कर सकता है। इस बीच पति यदि लौट आता है अथवा अपनी उपस्थिति से न्यायालय को किसी अन्य माध्यम से अवगत करा देता है तो डिक्री निरस्त कर दी जाती है और विवाह विच्छेद नहीं हो पाता है।

(2) **भरण-पोषण देने में पति की असफलता—** पत्नी इस आधार पर भी विवाह विच्छेद के लिए आवेदन पत्र प्रस्तुत कर सकती है कि उसका पति 2 वर्षों से उसका भरण-पोषण नहीं कर रहा है या उसकी उपेक्षा कर रहा है। भरण-पोषण न करने के कारण कुछ भी हो, न्यायालय को इससे कुछ वास्ता नहीं है। यदि वाद का केवल इस आधार पर प्रतिवाद नहीं कर सकता हक हम अपनी गरीबी, खराब तंदुरुती, बेकारी, कारावास या किसी अन्य आधार पर (जैसे पत्नी की निजी सम्पत्ति) उसका भरण-पोषण नहीं कर सका जब तक कि यह न निवेदन किया जाए कि पत्नी का आचरण ऐसा रहा है जिसने उसे मुस्लिम विधि के अन्तर्गत भरण-पोषण प्राप्त करने के लिए अनाधिकृत कर दिया है।

राबिया खातून बनाम मुख्तार अहमद ए.आई.आर. 1966 इलाहाबाद 548 के वाद में न्यायालय ने कहा कि बिना किसी कारण के पति से अलग रहने पर भरण-पोषण न पाने पर भी पत्नी विवाह की डिक्री नहीं प्राप्त कर सकती।

युसुफ रोशन बनाम सोरम्मा ए.आई.आर. 1971 केरल 261 के वाद में केरल उच्च न्यायालय ने निर्धारित किया कि पत्नी यदि बिना न्याय उचित कारण के भी पति से अलग रहती हो और पति उसके भरण-पोषण की व्यवस्था न कर सका हो तो पत्नी को विवाह की डिक्री धारा 2 (ख) अन्तर्गत प्राप्त हो सकती है। न्यायालय को उचित सम्मान देते हुए यह कहा जा सकता है कि यह निर्णय युक्तिसंगत नहीं है और इस पर पुनर्विचार होना चाहिए।

(3) **पति को कारावास—** जब पति को सात या अधिक वर्षों के कारावास का दण्ड दिया गया हो तो तब पत्नी न्यायालय से विवाह की डिक्री प्राप्त कर सकती है। ऐसे मामलों में न्यायालय विवाह की डिक्री तब तक नहीं दे सकता है जब तक कि पति को दण्ड देने के विषय में अन्तिम दण्ड आदेश न प्राप्त हुआ हो।

(4) **पति द्वारा वैवाहिक दायित्वों का पालन न कर पाना—** यह कि पति बिना वैध कारण के तीन साल की अवधि के लिए अपने वैवाहिक दायित्वों को पूरा करने में विफल रहा है: अधिनियम “पति की वैवाहिक प्रतिबद्धताओं” को परिभाषित करता है। मुस्लिम कानून के तहत, पति के कुछ वैवाहिक दायित्व होते हैं। हालाँकि, इस कथन का अंतिम उद्देश्य पति की केवल उन वैवाहिक कर्तव्यों को निभाने में असमर्थता की जांच करना है जिन्हें इस अधिनियम की धारा 2 की किसी भी शर्त में शामिल नहीं किया गया है।

(5) **पति की नपुंसकता—** कि पति विवाह के समय नपुंसक था और नपुंसक बना हुआ हैरू इस आधार पर तलाक प्राप्त करने के लिए, पत्नी को यह दिखाना होगा कि पति विवाह के समय बांझ था और मुकदमे तक बांझ ही रहेगा। अभिलिखित है। इस आधार पर तलाक की घोषणा पारित करने से पहले, अदालत निस्संदेह पति को अपनी शक्ति में सुधार करने के लिए एक वर्ष का समय देगी, बशर्ते वह इसके लिए आवेदन करे।

(6) **पति का पागलपन—** यदि पति दो साल से पागल है या अस्वच्छता या हानिकारक यौन संक्रमण से पीड़ित हैरू तो शिकायत दर्ज करने से पहले उसका पागलपन कम से कम दो साल तक रहा होगा। किसी भी मामले में, इस आचरण का इस बात पर कोई असर नहीं पड़ता कि मानसिक बीमारी का इलाज संभव है या नहीं। यह रोग सफेद या गहरे रंग का हो सकता है और इससे त्वचा सिकुड़ सकती है। यह इलाज योग्य या जीवन के लिए खतरा हो सकता है। यौन रोग एक यौन अंग संक्रमण है। अधिनियम के अनुसार यह स्थिति गंभीर प्रकृति की होनी चाहिए। इसके अलावा, भले ही पति की बीमारी के लिए पत्नी खुद दोषी हो या नहीं, वह इस आधार पर तलाक की हकदार है।

(7) **पति द्वारा विवाह रद्द किया जाना—** यदि किसी लड़की की शादी उसके पिता या अभिभावक द्वारा 15 साल की उम्र से पहले कर दी जाती है[13,, तो मुस्लिम कानून के तहत उसे 18 साल की उम्र होने पर शादी से इनकार करने का अधिकार है, जब तक कि शादी संपन्न नहीं हो जाती। इसके लिए वह तलाक की डिक्री की हकदार है।

(1) विवाह के समय उसकी 15 वर्ष से कम थी।

(2) 15 वर्ष की आयु प्राप्त करने के पश्चात् किन्तु 18 वर्ष की आयु प्राप्त करने के पूर्व उसने विवाह का विखण्डन कर दिया और

(3) विवाह का संभोग नहीं हुआ है।

(8) पति द्वारा क्रूरता— यदि पति अपनी पत्नी के साथ क्रूरतापूर्ण व्यवहार करता है, तो वह उसी आधार पर न्यायिक पृथक्करण डिक्री के लिए अपील दायर कर सकती है।

निम्नलिखित कुछ तरीके हैं जिनसे क्रूरता के आधार का दावा किया जा सकता है:

(1) शारीरिक हमला

(2) उनकी प्रतिष्ठा को प्रभावित करने वाले अपमानजनक बयान देना।

(3) उसे अनैतिक जीवन जीने के लिए मजबूर करता है।

(4) उसे अपने धर्म का पालन करने से रोकना।

(5) पति एक से अधिक पत्नियाँ रखता है और उनके साथ समान व्यवहार नहीं करता है।

सैयद जियाउद्दीन बनाम परवेज सुल्ताना [14, में , परवेज सुल्ताना एक विज्ञान स्नातक थी और वह मेडिकल की पढ़ाई के लिए एक कॉलेज में प्रवेश लेना चाहती थी। उसे अपनी पढ़ाई के लिए पैसे की जरूरत थी। सैयद जियाउद्दीन ने उससे शादी करने पर उसे पैसे देने का वादा किया। उसने किया। बाद में उसने पति की ओर से वादा पूरा न करने पर तलाक की अर्जी दायर की। अदालत ने क्रूरता के आधार पर उसका तलाक मंजूर कर लिया। इस प्रकार हम अभिव्यक्ति क्रूरता को व्यापक अर्थ देने के न्यायालय के रवैये को देखते हैं। **जुबैदा बेगम बनाम सरदार शाह** [15]] लाहौर उच्च न्यायालय के एक मामले में , पति ने पत्नी की सहमति से उसके गहने बेच दिए। यह प्रस्तुत किया गया कि पति का आचरण क्रूरता की श्रेणी में नहीं आता है। **अबूबकर बनाम मामू कोया** पति ने अपनी पत्नी को साड़ी पहनने और फिल्मों में जाने के लिए मजबूर किया। पत्नी ने मना कर दिया क्योंकि उसकी राय में ऐसा करना इस्लामी जीवन शैली के खलीफा था। उसने मानसिक क्रूरता के आधार पर तलाक का अनुरोध किया। केरेला उच्च न्यायालय ने फैसला सुनाया कि पति की हरकतें कठोर नहीं थीं क्योंकि केवल दमनकारी रूढ़िवाद के मानकों से हटना गैर-इस्लामी व्यवहार नहीं माना जाता है। इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने **इतवारी बनाम असगरी** 22 में कहा कि भारतीय कानून विभिन्न प्रकार की क्रूरता, जैसे मुस्लिम क्रूरता , हिंदू क्रूरता , इत्यादि को मान्यता नहीं देता है, और क्रूरता का परीक्षण सार्वभौमिक और मानवीय मानकों पर आधारित है। अर्थात्, पति द्वारा किया गया आचरण जिससे ऐसी शारीरिक या मानसिक पीड़ा हो जिससे पत्नी की सुरक्षा या स्वास्थ्य खतरे में पड़ जाए।

(9) **मुस्लिम विधि द्वारा मान्यता प्राप्त कोई अन्य आधार**— उपर्युक्त आधारों के अतिरिक्त किसी अन्य ऐसे आधार पर भी मुस्लिम पत्नी विवाह विच्छेद का वाद दायर कर सकती है जो मुस्लिम विधि में मान्य प्रश्न माने गए हों यह अवशिष्ट कोई आधार है जिसके आधार पर पत्नी विवाह विच्छेद का वाद ला सकती है। इस खण्ड में इला, जिहार, खुला मुबारत, लियन और तफवीज द्वारा विवाह विच्छेद आ जाते हैं।

प्रश्न नं० 6— मुस्लिम-विधि के अन्तर्गत 'भरण-पोषण' की विधि की समीक्षा कीजिए। भारतीय विधायिका एवं न्यायालयों द्वारा इस विधि को किस सीमा तक परिवर्तित किया गया है। समाझाए।

उत्तर— भरण-पोषण से व्यक्ति के भोजन, रहने के स्थान, कपड़ों आदि पर होने वाले खर्चे या खर्चों को वहन करने का बोध होता है।

मुस्लिम विधि के अनुसार भरण-पोषण पाने के अधिकार के तीन आधार हैं—

(1) विवाह (2) रक्त सम्बन्ध (3) सम्पत्ति

अतः निम्नलिखित व्यक्ति भरण-पोषण पाने के अधिकारी होते हैं—

(1) पत्नी (2) माता-पिता तथा उनके माता-पिता (3) अवयस्क पुत्र और अविवाहित पुत्रियाँ (4) वर्जित डिक्री के अन्दर आने वाले सम्बन्धी

पत्नी का अपने पति भरण-पोषण प्राप्त करने का विधिक अधिकार प्राप्त है, भले ही वह आर्थिक सामर्थ्य रखती हो कि वह अपने पति की आर्थिक सहायता के बिना अपना निर्वाह कर ले किन्तु उक्त सामर्थ्य उसके भरण-पोषण प्राप्त करने के अधिकार को समाप्त नहीं है। यह अधिकार निम्नलिखित प्रकार से उदय होता है—

(1) पति द्वारा अपनी पत्नी का भरण-पोषण तब प्रारम्भ होता है जब वह यौवना अवस्था को प्राप्त कर ले और समागम करने योग्य हो जाए।

(2) ऐसे समय को छोड़कर जब समागम करना अवैध हो या अनुचित हो, पत्नी पति के साथ समागम करने के लिए सदैव तत्पर रहती हो और पति के आदेशों का अनुपालन करती हो।

(3) विवाह विच्छेद के पश्चात् भी पत्नी इद्दत की अवधि में पति से या उसकी सम्पत्ति में भरण-पोषण पाने का अधिकार रखती है। (रशीद अहमद बनाम अनीषा खातून (1932)59, एल.ए. 21)।

(4) बिना किसी उचित कारण के पत्नी यदि पति से अलग रहकर उसे संभोग सुख से वंचित कर रही हो तो उसका भरण-पोषण प्राप्त करने का अधिकार समाप्त हो जाता है किन्तु परिस्थितियों में उसका अलग रहना न्याय उचित है और जिनमें नहीं इसका निर्धारण अदालतों की करती है। तैयब जी के अनुसार निम्नलिखित परिस्थितियों में पत्नी के भरण-पोषण का अधिकार समाप्त नहीं होता है—

(क) पत्नी द्वारा पति को संभोग से मना करने का कोई विधिपूर्ण होने पर।

(ख) पति की अवयस्कता, पति की अनुमति से पत्नी की अनुस्थिति, पत्नी की बीमारी अथवा जननांग की विकृत की वजह से संभोग न हो पाने पर।

दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 के अन्तर्गत पत्नी का भरण-पोषण- दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 (सीआरपीसी) की धारा 125 के तहत, अगर किसी व्यक्ति के पास अपना और अपनी पत्नी का भरण-पोषण करने के लिए पर्याप्त साधन हैं, लेकिन वह अपनी पत्नी का भरण-पोषण करने से इनकार करता है, तो प्रथम श्रेणी का मजिस्ट्रेट उसे मासिक भत्ता देने का आदेश दे सकता है। इस भत्ते की राशि पति की कमाई की क्षमता पर निर्भर करती है। पति की आय जितनी ज्यादा होगी, भरण-पोषण उतना ही ज्यादा होगा। सीआरपीसी की धारा 125 के तहत, पत्नी को भरण-पोषण या अंतरिम भरण-पोषण और कार्यवाही के खर्चों के लिए भत्ता मिल सकता है। हालांकि, अगर पत्नी इनमें से किसी भी चीज के लिए भत्ता पाना चाहती है, तो उसे इन शर्तों का पूरा होना जरूरी है:

- (1) पत्नी को अपने पति के साथ रहना चाहिए।
- (2) पत्नी को बिना किसी पर्याप्त कारण के अपने पति के साथ रहने से इनकार नहीं करना चाहिए।
- (3) पत्नी और पति आपसी सहमति से अलग नहीं रह रहे होने चाहिए।
- (4) पत्नी व्यभिचार में नहीं रहनी चाहिए।

अगर पत्नी व्यभिचार में शामिल है, तो उसे भरण-पोषण भत्ता नहीं मिल सकता। इसके अलावा, व्यभिचार सिद्ध होने पर महिला की आय को भी ध्यान में नहीं रखा जाता। सीआरपीसी की धारा 125 के तहत, केवल पत्नी को ही भरण-पोषण का अधिकार नहीं है। बल्कि, बच्चों को भी अपने रहन-सहन और अन्य खर्चों के लिए भरण-पोषण का अधिकार है।

सायरा बानो बनाम गफूर ए.आई.आर 1987 सुप्रीम कोर्ट 1103 के वाद में उच्चतम न्यायालय ने दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 धारा 125(3) के अन्तर्गत मुस्लिम पति-पत्नी को भरण-पोषण के औचित्य के सम्बन्ध में निर्धारित किया है कि वैयक्तिक विधि धारा (22513) के अन्तर्गत एक पत्नी के रहते हुए दूसरा विवाह करने के विधिक अधिकार के बावजूद पति दूसरा विवाह किए जाने पर प्रथम पत्नी से अलग रहने पर भरण-पोषण की मांग न्यायोचित मानी जाएगी।

धारा 125(3) के स्पष्टीकरण को विस्तार देते हुए उच्चतम न्यायालय ने कहा कि जहाँ तक किसी उपेक्षित पत्नी का प्रश्न है इस तथ्य से कोई अन्तर नहीं पड़ता है कि उसके दाम्पत्य जीवन में प्रवेश करने वाली दूसरी महिला विवाहित पत्नी है अथवा रखेल। उच्चतम न्यायालय के अनुसार धारा 125 के उपबन्धों के निर्वचन पत्नी के दाम्पत्य अधिकारों के हनन को दृष्टिगत रखते हुए किया जाना चाहिए न कि पति के विधि अधिकारों को ध्यान में रखकर।

मुस्लिम विधि में पत्नी को उसके व्यक्तिगत खर्च के रूप में कुछ मासिक भत्ता देने का प्रचलन है विशेषकर उच्च वर्ग के परिवारों में इसे खर्च-ए-पानदान अथवा मेवा खोरी के नाम से जाना जाता है। उसकी व्यवस्था पति-पत्नी अथवा उनके संरक्षकों के बीच परस्पर अनुबन्ध द्वारा की जाती है। अतः इसके अन्तर्गत को अपने पति से कुछ धनराशि जेब खर्च अथवा गुजारे के रूप में प्राप्त करते रहना उसका एक स्वतन्त्र अधिकार है, उसके विपरीत पत्नी के भरण-पोषण के अधिकार का आधार पति-पत्नी का वैवाहिक सम्बन्ध है न कि कोई संविदा। अतः पत्नी के भरण-पोषण के दावे का औचित्य सुनिश्चित हो जाने पर पति इस आधार पर दायित्व से मुक्त नहीं हो सकता कि वैवाहिक अनुबन्ध के अन्तर्गत पत्नी को पर्याप्त धनराशि गुजारे के रूप में मिलती रही है तथा भविष्य में भी मिलती रहेगी।

मुस्लिम वैयक्तिक विधि के अन्तर्गत भरण-पोषण- मुस्लिम पर्सनल लॉ के तहत, एक तलाकशुदा पत्नी इदत की अवधि के दौरान अपने पूर्व पति से गुजारा भत्ता पाने की हकदार है। मुस्लिम पर्सनल लॉ के अनुसार, इदत अवधि की समाप्ति के बाद पत्नी मुस्लिम कानून में वर्णित किसी भी परिस्थिति में भरण-पोषण की हकदार नहीं है। मुस्लिम कानून अपनी पूर्व पत्नी को तलाक देने के बाद उसका भरण-पोषण करने के लिए पति की ओर से किसी भी प्रतिबद्धता को स्वीकार नहीं करता है। आपराधिक प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 125 के तहत, पत्नी शब्द में एक पत्नी और एक पत्नी शामिल है जिसने अपने पति से तलाक ले लिया है और दोबारा शादी नहीं की है। इसमें कहा गया है कि तलाक के बाद यदि पत्नी अपना भरण-पोषण करने के लिए तैयार नहीं है, तो वह पुनर्विवाह होने तक अपने पति से भरण-पोषण पाने की हकदार है। अधिनियम इस प्रावधान को उन मुस्लिम महिलाओं पर भी लागू करता है जो इदत अवधि की समाप्ति के बाद भरण-पोषण की हकदार नहीं हैं। यह अधिनियम इदत के पूरा होने के बाद भी पत्नी को भरण-पोषण देने के लिए पति पर दायित्व बनाता है।

दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 127(3) के तहत तलाकशुदा पत्नी का भरण-पोषण रद्द हो जाता है और वह निम्नलिखित परिस्थितियों में भरण-पोषण की हकदार नहीं होगी

- (1) यदि वह पुनर्विवाह करती है।
- (2) यदि उसे किसी प्रथागत या व्यक्तिगत कानून के तहत देय पूरी राशि प्राप्त हो गई है।
- (3) यदि वह तलाक के बाद स्वेच्छा से भरण-पोषण का अपना अधिकार छोड़ देती है।

प्रथागत अथवा वैयक्तिक विधि के अन्तर्गत विवाह विच्छेद पर देय धनराशि के सन्दर्भ में ध्यान देने योग्य बात यह है कि मुस्लिम पत्नी के मेहर का अधिकार एक सर्वथा भिन्न अधिकार माना जाता है। मेहर का व्यावहारिक पक्ष यह अवश्य है कि विवाह विच्छेद होने पत्नी के निर्वाह की व्यवस्था हो सके परन्तु इससे उसके भरण-पोषण का अधिकार प्रभावित नहीं होता है।

बाई ताहिरा बनाम अली हुसैन, ए.आई.आर 1979 सुप्रीम कोर्ट 362 के वाद में उच्चतम न्यायालय ने स्पष्ट शब्दों में निर्धारित किया है कि मेहर की पूरी धनराशि प्राप्त करने के बावजूद भी धारा 125 के अन्तर्गत मुस्लिम पत्नी को भरण-पोषण प्राप्त करने का अधिकार रहता है।

जोहरा खातून बनाम मोहम्मद में । इब्राहिम 2, सुप्रीम कोर्ट ने माना कि आपराधिक प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 125(1) स्पष्टीकरण (बी) में उल्लिखित शपथी शब्द में वे महिलाएं शामिल हैं जिनका तलाक हो चुका है या वे महिलाएं जिन्होंने किसी के तहत अपनी शादी को खत्म करने की डिक्री प्राप्त कर ली है। मुस्लिम विवाह विघटन अधिनियम, 1939 के प्रावधानों के। मुस्लिम महिला (तलाक पर अधिकारों की सुरक्षा) अधिनियम, 1986 के तहत भरण-पोषण, इस अधिनियम ने सीआरपीसी की धारा 125 की प्रयोज्यता को सीमित कर दिया और मुस्लिम पर्सनल लॉ के पक्ष में कुछ प्रावधानों को पारित किया। इस अधिनियम में कहा गया है कि पति केवल इदत की अवधि के दौरान अपनी पत्नी का भरण-पोषण करने के लिए बाध्य है, उसके बाद नहीं और यहां तक कि इदत की अवधि के दौरान भी उसे उचित और उचित मात्रा में भरण-पोषण प्रदान करना होगा। इदत अवधि समाप्त होने के बाद भी यदि पत्नी अपना भरण-पोषण करने में सक्षम नहीं है और अविवाहित रहती है तो उस स्थिति में वह वक्फ बोर्ड या अपने रिश्तेदारों या अपने पूर्व पति के रिश्तेदारों या उन लोगों से भरण-पोषण की मांग कर सकती है, जिन्हें उसके बाद उसकी संपत्ति मिलेगी। उसकी मौत। मुस्लिम महिला (तलाक पर अधिकारों का संरक्षण) अधिनियम, 1986 ने आपराधिक प्रक्रिया संहिता की धारा 125 से 128 के उपयोग को वैकल्पिक बना दिया। इस अधिनियम में कुछ भी स्पष्ट रूप से उल्लेख नहीं किया गया है और इसने न्यायपालिका के भीतर विभिन्न भ्रम पैदा कर दिए हैं और इसे अस्पष्ट माना गया है। इस अधिनियम की उलझन को भारत के सर्वोच्च न्यायालय ने इस मामले के तहत हल कर दिया है।

प्रश्न न0 7— क्या मुस्लिम-विधि में दान (हिबा) की वैधता के लिए कब्जा का दिया जाना आवश्यक? यदि हाँ तो किन परिस्थितियों में कब्जा दिया जाना आवश्यक नहीं है? व्याख्या कीजिए।

उत्तर— मुस्लिम विधि के अनुसार एक मुसलमान अपने जीवनकाल में अपनी सम्पत्ति का विधिपूर्ण ढंग से दान कर सकता है। या यह अपनी सम्पत्ति को वसीयत द्वारा, जो उसकी मृत्यु के बाद प्रभावी होगी अन्तरित कर सकता है। पहले वाले अन्तरण को दो जीवित व्यक्तियों के बीच निस्तारण और बाद वाले अन्तरण की वसीयती निस्तारण कहते हैं। जीवित व्यक्तियों में सम्पत्ति के निस्तारण की दशा में वह अपनी सम्पत्ति को किसी सीमा तक अन्तरण कर सकता है जबकि वसीयती निस्तारण में वह सम्पूर्ण सम्पत्ति का केवल 1/3 भाग ही दान कर सकता है।

हिबा दो प्रकार से किया जाता है— (1) जीवित दशा में हिबा, (2) वसीयत के द्वारा हिबा

कोई भी मुसलमान अपने जीवनकाल में अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति हिबा में दे सकता है और इस सम्बन्ध में उसके ऊपर मुस्लिम विधि द्वारा कोई प्रतिबन्ध नहीं है।

लेकिन वसीयत के द्वारा अन्तरण एक-तिहाई का प्रतिबन्ध लगा दिया गया है क्योंकि वसीयत के द्वारा हिबा वसीयतकर्ता की मृत्यु के उपरान्त प्रभावी होता है।

परिभाषाएँ— हेदाया के अनुसार — “हिबा किसी मौजूदा संपत्ति में स्वामित्व का बिना शर्त हस्तांतरण है, जो बिना किसी विचार के तुरंत किया जाता है।”

अमीर अली के अनुसार — “हिबा एक व्यक्ति द्वारा दूसरे व्यक्ति को संपत्ति पर विचार किए बिना एक स्वैच्छिक उपहार है, ताकि प्राप्तकर्ता को उपहार की विषय-वस्तु का मालिक माना जा सके।”

मुल्ला के अनुसार — “हिबा संपत्ति का हस्तांतरण है, जो एक व्यक्ति द्वारा दूसरे व्यक्ति को तुरंत और बिना किसी विनिमय के किया जाता है और बाद वाले द्वारा या उसकी ओर से स्वीकार किया जाता है।”

फिजी के अनुसार — “ हिबा बिना किसी रिटर्न के संपत्ति के कोष का तत्काल और अयोग्य हस्तांतरण है।”

(हिबा के) आवश्यक तत्व

मान्य हिबा की अपेक्षाएं या आवश्यक तत्व तीन हैं—

- (1) हिबा के पक्षकार
- (2) हिबा की विषय-वस्तु
- (3) विषय वस्तु की सीमा

हिबा या दान की विषय-वस्तु

सामान्य सिद्धान्त— सामान्य सिद्धान्त यह कि उस वस्तु का दान हो सकता है—

- (क) जिस पर स्वामित्व (मिल्कियत) या सम्पत्ति के अधिकार का प्रयोग किया जा सके, या
- (ख) जिस पर कब्जा किया जा सके, या
- (ग) जिसका अस्तित्व (1) किसी विशिष्ट वस्तु या (2) निष्पादन अधिकार के रूप में हो, या
- (घ) जो ‘माल’ शब्द के अर्थ के भीतर आती हो।

मुस्लिम विधि पैतृक या स्वयं अर्जित की गई सम्पत्ति, स्थावर ख व्यक्तिगत, चल या अचल सम्पत्ति में अन्तर नहीं करता है। मुस्लिम विधि के अन्तर्गत सम्पत्ति को ‘माल’ कहा जाता है। इसमें वे सब प्रकार की सम्पत्ति आती है जिनका अधिभोग किया जाता है। कोई भी ऐसी भी ऐसी वस्तु जिसका अधिभोग किया जा सकता है या ऐसा अधिकार जिसका प्रयोग किया जा सकता है अथवा कोई ऐसी वस्तु कब्जे में रखा जा सकता है और जो विशिष्ट सत्ता की तरह विद्यमान है, अथवा कोई ऐसा प्रवर्तनीय अधिकार या वस्तु जो वस्तुतः माल के अर्थ में आती है, उपहार की विषय-वस्तु बन सकती है।

ऐसी सम्पत्ति का हिबा जिसका अस्तित्व न हो— ऐसी सम्पत्ति का हिबा जिसका अस्तित्व हिबा किये जाने के समय न हो और वह भविष्य में किसी तारीख पर अस्तित्व में आने वाली हो, शून्य होगा।

दाता के हिबा करने के अधिकार की सीमा— सामान्य नियम यह है कि दाता को अपनी दान कर सम्पत्ति का दान करने की शक्ति अनियन्त्रित है। वह अपनी कुल सम्पत्ति का कोई जिसे दे सकता है।

मुस्लिम विधि की यह नीति जान पड़ती है कि वसीयतकर्ता के द्वारा अपने पुत्रों पर सम्पत्ति के विधिसंगत न्यागमन के क्रम में बाध डालने से रोका जाय? यद्यपि वह एक विशेष भाग, जो एक तिहाई तक हो सकती है, किसी अजनबी को दे सकता है। परन्तु यह भी प्रतीत होता है कि कोई सम्पत्तिधारी अपने किसी एक पुत्र को अपनी कुल सम्पत्ति या उसका कोई भाग अपने जीवनकाल में देकर किसी सीमा तक विधि की नीति को निष्फल बना सकता है, बशर्ते कि कुछ औपचारिकताओं का पालन करे।

हिबा की औपचारिकताएँ—

अक्सर यह माना जाता है कि उपहार शब्द हिबा शब्द के बिल्कुल समान अर्थ को दर्शाता है। उपहार एक व्यापक और सामान्य अवधारणा है जबकि हिबा एक संकीर्ण और अच्छी तरह से परिभाषित कानूनी अवधारणा है। न्यायिक रूप से, इस्लामी कानून में, हिबा को एक अनुबंध के समान माना जाता है जिसमें दाता की ओर से कुछ देने की पेशकश और प्राप्तकर्ता की ओर से स्वीकृति शामिल होती है। इस प्रकार हिबा बनाने के लिए तीन आवश्यक औपचारिकताएँ पूरी करनी होती हैं।

(1) दाता द्वारा उपहार की घोषणा

(2) प्राप्तकर्ता द्वारा उपहार की स्वीकृति

(3) दाता द्वारा कब्जे की सुपुर्दगी और प्राप्तकर्ता द्वारा कब्जा लेना

इन तीन औपचारिकताओं पर नीचे विस्तार से चर्चा की गई है: —

(1) दाता द्वारा उपहार की घोषणा—घोषणा मात्र दानकर्ता के उपहार देने के इरादे को दर्शाती है। यह संपत्ति का स्वामित्व प्राप्तकर्ता को हस्तांतरित करने के दाता के इरादे की पुष्टि है। मौखिक या लिखित : दाता किसी भी प्रकार की संपत्ति के उपहार की घोषणा मौखिक या लिखित विलेख के माध्यम से कर सकता है।

मोहम्मद हेसाबुद्दीन बनाम मोहम्मद हेसरुद्दीन[2, के मामले में , एक मुस्लिम महिला ने अपनी अचल संपत्ति अपने बेटे के पक्ष में दान कर दी। उपहार साधारण कागज पर लिखा गया था और यह कोई पंजीकृत विलेख नहीं था। अदालत ने इस मामले में ऐसे उपहारों की वैधता को इस प्रकार माना— “मुस्लिम कानून के तहत, उपहार की वैधता के लिए लिखना आवश्यक नहीं है, चाहे वह चल या अचल संपत्ति हो। इसलिए, इस मामले में उपहार को वैध माना गया क्योंकि एक वैध उपहार बनाने के लिए उपहार का लेखन और पंजीकरण अनिवार्य आवश्यकता नहीं है।

एक्सप्रेस घोषणा — उपहार की घोषणा स्पष्ट रूप से स्पष्ट शब्दों में की जानी चाहिए कि दाता संपत्ति पर अपना स्वामित्व पूरी तरह से स्वीकार कर रहा है। अस्पष्ट शब्दों में दिया गया उपहार अमान्य होता है।

(2) प्राप्तकर्ता द्वारा उपहार की स्वीकृति—किसी उपहार की वैधता के लिए, इसे प्राप्तकर्ता द्वारा स्वीकार किया जाना चाहिए। स्वीकृति प्राप्तकर्ता के संपत्ति लेने और उसका नया मालिक बनने के इरादे को प्रकट करती है। स्वीकृति के बिना उपहार अधूरा माना जाता है। चूंकि इस्लामी कानून के तहत, हिबा को द्विपक्षीय लेनदेन के रूप में माना जाता है, इसलिए, यह महत्वपूर्ण है कि संपत्ति के स्वामित्व को स्थानांतरित करने के लिए दाता द्वारा किया गया प्रस्ताव दान प्राप्तकर्ता द्वारा स्वीकार किया जाना चाहिए।

अवयस्क— यदि प्राप्तकर्ता अवयस्क है, तो अवयस्क की ओर से स्वीकृति अवयस्क की संपत्ति के संरक्षक द्वारा दी जा सकती है।

न्यायिक व्यक्ति — यदि कोई उपहार किसी संस्था या किसी अन्य न्यायिक व्यक्ति के पक्ष में दिया जाता है, तो उपहार की स्वीकृति या तो प्रबंधक या किसी अन्य सक्षम प्राधिकारी द्वारा की जाती है।

दो या दो से अधिक दान प्राप्तकर्ता — दो या दो से अधिक दान प्राप्तकर्ताओं के पक्ष में किया गया उपहार प्रत्येक व्यक्ति द्वारा अलग-अलग स्वीकार किया जाना चाहिए। यदि प्रत्येक व्यक्ति का हिस्सा दाता द्वारा स्पष्ट रूप से निर्दिष्ट किया गया है, तो उन्हें दाता द्वारा घोषित तरीके से ही अलग कब्जा मिलेगा। लेकिन अगर किसी उपहार के तहत हिस्सा निर्दिष्ट नहीं है और दाता द्वारा कोई अलग कब्जा नहीं दिया गया है, तो भी उपहार वैध है और दानकर्ता संपत्ति को आम किरायेदार के रूप में लेंगे।

(3) कब्जा की डिलीवरी— धारा 123, संपत्ति हस्तांतरण अधिनियम, 1882 के तहत उपहारों के लिए निर्धारित औपचारिकताएँ मुस्लिम उपहारों पर लागू नहीं होती हैं। इस्लामी कानून के तहत, कोई उपहार दाता द्वारा कब्जा सौंपने और प्राप्तकर्ता द्वारा कब्जा लेने के बाद ही पूरा होता है। इस प्रकार, यह अनिवार्य है कि संपत्ति के कब्जे की डिलीवरी के साथ घोषणा और स्वीकृति भी होनी चाहिए। उपहार उस तारीख से प्रभावी होता है जब संपत्ति का कब्जा प्राप्तकर्ता को दिया जाता है, न कि उस तारीख से जब दाता द्वारा घोषणा की गई थी। कब्जे की सुपुर्दगी इस्लामी कानून में एक प्रमुख पहलू है। महत्व इस हद तक है कि प्राप्तकर्ता को कब्जा सौंपे बिना, उपहार अमान्य है, भले ही वह एक पंजीकृत विलेख के माध्यम से दिया गया हो। उपहार को पूर्ण बनाने के लिए दाता को न केवल स्वामित्व बल्कि प्राप्तकर्ता के पक्ष में कब्जा भी छोड़ना होगा। मुस्लिम कानून संपत्ति के कब्जे की स्पष्ट डिलीवरी के बिना दाता से प्राप्तकर्ता को स्वामित्व अधिकार का हस्तांतरण नहीं मानता है। **नूरजहाँ बनाम मुफ्ताखार**[4, में , एक

दाता ने दान प्राप्तकर्ता को कुछ संपत्ति का उपहार दिया, लेकिन दाता ने संपत्तियों का प्रबंधन करना जारी रखा और लाभ स्वयं ले लिया। दाता की मृत्यु तक, दान प्राप्तकर्ता के नाम पर कोई उत्पत्ति नहीं किया गया था। अदालत ने यह माना कि चूंकि कब्जे की कोई डिलीवरी नहीं की गई थी, इसलिए उपहार अधूरा और अप्रभावी प्रकृति का था।

प्रश्न न० 8— वसीयत किसे कहते हैं? वसीयत कौन सकता है? मान्य वसीयत की कौन-कौन-सी औपचारिकताएँ आवश्यक नहीं हैं? व्याख्या कीजिए।

उत्तर— फतवा-ए-आलमगीरी—वसीयत की परिभाषा इस प्रकार करता है—“वसीयतकर्ता की मृत्यु होने हो जाने प्रभाव में आने वाले किसी विशेष वस्तु मुनाफे, लाभ या वृत्ति में सम्पत्ति के अधिकार का दान” इस प्रकार “वसीयत किसी व्यक्ति की अपनी सम्पत्ति सम्बन्धी इरादे की कानूनी घोषणा है, जिसे वह अपने मर जाने के बाद कार्यान्वित करना चाहता है।” यदि वसीयत की परिभाषा को दो भागों में परिभाषित को दो भागों में विभाजित कर दिया जाय तो वसीयत के नीचे दिये हुए तत्व प्रकाश में आते हैं—

- (1) वसीयत एक व्यक्ति द्वारा दूसरे व्यक्ति को सम्पत्ति के अधिकार का एक प्रदान है।
- (2) इस अधिकार का प्रदान ऐसा अधिकार प्रदान वाले व्यक्ति (वसीयतकर्ता) के मर जाने के बाद प्रभाव में आता है। वसीयत का दस्तावेज वसीयतनामा कहलाता है।

कोई औपचारिकता अपेक्षित नहीं— कोई मुसलमान, जो स्वस्थ मस्तिष्क का हो और भारतीय वयस्कता अधिनियम के अन्तर्गत वयस्क हो, वसीयत करने के लिये सक्षम है।

सामान्य नियम—वसीयत करने के लिये सामान्यतया कोई औपचारिकता अपेक्षित नहीं है। केवल यही आवश्यक है कि वसीयतकर्ता द्वारा इस आशय की घोषणा होनी चाहिए कि उसकी मृत्यु के पश्चात् उसकी सम्पत्ति का स्वामित्व वसीयतग्रहीता को प्राप्त हो जाय।

मान्य वसीयत की अपेक्षाएं— मुस्लिम विधि के अन्तर्गत मान्य वसीयत की आवश्यक अपेक्षाएं निम्नलिखित हैं—

- (1) वसीयतकर्ता को वसीयत करने के लिये सक्षम होना जरूरी है।
- (2) वसीयतदार को वसीयत ग्रहण करने के लिये सक्षम होना जरूरी है।
- (3) वसीयत द्वारा दान की विषय-वस्तु का मान्य होना जरूरी है।
- (4) वसीयत द्वारा दान का मुसलमानों की वसीयती शक्ति की सीमा के भीतर होना जरूरी है।

अब्दुल मन्नान खाँ बनाम मुस्तजा खान इस वाद में पटना उच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि प्रत्येक मुस्लिम जो कि स्वस्थ चित्त और वयस्क है वह अपनी सम्पत्ति को वसीयत द्वारा अन्तरित कर सकता है। यहाँ जक वसीयत पत्र का सम्बन्ध है, उसके लिये विधि द्वारा कोई निर्धारित प्रारूप या औपचारिकता का प्रावधान वर्णित नहीं है। एक वसीयतकर्ता की स्पष्ट अभिव्यक्ति इस उद्देश्य को पूरा कर सकती है।

वैध वसीयत की आवश्यकताएँ—

- (1) वसीयतकर्ता (वसीयतकर्ता) को वसीयत बनाने में सक्षम होना चाहिए।
- (2) वसीयतकर्ता (वसीयतकर्ता) को विरासत या वसीयत लेने के लिए सक्षम होना चाहिए।
- (3) वसीयत का विषय (संपत्ति) वैध (गुणात्मक अपेक्षित) होना चाहिए। रु वसीयत एक मुस्लिम की वसीयतनामा शक्ति (मात्रात्मक अपेक्षित) पर लगाई गई सीमा के भीतर होनी चाहिए। वसीयतकर्ता और उसकी क्षमता (वसीयत कौन कर सकता है?) स्वस्थ दिमाग वाला प्रत्येक प्रमुख मुस्लिम (18 वर्ष से अधिक) वसीयत कर सकता है। वयस्कता की आयु भारतीय बहुमत अधिनियम, 1875 द्वारा शासित होती है, जिसके तहत, एक व्यक्ति 18 वर्ष पूरे होने पर (या 21 वर्ष पूरे होने पर, यदि वह कोर्ट ऑफ वार्ड्स की देखरेख में है) वयस्कता प्राप्त करता है। इस प्रकार, वसीयत के निष्पादन के समय वसीयतकर्ता की आयु, जैसा भी मामला हो, 18 या 21 वर्ष होनी चाहिए। वसीयत के निष्पादन के समय (अर्थात् जब इसे बनाया जा रहा हो), वसीयतकर्ता का दिमाग ठीक होना चाहिए। मुस्लिम कानून के तहत, वसीयतकर्ता के पास पूरी तरह से शनिपटाने वाला दिमाग होना चाहिए यानी वसीयतकर्ता को अपनी गतिविधियों के कानूनी परिणामों को न केवल एक संक्षिप्त अवधि के लिए जब घोषणा की गई थी, बल्कि उसके बाद भी पूरी तरह से जानने में सक्षम होना चाहिए। मृत्यु की आशंका में निष्पादित की गई वसीयत वैध है, लेकिन शिया कानून के तहत, यदि कोई व्यक्ति आत्महत्या का प्रयास करने के बाद कोई वसीयत निष्पादित करता है, तो वसीयत अमान्य है। एक नाबालिग वसीयत बनाने में अक्षम है (ऐसी वसीयत अमान्य है) लेकिन नाबालिग द्वारा बनाई गई वसीयत को बाद में वयस्क होने पर उसके अनुसमर्थन द्वारा मान्य किया जा सकता है। अनुचित प्रभाव, जबरदस्ती या धोखाधड़ी से प्राप्त की गई वसीयत वैध नहीं है, और अदालत एक पर्दानशीन महिला की वसीयत को स्वीकार करने में बहुत सावधानी बरतती है। इस प्रकार, एक वसीयत को वसीयतकर्ता द्वारा उसकी स्वतंत्र सहमति से निष्पादित किया जाना चाहिए। वसीयत बनाने या निष्पादित करने के समय वसीयतकर्ता को मुस्लिम होना चाहिए। वसीयत वसीयतकर्ता की मृत्यु के बाद ही प्रभावी होती हैय यह उनकी मृत्यु से पहले की गई एक घोषणा मात्र है जिसके आधार पर वसीयतकर्ता को भविष्य में संपत्ति मिल सकती है। यदि कोई वसीयत किसी ऐसे मुस्लिम द्वारा निष्पादित की गई है जो अपनी मृत्यु के समय मुस्लिम नहीं रह जाता है, तो वसीयत मुस्लिम कानून के तहत वैध है। इसके अलावा, वसीयत मुस्लिम कानून के उस स्कूल के नियमों द्वारा शासित होती है, जिसमें वसीयत के निष्पादन के समय वसीयतकर्ता संबंधित था। उदाहरण के लिए, यदि वसीयत लिखने वाला उस समय शिया मुस्लिम था, तो वसीयत का केवल शिया कानून ही लागू होता है। वसीयतकर्ता और उसकी क्षमता (किसके लिए वसीयत की

जा सकती है?) संपत्ति रखने में सक्षम कोई भी व्यक्ति (मुस्लिम, गैर-मुस्लिम, पागल, नाबालिग, अपनी मां के गर्भ में बच्चा, आदि) वसीयत के तहत विरासती हो सकता है। इस प्रकार, लिंग, आयु, पंथ या धर्म वसीयत लेने में कोई बाधा नहीं है। वसीयतनामा बनाते समय वसीयतदार (अपनी मां के गर्भ में पल रहे बच्चे सहित) अस्तित्व में होना चाहिए। इस प्रकार, किसी अजन्मे व्यक्ति के लिए की गई वसीयत शून्य है। वसीयत वैध रूप से श्रृंखलायिक व्यक्ति या किसी संस्था के लाभ के लिए की जा सकती है (लेकिन यह ऐसी संस्था नहीं होनी चाहिए जो मुस्लिम धर्म के अलावा किसी अन्य धर्म जैसे हिंदू मंदिर, ईसाई चर्च आदि को बढ़ावा देती हो)। किसी धार्मिक या धर्मार्थ वस्तु के लाभ के लिए की गई वसीयत वैध है। इस्लाम के विपरीत किसी वस्तु जैसे हिंदू मंदिर में मूर्ति को लाभ पहुंचाने के लिए वसीयत करना गैरकानूनी है, क्योंकि मूर्ति पूजा इस्लाम के विरोध में है। किसी को भी उसकी इच्छा के विरुद्ध शेरों का लाभकारी स्वामी नहीं बनाया जा सकता। इसलिए, वसीयत के विषय का शीर्षक केवल वसीयतकर्ता की मृत्यु के बाद वसीयतकर्ता की व्यक्ति या निहित सहमति से पूरा किया जा सकता है। वसीयतकर्ता को अस्वीकार करने का अधिकार है। वह व्यक्ति जिसने वसीयतकर्ता की मृत्यु कारित की है, सक्षम वसीयतकर्ता नहीं हो सकता। एक वसीयत वसीयतकर्ता की मृत्यु के बाद ही लागू होती है, इसलिए, एक लालची और अधीर वसीयतकर्ता तुरंत संपत्ति प्राप्त करने के लिए वसीयतकर्ता की मृत्यु का कारण बन सकता है। हालाँकि, यह भी महत्वहीन है कि वसीयतकर्ता को वसीयत के तहत लाभार्थी होने के बारे में पता था या नहीं।

संयुक्त वसीयत— दो या दो से अधिक वसीयतदारों को संयुक्त रूप से वसीयत की जा सकती है, और जब उनमें से किसी का कोई विशिष्ट हिस्सा नहीं बताया गया है, तो संपत्ति सभी वसीयतकर्ताओं के बीच समान रूप से विभाजित की जाती है। लेकिन, जहां लेगेटी ने स्वयं लेगेटी के संबंधित शेरों को निर्दिष्ट किया है।

वसीयत का विषय—वस्तु (वसीयत योग्य संपत्ति) और उसकी वैधता— वसीयतकर्ता को वसीयत द्वारा निपटाई जाने वाली संपत्ति का मालिक होना चाहिए संपत्ति हस्तांतरित करने में सक्षम होनी चाहिए और, संपत्ति वसीयतकर्ता की मृत्यु के समय अस्तित्व में होनी चाहिए, यह आवश्यक नहीं है कि वह वसीयत करते समय अस्तित्व में हो। किसी भी प्रकार की संपत्ति, चल या अचल, भौतिक या निराकार, वसीयत की विषय—वस्तु हो सकती है। वैध वसीयत होने के लिए वसीयत की गई संपत्ति में अनुदान पूर्ण या संपूर्ण होना चाहिए। वसीयत बिना शर्त होनी चाहिए। यदि कोई शर्त जुड़ी हुई है, तो कहें कि वसीयतकर्ता विरासत के विषय को अलग नहीं करेगा, शर्त शून्य है और वसीयत बिना किसी शर्त के प्रभावी है। इसी तरह, प्यूचरो में एक वसीयत शून्य है, और इसी तरह एक आकस्मिक वसीयत भी शून्य है। हालाँकि, संपत्ति की वैकल्पिक वसीयत (अर्थात् किसी एक को या दूसरे व्यक्ति को नहीं) वैध है। इस प्रकार, जब वसीयतकर्ता ने वसीयत की कि यदि उसकी मृत्यु के समय उसका बेटा जीवित है तो वह वसीयत लेगा, यदि अस्तित्व में नहीं है तो उसके बेटे का बेटा वसीयत करेगा, और दोनों के विफल होने पर यह एक दान में चला जाएगा, इसे वैध माना गया (एडवोकेट जनरल वी. जिम्बाबाई)) सुन्नी कानून के तहत शरीयत संपत्ति का निर्माण स्वीकार्य नहीं है किसी व्यक्ति के पक्ष में जीवन संपत्ति की वसीयत ऐसे संचालित होगी जैसे कि यह एक पूर्ण अनुदान हो। हालाँकि, शिया कानून के तहत, किसी के पक्ष में जीवन संपत्ति की वसीयत और उसकी मृत्यु के बाद दूसरे को निहित शेष वैध है। वसीयतनामा की शक्ति और उसकी सीमाएँ (वसीयत योग्य एक—तिहाई)

एक मुसलमान के पास वसीयत द्वारा स्वभाव बनाने की असीमित शक्ति नहीं होती है। किसी मुसलमान की वसीयत द्वारा अपनी संपत्ति का निपटान करने की शक्ति पर दो तरह के प्रतिबंध हैं, जो उस व्यक्ति के संबंध में हैं जिसके पक्ष में वसीयत की गई है, और वह किस हद तक अपनी संपत्ति का निपटान कर सकता है। यह स्पष्ट है, क्योंकि इस प्रतिबंध के पीछे का उद्देश्य वसीयतकर्ता के उत्तराधिकारियों के हितों की रक्षा करना है।

कोई भी मुस्लिम अंतिम संस्कार शुल्क और ऋण के भुगतान के बाद अपनी शुद्ध संपत्ति के एक तिहाई से अधिक की वसीयत नहीं कर सकता है। यदि वसीयत की गई संपत्ति एक तिहाई से अधिक है, तो अन्य उत्तराधिकारियों की सहमति आवश्यक है (सुन्नी और शिया कानून)।

अन्य उत्तराधिकारियों को छोड़कर एक उत्तराधिकारी को संपूर्ण संपत्ति की वसीयत शून्य है — हुसैनी बेगम वी. मोहम्मद। मेहदी जहां उत्तराधिकारी अपनी सहमति देने से इनकार करते हैं, वसीयत केवल संपत्ति के एक—तिहाई हिस्से तक ही वैध होगी और शेष दो—तिहाई हिस्सा बिना वसीयत के उत्तराधिकार के रूप में दिया जाएगा।

रु किसी उत्तराधिकारी को एक तिहाई की वसीयत के संबंध में सुन्नी कानून में अन्य उत्तराधिकारियों की सहमति की आवश्यकता होती है, लेकिन शिया कानून में नहीं। गैर—उत्तराधिकारी (अजनबी) के मामले में दोनों में उत्तराधिकारियों की सहमति की आवश्यकता नहीं है।

(1) वसीयत योग्य एक—तिहाई का उपरोक्त नियम उस मामले में लागू नहीं होगा जहां वसीयतकर्ता का कोई उत्तराधिकारी नहीं है। किसी उत्तराधिकारीहीन व्यक्ति की संपत्ति लेने का सरकार का अधिकार, किसी भी तरह से, किसी व्यक्ति के अपनी संपत्ति का अपनी इच्छानुसार निपटान करने के अधिकार को प्रतिबंधित नहीं करेगा। इस प्रकार सरकार किसी उत्तराधिकारीहीन व्यक्ति की उत्तराधिकारी नहीं है।

(2) पवित्र उद्देश्यों के लिए की गई वसीयत सुन्नी और शिया दोनों कानूनों के तहत संपत्ति की सीमा या एक तिहाई तक वैध है।

(3) यदि कोई मुस्लिम विशेष विवाह अधिनियम, 1954 के तहत विवाह करता है तो '1/3 सीमा' नियम लागू नहीं होगा, क्योंकि तब उसके पास भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम, 1925 के तहत एक वसीयतकर्ता की सभी शक्तियां हैं।

उत्तराधिकारियों की सहमति— सहमति उत्तराधिकारियों की होनी चाहिए और अनुमानित उत्तराधिकारियों का नहीं। कोई व्यक्ति उत्तराधिकारी है या नहीं, इसका निर्धारण वसीयतकर्ता की मृत्यु के समय किया जाएगा क्योंकि जो व्यक्ति वसीयत करते समय उत्तराधिकारी है, वह वसीयतकर्ता की मृत्यु के समय उत्तराधिकारी नहीं रहेगा और इसके विपरीत भी। सुन्नी कानून के तहत उत्तराधिकारियों द्वारा सहमति, वसीयतकर्ता की मृत्यु के बाद ही दी जाएगी, जबकि शिया में यह वसीयतकर्ता की मृत्यु से पहले या बाद में हो सकती है।

सहमति निश्चित होनी चाहिए, चाहे सकारात्मक आचरण द्वारा व्यक्त या निहित हो, और उत्तराधिकारी की ओर से केवल चुप्पी निहित सहमति नहीं होगी। उत्तराधिकारियों द्वारा वसीयत का सत्यापन और संपत्ति पर कब्जा करने वाले वसीयतकर्ता की सहमति को पर्याप्त सहमति माना गया है। ऐसे मामलों में जहां केवल कुछ उत्तराधिकारी अपनी सहमति देते हैं, सहमति देने वालों के शेर बाध्य होंगे, और अधिक विरासत का भुगतान सहमति देने वाले उत्तराधिकारी के हिस्से से किया जाएगा। दिवालिया होने वाले उत्तराधिकारियों की सहमति को वसीयत को वैध बनाने में प्रभावी माना गया है। एक बार दी गई सहमति को बाद में रद्द नहीं किया जा सकता। इसी तरह, किसी उत्तराधिकारी द्वारा पहले ही इसे अस्वीकार करने के बाद सहमति नहीं दी जा सकती है।

वारिसों और गैर-वारिसों को वसीयत करना— जहां वसीयतकर्ता वारिसों के साथ-साथ गैर-वारिसों को भी एक ही विरासत के जरिए वसीयत करता है, वहां उत्तराधिकारियों की सहमति के अभाव में विरासत पूरी तरह से अमान्य नहीं होगी, लेकिन उसके संबंध में प्रभावी होगी। गैर वारिस। नियम यह है कि जहां तक संभव हो, वसीयत को उतना अधिकतम प्रभाव दिया जायेगा जितना वह सक्षम हो।

उदाहरण के लिए, यदि वसीयतकर्ता अपनी कुल संपत्ति एक वारिस और एक गैर-वारिस को देता है, तो वारिस की सहमति के बिना, गैर-वारिस संपत्ति का एक तिहाई हिस्सा ले लेगा और बाकी दो तिहाई हिस्सा उसके पास चला जाएगा। विरासत द्वारा वसीयतकर्ता के उत्तराधिकारी — मुहम्मद वी. औलिया बीबी।

वसीयत का निरसन— मुस्लिम कानून वसीयतकर्ता को अपनी वसीयत रद्द करने का निर्बाध अधिकार प्रदान करता है। एक मुस्लिम वसीयतकर्ता अपने जीवनकाल के दौरान, स्पष्ट रूप से या परोक्ष रूप से की गई किसी भी वसीयत को रद्द कर सकता है। इस प्रकार, यदि वह वसीयत की गई वस्तु को बेचता है, उपहार में देता है या किसी अन्य तरीके से उसका सौदा करता है जैसे कि पहले वसीयत की गई भूमि के टुकड़े पर घर बनाना, तो इसका अर्थ निरस्तीकरण होगा। उदाहरण के लिए, जहां वसीयतकर्ता वसीयत के तहत अपने दोस्त को जमीन देता है, लेकिन एक साल बाद वही जमीन अपनी बेटी को उपहार में दे देता है, तो दोस्त के पक्ष में की गई वसीयत स्वतः ही रद्द हो जाती है। जहां एक वसीयतकर्ता एक वसीयत बनाता है, और बाद की वसीयत द्वारा वही संपत्ति किसी और को दे देता है, तो पूर्व वसीयत रद्द कर दी जाती है। लेकिन उसी वसीयत में किसी अन्य व्यक्ति को बाद में की गई वसीयत (हालांकि उसी संपत्ति की) पूर्व वसीयत के निरसन के रूप में काम नहीं करती है, और संपत्ति को दो वसीयतकर्ताओं के बीच समान शेरों में विभाजित किया जाएगा। यह आवश्यक नहीं है कि पहले की वसीयत को रद्द करने के लिए दूसरी वसीयत ही बनानी पड़े। एक वसीयत को इस आशय की एक सरल और स्पष्ट घोषणा द्वारा या वसीयत को रद्द करने या निरस्त करने के औपचारिक विलेख द्वारा रद्द किया जा सकता है।

प्रश्न नं० 9— “शरीयत अधिनियम, 1937 द्वारा मुस्लिम विधि के विरुद्ध सभी प्रथाओं को अमान्य तथा प्रभावहीन करके मुस्लिम विधि में एकरूपता तथा एक लायी गयी है।” इस कथन की विवेचना कीजिए।

उत्तर— 1947 में भारत के विभाजन ने न केवल भारत को दो स्वतंत्र डोमेन में विभाजित कर दिया, बल्कि देश पर लागू कानूनों को भी पूरी तरह से बदल दिया। 1947 के विभाजन से पहले, विरासत, उत्तराधिकार, विवाह, तलाक, पारिवारिक संबंध और दहेज के विषय धार्मिक कानूनों के सक्षम मार्गदर्शन के तहत विनियमित किए गए थे जिनकी जड़ें सदियों पुराने रीति-रिवाजों में मौजूद थीं। इस प्रकार के कानूनों को बनाने वाली अंतर्निहित विचारधाराओं के कारण अक्सर ऐसे कानूनों में विभिन्न विधानों द्वारा परिवर्तन किया जाता था। मुस्लिम पर्सनल लॉ (शरीयत) अधिनियम, 1937 को लागू करने के पीछे का कारण मुसलमानों के संबंध में मौजूद पारंपरिक प्रथाओं को मिटाना था। पहले, यह अधिनियम उत्तर-पश्चिम सीमांत प्रांत में लागू नहीं था क्योंकि उनके पास एनडब्ल्यूएफपी मुस्लिम पर्सनल लॉ (शरीयत) एप्लीकेशन एक्ट, 1935 के नाम से भिन्न विशेषताओं वाला अपना कानून था। लेकिन अब तक, 1937 का अधिनियम पूरे भारत में लागू है जैसा कि अधिनियम की धारा 1(2) के तहत प्रदान किया गया है। इस लेख का उद्देश्य 1937 के इस अधिनियम का विस्तृत विश्लेषण प्रदान करना है।

मुस्लिम पर्सनल लॉ (शरीयत) अधिनियम, 1937—मुस्लिम पर्सनल लॉ (शरीयत) अधिनियम, 1937 केवल पाँच प्रावधानों वाला एक छोटा कानून है। प्रत्येक प्रावधान का अपना महत्व होने के कारण, उनमें से प्रत्येक का व्यक्तिगत विश्लेषण प्रासंगिक है। 1937 के अधिनियम की योजना यहां दी गई है—

धारा 1— संक्षिप्त शीर्षक और विस्तार

धारा 2 — मुसलमानों पर पर्सनल लॉ का लागू होना

धारा 3 — घोषणा करने की शक्ति

धारा 4 — नियम बनाने की शक्ति

धारा 6 —निरसन

अधिनियम, 1937 का अनुप्रयोग—मुस्लिम पर्सनल लॉ (शरीयत) अधिनियम, 1937 की धारा 2 मुसलमानों के लिए पर्सनल लॉ के आवेदन के बारे में बात करती है। प्रावधान इस प्रकार है, विपरीत किसी भी रीति-रिवाज या उपयोग के बावजूद, बिना वसीयत के उत्तराधिकार के संबंध में सभी प्रश्नों (कृषि भूमि से संबंधित प्रश्नों को छोड़कर), महिलाओं की विशेष संपत्ति, जिसमें विरासत में मिली या अनुबंध या उपहार या व्यक्तिगत के किसी अन्य प्रावधान के तहत प्राप्त निजी संपत्ति शामिल है। कानून, विवाह, तलाक, इला, जिहार, लियान, खुला और मुबारत सहित विवाह का विघटन, भरण-पोषण, मेहर, संरक्षकता उपहार, ट्रस्ट और ट्रस्ट संपत्तियाँ, और वक्फ (दान और धर्मार्थ संस्थानों और धर्मार्थ और धार्मिक बंदोबस्ती के अलावा) नियम ऐसे मामलों में निर्णय जहाँ पक्षकार मुस्लिम हैं, मुस्लिम पर्सनल लॉ (शरीयत) होगा। इस प्रकार यह प्रावधान अपनी छत्रछाया में दस विषय-वस्तुओं को शामिल करता है जो हैं—

(1) निर्वसीयत उत्तराधिकार; (2) विवाह का विघटन जिसमें सभी प्रकार के तलाक जैसे तलाक, इला, जिहार, लियान, खुला और मुबारत भी शामिल हैं; (3) रखरखाव; (4) दहेज; (5) स्त्रियों की विशेष संपत्ति; (6) शादी; (7) संरक्षकता; (8) उपहार; (9) ट्रस्ट, और उससे जुड़ी संपत्तियाँ; और (10) वक्फ।

इस प्रावधान की व्याख्या करने के लिए, इस खंड में मौजूद दो आवश्यक वाक्यांशों पर प्रकाश डाला जाना आवश्यक है, जो हैं—

“इसके विपरीत किसी भी रीति-रिवाज या उपयोग के बावजूद” और “मुस्लिम पर्सनल लॉ (शरीयत) होगा।”

धारा 3—घोषणा करने की शक्ति—अधिनियम की धारा 2 की तरह ही धारा 3 भी महिलाओं को कृषि भूमि से लाभ प्राप्त करने के संबंध में घोषणा करने से स्पष्ट रूप से बाहर रखती है। प्रावधान इस प्रकार है,

(1) कोई भी व्यक्ति जो निर्धारित प्राधिकारी को संतुष्ट करता है

(ए) कि वह एक मुस्लिम है, और (बी) कि वह भारतीय अनुबंध अधिनियम, 1872 (1872 का 9) की धारा 11 के अर्थ के तहत अनुबंध करने के लिए सक्षम है, और (सी) कि वह खूब क्षेत्रों का निवासी है जिन पर यह अधिनियम विस्तारित है, निर्धारित प्रपत्र में एक घोषणा द्वारा और निर्धारित प्राधिकारी के समक्ष दायर किया जा सकता है कि वह खूब धारा के प्रावधानों, का लाभ प्राप्त करना चाहता है, और उसके बाद धारा 2 के प्रावधान घोषणाकर्ता और उसके सभी नाबालिग बच्चों और उनके पर लागू होंगे वंशजों को मानो गोद लेने के मामलों के अलावा, वसीयतें और विरासतें भी निर्दिष्ट की गई थीं।

(2) जहाँ निर्धारित प्राधिकारी उप-धारा (1) के तहत एक घोषणा को स्वीकार करने से इनकार करता है, ऐसा करने का इच्छुक व्यक्ति ऐसे अधिकारी से अपील कर सकता है जिसे राज्य सरकार, सामान्य या विशेष आदेश द्वारा, इस संबंध में नियुक्त कर सकती है, और ऐसा अधिकारी, यदि वह संतुष्ट है कि अपीलकर्ता घोषणा करने का हकदार है, तो निर्धारित प्राधिकारी को इसे स्वीकार करने का आदेश दे सकता है।

अधिनियम की धारा 3 घोषणा करने की शक्ति के बारे में बात करती है। अब, इस शक्ति का उपयोग करने के लिए, किसी व्यक्ति को इस प्रावधान द्वारा प्रदान किए गए तीन मानदंडों को पूरा करना होगा, जो हैं;

1937 के अधिनियम के तहत राज्य सरकारों की नियम बनाने की शक्ति— मुस्लिम पर्सनल लॉ (शरीयत) अधिनियम, 1937 की धारा 4 राज्य सरकारों को अधिनियम के प्रावधानों और उद्देश्य के अनुसार नियम बनाने की शक्ति प्रदान करती है। अनुभाग इस प्रकार पढ़ता है,

(1) राज्य सरकार, इस अधिनियम के उद्देश्यों को लागू करने के लिए नियम बना सकती है।

(2) विशेष रूप से और पूर्वगामी शक्तियों की व्यापकता पर प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना, ऐसे नियम निम्नलिखित सभी या किसी भी मामले के लिए प्रदान कर सकते हैं, अर्थात्

(ए) उस प्राधिकारी को निर्धारित करने के लिए जिसके समक्ष और वह प्रपत्र जिसमें इस अधिनियम के तहत घोषणाएं की जाएंगी;

(बी) इस अधिनियम के तहत अपने कर्तव्यों के निर्वहन में घोषणाओं को दाखिल करने और किसी भी व्यक्ति के निजी आवास पर उपस्थिति के लिए भुगतान की जाने वाली फीस निर्धारित करने के लिए और वह समय निर्धारित करने के लिए जिस पर ऐसी फीस देय होगी और जिस तरीके से उन्हें लगाया जाएगा।

(3) इस धारा के प्रावधानों के तहत बनाए गए नियम आधिकारिक राजपत्र में प्रकाशित किए जाएंगे और उसके बाद इस अधिनियम में अधिनियमित होने के समान प्रभावी होंगे।

(4) इस अधिनियम के तहत राज्य सरकार द्वारा बनाया गया प्रत्येक नियम, बनते ही राज्य विधानमंडल के समक्ष रखा जाएगा,।

1937 के अधिनियम की धारा 3 के साथ यह प्रावधान एक मुस्लिम द्वारा घोषणा की प्रक्रिया को नियंत्रित करता है जैसा कि धारा 3 (1) के तहत प्रदान किया गया है। घोषणा पत्र दाखिल करने के लिए निर्धारित प्राधिकारी और ऐसे प्राधिकारी के समक्ष जमा की जाने वाली फीस का निर्णय राज्य सरकारों द्वारा किया जाना चाहिए। ध्यान देने वाली बात यह है कि 1937 का अधिनियम केंद्रीय कानून है और इसकी घोषणा के समय इसे विशेष रूप से राज्यों के लिए नहीं बनाया जा सकता था। इस वजह से, अधिनियम इतना लचीला प्रतीत होता है कि राज्य सरकार की नियम बनाने की शक्ति को उस राज्य के मुसलमानों की जरूरतों के अनुसार शामिल किया जा सकता है, बशर्ते अधिनियम का उद्देश्य किसी भी तरह से विफल नहीं होना चाहिए।

मुस्लिम पर्सनल लॉ (शरीयत) अधिनियम, 1937 के तहत निरसन— 1937 के शरीयत अधिनियम की धारा 6 कुछ कानूनों के कुछ प्रावधानों को निरस्त करने की बात करती है जो 1937 के शरीयत अधिनियम के प्रावधानों के साथ असंगत प्रतीत होते हैं। इन अधिनियमों ने शरीयत अधिनियम से पहले मुस्लिम कानून को लागू करने के लिए भारत की अदालतों को अधिकार दिए हैं। 1937 में प्रख्यापित किया गया था।

प्रश्न न0 10— इदत से आप क्या समझते हैं? इदत की अवधि में अधिकार और कर्तव्यों की विवेचना कीजिए।

उत्तर— 'इदत' का शाब्दिक अर्थ है 'गणना करना'। मुस्लिम विधि के अन्तर्गत इदत उस अवधि को कहते हैं जिसमें विवाह के पश्चात् किसी विधवा या तलाकशुदा महिला के पुनर्विवाह करने पर प्रतिबन्ध रहता है। सामानान्यता विवाह विच्छेद के पश्चात् पति तथा पत्नी के दाम्पत्य सम्बन्ध समाप्त हो जाते हैं और ये स्वतन्त्र पुरुष तथा महिला की स्थिति में आ जाते हैं। विवाह विच्छेद के तुरन्त बाद पति को तो पुनर्विवाह करने का अधिकार रहता है परन्तु पत्नी एक निश्चित अवधि तक पुनर्विवाह नहीं कर सकती। विवाह विच्छेद के पश्चात् की वह निश्चित अवधि जिसमें पत्नी (विधवा या तलाकशुदा) को दूसरा करने के लिए प्रतीक्षा करनी पड़ती है, इदत कहलाती है।

इस अवधि में पत्नी को एकान्वास में रहकर सात्विक जीवन बिताना पड़ता है तथा इस अवधि में उसके पुनर्विवाह का निषेध ऐसी किसी स्त्री के पुनर्विवाह के प्रतिबन्ध का बड़ा सार्थक उद्देश्य हो, वस्तुतः विवाह-विच्छेद के पूर्व यदि पति-पत्नी का कुछ दिन पहले ही सम्भोग हुआ रहा हो तो सम्भोग के फलस्वरूप पत्नी में गर्भ धारण किया है अथवा नहीं इसका पता लगाना कठिन होता है। ऐसी स्थिति में यदि पति की भाँति पत्नी को भी विवाह-विच्छेद के तुरन्त बाद पुनर्विवाह का अधिकार दे दिया जाए तो उसके सम्भावित गर्भ को पैतृकता पूर्व-पति की मानी जाए अथवा दूसरे पति की, इसका निर्धारण संदेहात्मक हो जाता है। इसी स्थिति से उबरने के लिए मुस्लिम विधि के नियम निर्धारित किया है कि विवाह-विच्छेद के पश्चात् पत्नी एक निश्चित अवधि (इदत) तक प्रतीक्षा करे ताकि किसकी सम्भावित गर्भ की स्थिति स्पष्ट हो जाए। 'इदत' की अवधि समाप्त होने तक सम्भावित गर्भ की स्थिति शारीरिक लक्षणों द्वारा अपने आप स्पष्ट हो जाती है। विभिन्न परिस्थितियों में विवाह-विच्छेद के पश्चात् इदत के लिए निर्धारित अवधि निम्नलिखित है—

(अ) तलाक द्वारा विवाह-विच्छेद होने पर— (1) यदि पति-पत्नी के बीच सम्भोग हो चुका हो तो इदत की अवधि तीन मासिक धर्म की होती है। पत्नी को मासिक धर्म न होता तो इदत का समय तीन चन्द्र मास है।

(2) यदि तलाक द्वारा विवाह-विच्छेद सम्भोग से पहले ही हो जाए तो पत्नी को इदत का पालन नहीं करना पड़ता है।

(3) विवाह-विच्छेद के समय यदि पत्नी गर्भवती हो तो इदत की अवधि गर्भपात या बच्चे के जन्म तक रहती है।

(ब) पति की मृत्यु द्वारा विवाह-विच्छेद होने पर— (1) यदि विवाह-विच्छेद का कारण पति की मृत्यु हो तो विधवा को चार माह दस दिन तक इदत का पालन करना पड़ता है, दूसरी बात यह है कि सम्भोग यदि नहीं हुआ हो तो भी विधवा स्त्री के लिए चार माह दस दिन का इदत अनिवार्य है।

(2) पति की मृत्यु के समय पत्नी गर्भवती हो तो इदत की अवधि चार माह दस दिन अथवा बच्चे के जन्म लेने, जो भी अवधि अधिक हो, तक मानी जाती है।

(स) तलाक की इदत में पति की मृत्यु— तलाक की इदत तीन मासिक धर्म या तीन-चार मास होती है। तलाक के इदत का पालन करने के दौरान ही यदि इस तलाकशुदा पत्नी के पूर्व पति का देहान्त हो जाए तो उसे पति की मृत्यु की तिथि से चार माह दस दिन का नया इदत फिर से शुरू करना पड़ता है।

उदाहरण—यदि तलाकशुदा पत्नी की इदत का दो माह पूरा हो चुकने के आद उसके पूर्व पति का देहान्त हो जाता है तो उसे फिर से चार माह दिन के इदत का पालन करना पड़ेगा। इस प्रकार इदत की कुछ अवधि छः माह दिन हो जायेगी।

(द) इदत प्रारम्भ होने का समय— तीन माह अथवा चार माह दिन तक जो भी इदत किसी महिला को पालन करना पड़े वह तलाक या पति की मृत्यु की तिथि से प्रारम्भ होता है न कि उस दिन से जब पति के देहान्त या उसके दिये जाने की उसे सूचना मिली हो। इदत के लिए निर्धारित समाप्त हो चुने के पश्चात् तलाक या पति की मृत्यु की सूचना मिलने पर उस महिला को निर्धारित इदत पालन करने की आवश्यकता नहीं रहती।

शिया विधि— (1) शिया मुस्लिमों में यदि कोई महिला मासिक धर्म प्रारम्भ होने कर उम्र में पहुँची ही न हो तो या वृद्धावस्था के कारण मासिक धर्म बंद हो चुका हो अथवा किन्हीं अन्य कारणों से या तो मासिक धर्म अनियमित हो या समाप्त हो गया हो तो उसे 'इदत' का पालन करने की आवश्यकता नहीं रहती।

ऐसा नियम ठीक है क्योंकि उपरोक्त परिस्थितियों में चूँकि गर्भ धारण की सम्भावना ही नहीं रहती है अतएव इदत का मुख्य उद्देश्य अर्थात् सम्भावित गर्भ का सुनिश्चित किया जाना निरर्थक होगा।

(2) इदत पालन करती हुई महिला से किया गया विवाह शिया विधि शून्य माना जाता है।

प्रश्न न0 11— मुता विवाह क्या है? इसकी अनिवार्यता तथा विधिक परिणाम क्या होते हैं?

उत्तर— कई विचारधाराओं द्वारा विस्तृत इस्लामी न्यायशास्त्र के अनुसार विवाह अनुबंध का मुख्य उद्देश्य पुरुष और महिला के बीच संभोग को वैध बनाना है। यह ऐसे मिलन की संतानों को वैधता भी देता है। मुता'ह या मुता इस्लाम के अंतर्गत विवाह का एक ऐसा प्रकार है। मुताह विवाह अस्थायी और निश्चित समय के लिए किया जाता है। यह विशेषता मुता को अन्य प्रकार के विवाहों से अलग करती है। मुताह का अभ्यास केवल शिया मुसलमानों के अधीन

इथना अशारी स्कूल के अनुयायियों द्वारा किया जाता है। सुन्नी कानून के तहत इसे अमान्य माना जाता है। शियाओं का मानना है कि मुता करने से वे एक आस्तिक के रूप में मजबूत हो जाते हैं। मुताह शब्द का अर्थ है 'आनंद, आनंद या आनंद'। इसे आनंद और आनंद के लिए किया गया विवाह माना जाता है। विवाह के समय ही अवधि तय कर दी जाती है। हालाँकि, भारत में मुता विवाह बहुत कम पाया जाता है। यह एक अनोखी तरह की व्यवस्था है और दुनिया भर के कुछ इस्लामिक देशों में इसका पालन किया जाता है। यह ईरान और इराक जैसे अरब देशों में सबसे अधिक प्रचलित है। यह ब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमेरिका में भी प्रचलित है। मुताह एक अलग प्रथा है। इस्लाम में, विवाह एक संविदात्मक प्रकृति के होते हैं, और मुता विवाह इसका एक रूप है।

इस्लामी कानून के तहत विवाह अपनी प्रकृति से ही संविदात्मक होते हैं। मुताह विवाह इसका एक रूप है। ऐसे विवाहों की संविदात्मक प्रकृति इस्लामी लोगों को विवाह के समय समझौते में बदलाव करने और अपनी पसंद के अनुसार शर्तों को शामिल करने की अनुमति देती है। वे किसी भी चीज को शामिल कर सकते हैं, जहां तक उस देश में इसकी कानूनी अनुमति है। विवाह का समझौता और शर्तें कानून की अदालत में कानूनी और लागू करने योग्य होंगी। कुरान में, मुताह विवाह को कहा गया है, "और तुम्हें अपने धन से शिष्ट आचरण वाली पत्नियाँ ढूँढ़ने की अनुमति है, परन्तु व्यभिचार में नहीं, परन्तु अपने वचन के अनुसार जो तुमने उनसे भोगा है उसका प्रतिफल उन्हें दो।"

मुताह विवाह में, साझेदारों को मेहर और अनुबंध की अवधि पहले से निर्धारित करनी होती है। पत्नियाँ विवाह विच्छेद पर पति से भरण-पोषण का दावा नहीं कर सकतीं, जब तक कि इसे पहले से समझौते में स्पष्ट रूप से शामिल नहीं किया गया हो। इस मामले पर कलकत्ता हाई कोर्ट ने अलग रुख अपनाया है जिसके बारे में हम इस लेख में आगे चर्चा करेंगे। पत्नी पति की संपत्ति में किसी भी अधिकार का दावा नहीं कर सकती। यह मुता विवाह की एक महत्वपूर्ण और असाधारण प्रकृति है। समय के साथ, कुछ कानूनी विकास हुए हैं जिनकी चर्चा इस लेख में आगे की गई है।

बच्चू बनाम बिस्मिल्लाह (1935) — इस मामले में, पति एक निश्चित अवधि के लिए पत्नी को एक निश्चित राशि का भरण-पोषण देने पर सहमत हुआ था। इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने कहा कि ऐसा करने में विफलता को तलाक का आधार माना जा सकता है और अनुबंध स्वयं तलाकनामा होगा। चूंकि पति अपना कर्तव्य निभाने में विफल रहा, इसलिए पत्नी को तलाक का अधिकार मिल गया है। डिफॉल्ट के कारण तलाक बिना किसी उच्चारण के प्रभावी हो गया।

शोहरत सिंह बनाम मुसम्मत जाफरी बीबी (1914) — इस मामले में, अदालत ने मुता विवाह के अर्थ और मुसलमानों के बीच इसके महत्व पर विचार किया। यह कहा गया था कि इस्लामी कानून के अनुसार, शिया संप्रदाय के मुसलमानों द्वारा मुता विवाह का पालन किया जाता है। यह एक निश्चित अवधि के लिए अस्थायी विवाह है। इस प्रकार का विवाह महिला को पति की संपत्ति पर कोई अधिकार नहीं देता है। मेहर ऐसे विवाहों का एक प्रमुख घटक है। विवाह से पैदा हुए बच्चे वैध माने जाते हैं और अपने पिता से विरासत पाने में सक्षम होते हैं। निकाह एक धार्मिक समारोह है, चाहे वह स्थायी हो या अस्थायी, और इस प्रकार महिला को पूरी तरह से पत्नी का दर्जा प्रदान करता है।

सैयद अमानुल्लाह हुसैन और अन्य बनाम राजममंद और अन्य (1976) — इस मामले में, एक शिया पुरुष हबीबुल्ला ने राजम्मा के साथ मुता विवाह में प्रवेश किया। यह शादी 1967 में पति की मृत्यु तक चली। उनकी मृत्यु के बाद, राजम्मा को उनकी सारी संपत्ति विरासत में मिली। हबीबुल्ला के भाई ने इस विरासत को चुनौती दी क्योंकि यह विवाह एक मुता विवाह था, और ऐसे विवाह में पत्नी को विरासत का कोई अधिकार नहीं है। सावधानीपूर्वक विचार और व्याख्या करने पर, अदालत ने यह माना कि मुता विवाह की अवधि उनके अनुबंध में निर्दिष्ट नहीं थी। यदि अवधि निर्दिष्ट नहीं है, तो इसे सामान्य स्थायी विवाह माना जाएगा। मुता विवाह की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता निश्चित अवधि है, इसलिए, यदि अनुबंध में अवधि का उल्लेख नहीं है, तो इसे मुता विवाह नहीं माना जाएगा। इसलिए, विवाह को स्थायी विवाह माना जाता था, और पत्नी को अपने पति की संपत्तियों पर विरासत का अधिकार होता था। भाई के दावे को कोर्ट ने स्वीकार नहीं किया।

लुडन बनाम मिर्जा कुमार (1882) — इस मामले में याचिकाकर्ता ने पत्नी के रूप में अपने लिए भरण-पोषण का आदेश प्राप्त करने के लिए दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 536 के तहत एक आवेदन दायर किया। वह एक मुता विवाह में थी। विवाह में दोनों पक्षकार शिया थे। उन्होंने आरोप लगाया कि यह अवधि 50 साल थी, जबकि उनके पति का आरोप था कि यह केवल डेढ़ महीने के लिए थी। मजिस्ट्रेट ने कहा कि शिया कानून के मुताबिक, मुता विवाह की पत्नी को भरण-पोषण का दावा करने का कोई अधिकार नहीं है। हालाँकि, यह दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 536 के तहत भरण-पोषण का वैधानिक अधिकार नहीं छीनता है। भरण-पोषण का अधिकार, लागू किए जाने योग्य व्यक्तिगत कानून के आधार पर, एक सिविल मुकदमे का विषय बनता है। इसलिए, कलकत्ता उच्च न्यायालय ने माना कि पत्नी आपराधिक प्रक्रिया संहिता के तहत भरण-पोषण का दावा करने के लिए योग्य थी।

मुता विवाह के आवश्यक तत्व— (1) सहवास की अवधि तय होनी चाहिए।

(2) मेहर की राशि तय होनी चाहिए।

(3) अगर मेहर तय है, लेकिन अवधि नहीं, तो यह विवाह स्थायी या नियमित माना जाएगा।

(4) अगर मेहर की अवधि तय नहीं है, तो यह विवाह शून्य माना जाएगा।

(5) विवाह करते समय ही सहवास की अवधि तय कर लेनी चाहिए। यह अवधि एक दिन, एक महीना, एक साल, या कई साल की हो सकती है।

(6) विवाह की संविदा में मेहर की राशि का साफ-साफ उल्लेख होना चाहिए।

(7) मुता विवाह में पत्नियों की संख्या चार तक सीमित नहीं होती है।

(8) विवाह करने वाले दोनों पक्षों को युवावस्था की उम्र होनी चाहिए और उनका दिमाग स्वस्थ होना चाहिए।

(9) दोनों पक्षों की सहमति स्वतंत्र होनी चाहिए।

(10) दोनों पक्षों को रिश्ते की निषिद्ध डिग्री के भीतर नहीं होना चाहिए।

(11) उचित अनुबंध होना चाहिए और घोषणा और स्वीकृति जरूरी है।

मुता विवाह के विवाह परिणाम—मुता विवाह के निम्नलिखित विधिक परिणाम होंगे—

(1) पत्नी को अलग रहने की अनुमति होगी।

(2) पति को वैवाहिक अधिकार नहीं दिए जाएंगे।

(3) चरम स्थितियों में पत्नी को तलाक का अधिकार मिल सकता है।

(4) दहेज का अधिकार उत्पन्न हो सकता है।

(5) विवाह तुरन्त विघटित हो सकता है।

(6) पति-पत्नी को विरासत का कोई पारस्परिक अधिकार नहीं है।

(7) मुता पत्नी पर्सनल लॉ के तहत भरण-पोषण का दावा करने की हकदार नहीं है।

(8) अगर पति साथ रहता है तो पत्नी पूरा मेहर पाने की हकदार लेकिन अगर नहीं रहता तो पत्नी आधा मेहर पाने की हकदार।

(9) मुता विवाह के अंतर्गत तलाक को मान्यता नहीं दी जाती है।

प्रश्न न० 12—“इस्लामिक विधि (Mohammedan Law) के अंतर्गत विवाह को एक सिविल संविदा है” इस कथन की आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।

उत्तर—मुस्लिम विधि के अंतर्गत विवाह एक सिविल संविदा (Civil Contract) है, जिसका उद्देश्य यौन संबंधों को वैधानिक स्वरूप प्रदान करना तथा संतान को वैध बनाना होता है। **हिदाया (Heday)** के अनुसार, विवाह एक विशेष प्रकार का संविदा है, जिसका प्रयोग संतान को वैध ठहराने के लिए किया जाता है।

विधिक रूप से यह कहा जा सकता है कि कानून की दृष्टि में मुस्लिम विवाह एक सिविल संविदा है। विवाह संविदा का उद्देश्य मुख्यतः दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—

पति-पत्नी के संबंधों को वैधानिक मान्यता प्रदान करना, और

विवाह से उत्पन्न संतान को वैध ठहराना।

यदि विवाह का संविदा वैध न हो तो पुरुष और महिला के बीच संबंध गैर-कानूनी माने जाते हैं। विवाह न केवल ऐसे संबंधों को वैध बनाता है, बल्कि विवाह से उत्पन्न संतान को भी वैध संतान (Legitimate Child) का दर्जा प्रदान करता है।

इस प्रकार, विधिक दृष्टिकोण से मुस्लिम विवाह एक अनुबंध है, और इसकी प्रकृति संविदात्मक (Contractual) है।

यद्यपि हिन्दू विवाह में भी संविदा के तत्व पाए जाते हैं, फिर भी हिन्दू विवाह को एक संस्कारात्मक (Sacramental) प्रकृति का माना जाता है, क्योंकि इसमें धार्मिक अनुष्ठानों की आवश्यकता होती है।

न्यायमूर्ति महमूद (Justice Mahmood) ने मुस्लिम विवाह को सिविल संविदा के रूप में परिभाषित किया है, क्योंकि मुस्लिम विवाह को संपन्न करने के लिए कोई धार्मिक औपचारिकताएं आवश्यक नहीं होतीं।

हालांकि यह परिभाषा मुस्लिम विवाह के केवल कानूनी पक्ष को प्रतिबिंबित करती है। इसके अतिरिक्त, मुस्लिम विवाह को एक सामाजिक एवं धार्मिक संस्था (Social and Religious Institution) के रूप में भी देखा जाता है। विधिक रूप से मुस्लिम विवाह को संविदा माना जाता है, क्योंकि जिन तत्वों से विवाह बनता है और जिस प्रक्रिया से यह पूर्ण होता है, वह सिविल संविदा की प्रक्रिया से अत्यधिक मेल खाती है।

मुस्लिम विवाह की संविदात्मक प्रकृति को निम्न तथ्यों द्वारा समझा जा सकता है (यहाँ आप आगे के बिंदु जोड़ सकते हैं जैसे — ईजाब और कबूल, मेहर, साक्षी, शर्तें, तलाक आदि।) —

1. संविदा की भाँति, विवाह के पक्षकारों का सक्षम होना आवश्यक है। जैसे किसी संविदा को वैध बनाने हेतु पक्षकारों की क्षमता (competency) आवश्यक होती है, वैसे ही विवाह के लिए भी पक्षकारों का विधिक रूप से सक्षम होना अनिवार्य होता है।

2. जैसे संविदा में, विवाह भी प्रस्ताव (Offer), स्वीकृति (Acceptance), विचार (Consideration), एवं पक्षकारों अथवा उनके अभिभावकों की स्वतंत्र सहमति (Free Consent) के बिना वैध नहीं माना जाता। विवाह का संविदा तभी वैध होता है जब उसमें सभी संविदात्मक तत्व पूर्ण रूप से उपस्थित हों।

3. सिविल संविदा की भाँति, विवाह संविदा की शर्तों को, विधिक सीमाओं के भीतर रहते हुए, पक्षकार आपस में निर्धारित कर सकते हैं। विवाह के संविदा में पक्षकारों को यह अधिकार होता है कि वे कुछ शर्तें निर्धारित कर सकें, बशर्ते वे इस्लामी कानून और सार्वजनिक नीति के विरुद्ध न हों।

4. जैसे सामान्य संविदा में उल्लंघन की स्थिति में पक्षकारों के अधिकारों और कर्तव्यों को नियंत्रित करने हेतु विधिक नियम होते हैं, उसी प्रकार विवाह संविदा में भी पक्षकारों के अधिकारों और दायित्वों को विनियमित करने हेतु विधिक प्रावधान विद्यमान हैं।

इसलिए मुस्लिम विवाह की संकल्पना एक सिविल संविदा (सिविल कॉन्ट्रैक्ट) के समान है। किन्तु केवल एक संविदा के आवश्यक तत्वों के आधार पर यह निष्कर्ष निकालना कि मुस्लिम विवाह केवल एक सिविल संविदा है, विधिक दृष्टिकोण से पूर्णतः सही नहीं है। अपने रूप या बाहरी स्वरूप में यह एक संविदा जैसा प्रतीत हो सकता है, परन्तु उसकी वास्तविकता में यह केवल एक संविदा नहीं है।

एक मुस्लिम विवाह तभी वैध (Valid) माना जाता है जब वह न्यायालय द्वारा विधिसम्मत रूप से मान्य हो। एक वैध संविदा (Valid Contract) के लिए निम्नलिखित शर्तों की पूर्ति आवश्यक होती है—(यहां आप आगे उन शर्तों की सूची दे सकते हैं जैसे दृ प्रस्ताव (offer), स्वीकृति (Acceptance), पक्षों की योग्यता (capacity of parties), आदि।)–

वैध मुस्लिम विवाह (Valid Muslim Marriage) के लिए निम्नलिखित आवश्यक शर्तों की पूर्ति अनिवार्य है—

1. विवाह के पक्षकारों की योग्यता (Competency of Parties)—विवाह के दोनों पक्षकार, अर्थात् पति और पत्नी, वैध रूप से इस योग्य होने चाहिए कि वे विवाह कर सकें।

2. स्वतंत्र सहमति (Free Consent)—विवाह में सम्मिलित पक्षकारों अथवा उनके अभिभावकों (Guardians) की सहमति स्वतंत्र होनी चाहिए अर्थात् कोई जबरदस्ती, धोखा या अनुचित दबाव नहीं होना चाहिए।

3. वांछित औपचारिकताओं की पूर्ति (Fulfilment of Required Formalities)—विवाह की वैधता के लिए जो आवश्यक औपचारिकताएँ निर्धारित हैं, उनका विधिपूर्वक पालन किया जाना चाहिए।

4. विवाह में कोई निषेध या बाधा न हो (Absence of Legal Prohibitions or Impediments)— विवाह को संपन्न करने में कोई वैधानिक निषेध (Prohibition) या वैध रुकावट (Impediment) नहीं होनी चाहिए।

विवाह के समय, दोनों पक्षकार अर्थात् लड़का एवं लड़की, विवाह अनुबंध में प्रविष्ट होने हेतु सक्षम (ब्यउचमजमदज) होने चाहिए।

पक्षकार तब सक्षम माने जाते हैं जब—

1. उन्होंने सैद्धिक आयु (Age of Puberty) प्राप्त कर ली हो,

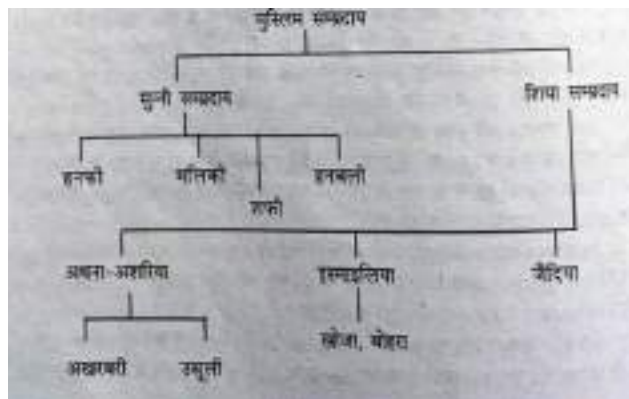
2. वे संपूर्ण विवेकशील (Of Sound Mind) हों, तथा

3. दोनों पक्षकार मुसलमान (Muslim) हों।

प्रश्न 13— मुस्लिम विधि के शिया सम्प्रदाय तथा सुन्नी सम्प्रदाय की प्रमुख भिन्नताओं का वर्णन कीजिए।

उत्तर—मुस्लिम विधि की दो मुख्य विचार धाराएँ हैं सुन्नी और शिया। ये दोनों सम्प्रदाय भी कई विचार पद्धतियों में बँटे हुए हैं अधिकांश मुसलमान सुन्नी हैं इसलिए जब तक विरुद्ध प्रमाणन न हो, यह पूर्वधारण कर ली जाती है कि किसी वाद के पक्षकार सुन्नी ही होंगे।

प्रत्येक सम्प्रदायवद अपने ही कानून से शासित राजा दीदार हुसैन बनाम रानी जहरुनिसा के वाद में प्रिवी कौंसिल के माननीय न्यायाधीशों ने यह धारण किया कि व्यवहार न्यायाधीश का यह कर्तव्य है कि वह प्रत्येक वाद में उसी सम्प्रदाय या विचार पद्धति की विधि का प्रयोग करे जिसके कि वे पक्षकार हैं।



सुन्नी सम्प्रदाय (i) हन्फी— अबु हनीफा एक धार्मिक और सच्चरित्र व्यक्ति थे, उन्होंने कभी कोई भी सरकारी पद स्वीकार नहीं किया, इसी वजह से वह शासकों के शिकार बने। 132 अ. ह. में उन्होंने इस्लामिक विधि को सूचीबद्ध करने के लिए 40 सदस्यों की कमेटी का गठन किया। यह कहा जाता है कि उन्होंने पाँच लाख विधि सम्बन्धी समस्याएँ हल की थीं। इस प्रकार जो संग्रह उन्होंने किया उसे शकुतुब अबुहनीफाश के नाम से जाना जाता है। इमाम अबुहनीफा के सिद्धान्त कुरान और हदीस पर आधारित थे, उनके अनुसार कुरान अपने मौलिक रूप में अनन्त है, वह खुदा के उपदेशों और शब्दों का संग्रह है तथा इसको खुदा से अलग नहीं किया जा सकता है।

(ii) मलिकी—मुस्लिम विधिशास्त्र के मालिकी स्कूल जो कि मदनी स्कूल के नाम से भी जाना जाता है का प्रारम्भ शिक्षा के प्रमुख केन्द्र मदीना से हुआ था। इन्होंने पैगम्बर की रीति तथा परम्पराएँ एवं उनके अनुयायियों द्वारा प्रमाणों

की ओर झुकाव रखा है। इस सम्प्रदाय में विशेष रूप से परिवार के कर्ता या प्रमुख का, उसकी स्त्री की जायदाद तथा बच्चों के ऊपर अधिकार पर जोर दिया जाता है। इस सम्प्रदाय में विवाहित स्त्री अपनी जायदाद की पूर्ण स्वामी नहीं होती है।

(iii) शफी—इस विचारधारा के प्रवर्तक मोहम्मद अबू शफी थे। यह न्याय के लिए प्रसिद्ध थे, इन्होंने उसूलों की स्थापना सर्वप्रथम की तथा मुस्लिम विधिशास्त्र का प्रसार किया। उन्होंने इज्मा एवं कयास का पूरा प्रसार किया। इन्होंने रीति-रिवाज पर हनफी से अधिक परन्तु मलिकी से कम ध्यान दिया। इनके वर्ग के सिद्धान्त स्त्रियों के लिए कम अनुकूल हैं। यह सम्प्रदाय दक्षिणी भारत, श्रीलंका और अरब में प्रचलित है।

(iv) हनबली—इसके प्रवर्तक अहमद इब्न हनबल थे। इन्होंने विशेष रूप से परम्पराओं पर जोर दिया है। इन्होंने इज्मा तथा कयास का प्रयोग एक निश्चित सीमा तक कम किया है।

शिया सम्प्रदाय (i) अथना असरिया— भारत के अधिकांश शिया इस विधि पद्धति को मानते हैं।

(ii) इस्माइलिया—बम्बई के खोजा और बोहरा इसी विचारधारा के हैं।

(iii) जैदी—ये भारत में नहीं हैं। चौथे इमाम अली असगर के पुत्र जैदा के वंशजों के दक्षिण अरब में यमन के शिया लोग जैदी इमामों के रूप में मानते हैं।

सुन्नी और शिश सम्प्रदाय में निम्नलिखित मुद्दों पर मतभेद/भिन्नता है।

(1) विवाह की विधि— (i) शिया लोगों में अस्थायी (मुता) विवाह वैध है परन्तु सुन्नियों में वह अवैध है।

(ii) शिया विधि में केवल पिता और पितामह विवाह के लिए संरक्षक बन सकते हैं, सुन्नी लोग पिता और पितामह के अतिरिक्त विवाह के लिए अन्य संरक्षकों की एक लम्बी सूची को मान्यता देते हैं।

(iii) सुन्नी विधि विवाह के समय दो पुरुष साक्षियों की उपस्थिति विहित करती है परन्तु शिया विधि में साक्षियों की आवश्यकता नहीं होती।

(iv) शिया विधि में गर्भधारण काल अधिक से अधिक दस महीने है परन्तु सुन्नी विधि में दो साल।

(2) मेहर—सुन्नी विधि के अन्तर्गत मेहर की कम से कम धनराशि दस दिरहम चाँदी का सिक्का होता है जिसका वजन 2.97 ग्राम होता है। परन्तु शिया विधि द्वारा कोई न्यूनतम धनराशि निश्चित नहीं की गयी है।

शिया विधि के अन्तर्गत उचित मेहर की रकम 50 दिरहम से ज्यादा नहीं होनी चाहिए। सुन्नी विधि मेहर की अधिक राशि विहित नहीं करती। जहाँ विवाह के समय यह तय न हो कि मेहर तुरन्त देय है या स्थगित है, जहाँ शिया विधि के अनुसार कुल मेहर तुरन्त देय मेहर समझा जाता है और सुन्नी विधि के अनुसार मेहर का कुछ भाग तुरन्त देय और कुछ भाग स्थगित समझा जाता है और उसका अनुपात रूढ़ियों, पक्षकारों की स्थिति और मेहर की धन राशि को दृष्टिगत कर निर्धारित किया जाता है।

(3) विवाह-विच्छेद—(i) सुन्नी विधि के अन्तर्गत तलाक मौखिक या लिखित कैसा भी हो सकता है परन्तु शिया विधि के अन्तर्गत तलाक मौखिक और दो साक्षियों की उपस्थिति में दिया जाना जरूरी है। लिखित तलाक केवल उसी स्थिति में उचित होता है जबकि पति मौखिक रूप से तलाक देने में असमर्थ हो।

(ii) शिया विधि के अन्तर्गत 'तलाक' सुन्नत के अनुसार दिया जाना जरूरी है इसलिए तलाक शिया-विधि 'तलाक-इल-विद्दत' को विचित्र नहीं समझती, परन्तु सुन्नी विधि उसे मान्यता देती है।

(iii) यदि तलाक देने में प्रयुक्त शब्द स्पष्ट हो, चाहे वे मजबूरी या नशे में उच्चारण किये गये हों सुन्नी विधि उसे मान्यता देती है परन्तु शिया विधि ऐसी स्थिति में दिये गये तलाक को मान्यता नहीं देती।

(4) दान—सम्पत्ति में अविभाज्य हिस्से का दान सुन्नी विधि के अनुसार अनियमित है, जब तक कोई विशेष शर्त पूरी न की जाए परन्तु शिया विधि के अन्तर्गत दान मान्य है।

(5) सुन्नी विधि के अन्तर्गत सभी मामलों में जिस महिला को बच्चा पैदा होता है वह उसकी माँ होती है, कोई संतान माँ विहित नहीं मानी जाती।

शिया विधि के अन्तर्गत कुमारी महिला द्वारा उत्पन्न सन्तान माँ विहित मानी जाती है परन्तु विवाहित सन्तान उत्पन्न करती है तो वह उस संतान की माँ मानी जायेगी।

(6) सुन्नी विधि के अन्तर्गत कोई वसीयतकर्ता अन्य उत्तराधिकारियों की सम्पत्ति के बिना किसी उत्तराधिकारी को कुछ भी स्थावर सम्पत्ति नहीं दे सकता परन्तु शिया विधि के अन्तर्गत यदि दी गयी वस्तु कानूनी तिहाई हिस्से से अधिक न हो तो किसी सम्पत्ति की आवश्यकता नहीं और जहाँ वह तिहाई से अधिक हो वह वसीयतकर्ता के जीवन काल में भी सम्पत्ति दी जा सकती है। सुन्नी विधि के अन्तर्गत किसी अजनबी के पक्ष में की गयी वसीयत यदि सम्पत्ति के कानूनी तिहाई हिस्से से अधिक है तो तब तक मान्य नहीं होगी जब तक कि वसीयतकर्ता की मृत्यु के उपरान्त उत्तराधिकारीगण अपनी सहमति न दे दे परन्तु शिया विधि के अन्तर्गत वसीयतकर्ता के जीवन काल में भी उत्तराधिकारीगण अपनी सहमति दे सकते हैं।

प्रश्न 14. मुस्लिम विधि के अन्तर्गत विवाह विच्छेद के विभिन्न प्रकारों का वर्णन कीजिए।

उत्तर—मुस्लिम विधि के अनुसार संविदा निम्नलिखित तरीकों से समाप्त की जा सकती है—

(क) पति या पत्नी में किसी की मृत्यु होने पर।

(ख) पति के कृत्यों से—

(1) तलाक द्वारा,

(2) इला द्वारा,

- (3) जिहार द्वारा
- (ग) पत्नी के कृत्यों से
- (4) तलाक-ए-तफवीज द्वारा,
- (घ) पारस्परिक सहमति से-
- (5) खुला द्वारा,
- (6) मुबारत द्वारा,
- (ङ) न्यायिक डिक्री से-
- (7) मुस्लिम विवाह विच्छेद अधिनियम 1939 के अन्तर्गत।

(क) पति द्वारा विवाह विच्छेद—मुस्लिम वैदिक पति को तलाक इला और जिहाद किन तरीकों से विवाह विच्छेद का अधिकार देती है।

(i) तलाक—तलाक अरबी भाषा का शब्द है जिसका शाब्दिक अर्थ है निर्मुक्त करना या परित्याग करना या नामंजूर करना। मुस्लिम विधि के अंतर्गत निकाह के बंधनों से छुटकारा पाने या वैवाहिक सम्बन्धों को समाप्त करने को तलाक कहते हैं।

विधि मान्य तलाक के लिए निम्नलिखित शब्दों का पूरा होना आवश्यक है—

1. सामर्थ्य— कोई भी मुस्लिम जो वयस्क यौवनावस्था की आयु का हो और स्वस्थचित हो तो तलाक दे सकता है। अवयस्क के अभिभावक को तलाक देने का कोई अधिकार नहीं होता है या पक्षकार विकृत चित्त आदि है तो काजी या न्यायालय तलाक ले सकता है। परन्तु तलाक विकृत चित्त पति के हित में हो संरक्षक तलाक ले सकता है।

2. स्वतन्त्र सहमति—शिया, शफी, मलिकी और हनबली के लिए यह आवश्यक है कि तलाक देने वाला स्वतन्त्र इच्छा वाला व्यक्ति हो जबकि सुन्नी विधि में स्वतन्त्र सहमति आवश्यक नहीं है।

3. मौखिक या लिखित हो— तलाक मौखिक या लिखित किसी भी तरीके से दिया जा सकता है। सुन्नी विधि में तलाक के लिए गवाहों की आवश्यकता नहीं होती है। शिया विधि में तलाक केवल मौखिक अरबी भाषा में होता है लिखित में नहीं होता है। यह लिखित तभी हो सकता है जब पति मौखिक तलाक देने में असमर्थ हो, जैसा कि जम्मू एवं कश्मीर हाईकोर्ट ने **दिल सादा मासूम बनाम गुलाम मुस्तफा, ए. आई. आर 1986 जम्मू एण्ड कश्मीर 80** के मामले में निर्धारित किया कि शिया विधि में तलाक एक निहित प्रारूप में अरबी भाषा में होना चाहिए, यह भी जरूरी नहीं है कि पति ही अरबी भाषा का जानकार हो वह किसी भी अरबी जानने वाल को इसके लिए नियुक्त कर सकता है। परन्तु जब अरबी का जानकार उपलब्ध न हो तो किसी भी भाषा में तलाक दिया जा सकता है। गूंगे व्यक्ति द्वारा समझ में आने वाले इशारों से दिया गया तलाक मान्य होता है।

इसी प्रकार **शाहिदा बेगम बनाम अब्दुल माजिद 1998** के वाद में राजस्थान हाईकोर्ट ने यह निर्धारित किया गया कि मुस्लिम विधि के अन्तर्गत मौखिक तलाक दिया जा सकता है लेकिन ऐसा मुस्लिम जो बोल नहीं सकता या गूंगा है तो वह संकेतों द्वारा विवाह को तोड़ सकता है।

4. तलाक के लिए कहे गए शब्दों का स्पष्ट होना—विधिमान तलाक के लिए आवश्यक है कि तलाक के लिए कहे गए शब्द भी स्पष्ट हो, इसके अतिरिक्त तलाक के शब्द स्पष्ट न हों तो तलाक का आशय स्पष्ट होना आवश्यक है। जहाँ तलाक के शब्द या आशय स्पष्ट न हों वहाँ तलाक अवैध होता है। जैसा कि कोलकाता उच्च न्यायालय ने **फरचंद हुसैन बनाम जानू बीबी, (1878) 4 कल, 588** के मामले में निर्धारित किया था कि वहाँ तलाक अवैध होगा जहाँ तलाक के शब्द स्पष्ट न हो इस वाद में बिना पत्नी का नाम लिए ही वकील के सामने तलाक दिया गया था इसलिए इसे अवैध माना गया।

इसी प्रकार जहाँ तलाक के शब्द स्पष्ट न हो वहाँ तलाक देने वाले का आशय देखा जाता है, जैसे **मोहम्मद इरफान बनाम मुस्समामात हिंदी, ए. आई. आर. 1952** के मामले में दो भाइयों में यह करार हुआ कि यदि मैं शहद की बोटल लेने में सफल न हुआ तो मेरी बीव्यों में तलाक समझा जाए।

5. तलाक पत्नी की उपस्थिति में किया गया हो—पत्नी की अनुपस्थिति में दिया गया तलाक निष्प्रभावी या शून्य नहीं होता परन्तु तलाक पत्नी की उपस्थिति में ही दिया जाना चाहिए लेकिन तलाक यदि पत्नी की उपस्थिति में न किया गया हो तो पत्नी का नाम लेकर तलाक दिया जाना आवश्यक है।

सुन्नी विधि में नशा, हँसी-मजाक, जवान की भूल, खेल-खेल या विवशता में दिया गया तलाक मान्य होता है। परन्तु यदि नशा इच्छा के विरुद्ध किया गया है तो तलाक मान्य नहीं होता है। शिया विधि के अन्तर्गत उपरोक्त विधि से दिया गया तलाक अमान्य होता है।

तलाक देने के निम्नलिखित ढंग हैं—

- तलाक उल बिद्दत ।
- तलाक उल

सुन्नत-तलाक— उन सुन्नत को दो भागों में बाँटा गया है—

(a) तलाक असहन, (b) तलाक हसन।

(ii) इला—जब कोई वयस्क या स्वस्थ चित्त मुस्लिम पति अपनी पत्नी के साथ चार माह या उससे अधिक अवधि तक संभोग न करने की कसम खाता है और 4 महीने या उससे अधिक अवधि तक संभोग नहीं करता है तो इसे इला द्वारा विवाह विच्छेद कहते हैं।

इला के लिए कहे गए शब्द अभिव्यक्ति और विवक्षित हो सकते हैं। जैसे—“मैं अल्लाह की कसम खाकर कहता हूँ कि “मैं तुम्हारे साथ संभोग नहीं करूँगा” अर्थात् “अल्ला की कसम मैं तुम्हारे पास नहीं आऊँगा।”

मान्यता प्राप्त इला की निम्नलिखित शर्तें आवश्यक हैं— (i) मुस्लिम पति वयस्क और स्वस्थ चित्त हो।

(ii) पति ने अपनी बीबी के साथ 4 महीने या उससे अधिक अवधि तक संभोग न करने की कसम खाई हो।

(iii) 4 महीने या उससे अधिक अवधि तक संभोग न किया हो।

(iii) **जिहार**—जब कोई स्वस्थ और वयस्क मुस्लिम पति अपनी बीबी की तुलना अपनी माँ या निषिद्ध सम्बन्धों के अन्दर आने वाली किसी अन्य महिला से करता है और ऐसी तुलना का प्रायश्चित्त नहीं करता है तो इसे जिहार द्वारा विवाह विच्छेद कहा जाता है। यदि पति ने आपत्ति पूर्ण तुलना के लिए प्रायश्चित्त नहीं किया है तो पत्नी को तुलना की चिप से 4 महीने बाद विवाह विच्छेद या दाम्पत्य अधिकारों की पुनर्स्थापना की डिक्री प्राप्त करने का अधिकार होता है।

(ग) **पत्नी द्वारा विवाह विच्छेद—**प्रत्यायोजित तलाक अथवा तलाक-ए-तफवीज—मुस्लिम विधि में मुस्लिम पति के लिए यह आवश्यक नहीं होता है कि वह स्वयं तलाक दे। मुस्लिम पति या तो स्वयं तलाक दे सकता है या किसी अन्य को तलाक देने का अधिकार प्रत्यायोजित कर सकता है। ऐसा अन्य व्यक्ति पत्नी स्वयं भी हो सकती है इसे तलाक ए-तफवीज या प्रत्यायोजित तलाक कहते हैं।

इस प्रकार मुस्लिम पत्नी को तलाक देने का जो अधिकार होता है वह मूलतः पति द्वारा दिया गया होता है। पति तलाक देने के अधिकार को पत्नी को सदैव के लिए सौंप सकता है और कुछ समय के लिए भी। कुछ समय के लिए पत्नी को दिया गया तलाक देने का अधिकार वापस नहीं लिया सकता परन्तु यदि पति ने इसे सदैव के लिए दिया है तो वापस ले सकता है। यह सशर्त भी हो सकता है और शर्त रहित भी। सशर्त तलाक में शर्त पूर्ण होने पर ही पत्नी को तलाक देने का अधिकार मिलता है। इसके अलावा तलाक देने के अधिकार का प्रत्यायोजन होने के बाद पति का तलाक देने का अधिकार अप्रभावित रहता है। कोलकाता उच्च न्यायालय ने **वफतन बीबी बनाम शेख मैमूना बीबी, ए.आई.आर. 1950 कल. 304** के बाद विवाह के पूर्व पत्नी में यह करार हुआ कि पति-पत्नी में यदि पटरी नहीं बैठती है अर्थात् पति-पत्नी में वैमनस्ता होती है तो पत्नी को पति से अलग रहने का अधिकार होगा और ऐसी स्थिति में पत्नी का भरण-पोषण पति करेगा। निर्णय हुआ कि करार युक्तिसंगत था इसलिए यदि पति पत्नी का भरण-पोषण करने में असमर्थ रहता है तो पत्नी उसे तलाक दे सकती है।

(घ) **पारस्परिक सहमति द्वारा विवाह विच्छेद—**1. खुला खुला द्वारा विवाह विच्छेद तब तक बुमान्य नहीं होता जब तक निम्नलिखित शर्तें पूरी न हो जाएँ— (i) पति पत्नी दोनों वयस्क और स्वस्थचित्त हों।

(ii) पत्नी ने प्रस्ताव किया और पति ने उसे स्वीकार किया हो,

(iii) पति-पत्नी दोनों ने आपस में बातचीत की,

(iv) पत्नी ने पति को प्रतिफल के रूप में या तो कुछ प्रतिफल दिया हो या भविष्य में देने का करार किया हो,

2. मुबारत—मुबारत का अर्थ पारस्परिक छुटकारा होता है। पारस्परिक अनुबंध या सहमति द्वारा विवाह विच्छेद को मुबारत कहते हैं। मुबारत द्वारा विवाह विच्छेद का प्रस्ताव किसी पक्षकार द्वारा लाया जा सकता है। किसी पक्षकार को कुछ प्रतिफल भी नहीं देना पड़ता है क्योंकि विवाह विच्छेद के लिए दोनों पक्षकार इच्छुक अर्थात् सहमत होते हैं।

5. न्यायालय द्वारा विवाह विच्छेद—मुस्लिम विवाह विच्छेद अधिनियम 1939 की धारा 2 में ऐसे नौ अधिकार बताए गए हैं जिनमें से किसी आधार पर मुस्लिम पत्नी विवाह विच्छेद के लिए याचिका प्रस्तुत कर सकती है जो कि निम्नलिखित हैं—

- पति के लापता होने पर,
- भरण-पोषण करने में असफल होने पर
- पति को 7 वर्ष की सजा होने पर,
- अपने वैवाहिक दायित्व के पालन में असफल रहने पर,
- पति के नपुंसक होने पर,
- पागल या रतिज रोग से प्रभावित होने पर,
- पत्नी द्वारा यौवनावस्था के विकल्प का प्रयोग करने पर,
- क्रूरता के आधार पर,
- कोई अन्य आधार।

प्रश्न 15. मुस्लिम विधि में विधिमान्य पितृत्व की अभिस्वीकृत की अनिवार्य शर्तें क्या हैं? विवेचना करिए। अभिस्वीकृत वैध प्रभाव को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर—पितृत्व की अभिस्वीकृति—मुस्लिम विधि में दत्तक ग्रहण नहीं किया जा सकता है। फतवा-ए-आलम गिरी नामक ग्रंथ में वर्णित है कि "वंशावली एक बार स्थापित हो जाने पर विघटित या रद्द नहीं हो सकती और न ही एक व्यक्ति से दूसरे में अंतरित की जा सकती है किन्तु मुस्लिम विधि पितृत्व के अतिरिक्त भी किसी बच्चे की धर्मजता को

अभिस्वीकृति द्वारा निश्चित की जाती है अर्थात् पुरुष किसी बच्चे के बारे में यह घोषणा कर सकता है कि वह मेरा बच्चा है और ऐसा बच्चा सभी मामलों के लिए अभिस्वीकारकरता की वैध संतान होगी।

किसी अभिस्वीकृत के मान्य होने के लिए निम्नलिखित चार शर्तों का होना आवश्यक है—

1. **पितृत्व अज्ञात हो** — बच्चे का पिता अभिस्वीकृतकर्ता के अतिरिक्त किसी अन्य पुरुष का न समझा जाता हो।
2. **किसी का अधर्मज शिशु न हो**— बच्चा किसी का अधर्मज शिशु न हो। एक अधर्मज शिशु को, चाहे वह अभिस्वीकृतकर्ता का ही क्यों न हो, अभिस्वीकार नहीं किया जा सकता है अर्थात् माता-पिता में वैधसम्बन्ध होने के कारण जिस बच्चे का अधर्मज होना प्रमाणित है उसे अभिस्वीकृति द्वारा अपनाया नहीं जा सकता।
3. **परिस्थितियाँ उपधारणा के प्रतिकूल न हों**—जबकि पिता-शिशु का बन्धन संभव न हो, किसी शिशु की अभिस्वीकृति स्थापित नहीं होती है। उदाहरण— जब स्वीकृत करने वाला पुरुष उस शिशु से कम आयु का हो या समान आयु का हो या केवल इतना बड़ा हो कि दोनों की आयु में बहुधा जो अंतर होता है उससे भी कम हो, अथवा जहाँ कोई पुरुष किसी ऐसी स्त्री या पुत्री की अभिस्वीकृति प्रदान करे जबकि उस पुरुष और स्त्री की आयु में इतना अंतर हो कि बच्चे का गर्भधारण किया गया हो उस समय उस स्त्री और पुरुष में समागम की सम्भावना न रही हो अतः एक 20 वर्षीय पुरुष किसी 16 वर्ष के पुत्र की अभिस्वीकृत नहीं कर सकता।
4. **बच्चे ने अभिस्वीकृत का समर्थन किया हो**— शिशु अभिस्वीकृति करने के पश्चात् अभिस्वीकृतकर्ता द्वारा उसे विखंडित या अभिस्वीकृत को निरस्त नहीं किया जा सकता है। किन्तु जिस व्यक्ति की अभिस्वीकृति के मान्य होने को यह भी शर्त है कि शिशु इस अभिस्वीकृति से अपना सहमति प्रकट करे चाहे इसकी पुष्टि करके या खामोशी अख्तियार करके।

मोहम्मद अल्लाह दाद खाँ बनाम इस्माइल खान के वाद में इलाबाद उच्च न्यायालय ने निर्णय किया कि एक बार अभिस्वीकृत करने के पश्चात् अभिस्वीकृतकर्ता किसी कृत्य द्वारा उसके किसी विधिक प्रतिनिधि के कृत्य द्वारा इस स्थिति या हैसियत को नष्ट नहीं किया जा सकता है। इस वाद में पक्षकारगण सुन्नी मुसलमान थे। गुलाम गौस खाँ नामक एक पुरुष ने मोती बेगम नामक एक स्त्री से विवाह किया और उससे एक पुत्र और तीन पुत्रियाँ उत्पन्न हुईं। गुलाम गौस खान की मृत्यु के पश्चात् मोहम्मद अल्लाह दाद खान द्वारा मेरठ के कुछ गाँवों की जमीनदारी सम्पत्ति के अपने 2/3 भाग पाने के लिए वाद अपने भाई मोहम्मद इस्माइल खान और तीनों बहनों के विरुद्ध इस आधार पर दायर किया कि वह मृतक गुलाम गौस खान का बड़ा पुत्र था। मोहम्मद इस्माइल खान तथा अन्य ने इसका प्रतिवाद इस आधार पर किया कि अपीलार्थी मोहम्मद अल्लाह दाद खान उनके पिता का पुत्र नहीं था वरन् वह सौतेला पुत्र था और अपनी माता मोती बेगम से गुलाम गौस खान के संग हुए विवाह से पूर्व पैदा हुआ था तब वादी ने यह तर्क किया कि यदि वह अपने को मृतक का पुत्र होना न भी सिद्ध कर सके तो भी चूँकि मृतक ने कई बार उसे अपना पुत्र अभिस्वीकार किया है, अतः वह गुलाम गौस खान के धर्मज (वैध) के रूप में उत्तराधिकार पाने का हकदार है। उसने कुछ पत्र और अन्य दस्तावेज भी सबूत में प्रस्तुत किए जिसमें मृतक ने उसे सम्बोधित किया था या उसका हवाला दिया था।

इलाहाबाद उच्च न्यायालय की पूर्ण पीठ ने निर्णय किया कि अपीलार्थी को मृतक गुलाम गौस खान ने अपना पुत्र अभिस्वीकार कर लिया था और वह उत्तराधिकार पाने का हकदार है। न्यायालय का निष्कर्ष था कि—

- (1) मोती बेगम का सम्बन्ध गुलाम गौस से कुछ स्थिति में नहीं था कि उसका विवाह मृतक अवैध या प्रतिसिद्धित समझा जाए।
- (2) यह किसी तरह से सिद्ध नहीं होता है कि गुलाम गौस खान से विवाहित होने से पूर्व वह किसी और से विवाहित थी।
- (3) उसका विवाह गुलाम गौस खान से ही हुआ था।
- (4) किसी विश्वसनीय साक्ष्य के अभाव के कारण अभ्यर्थी के जन्म के विषय में यह निश्चित नहीं हो पा रहा है कि उसका जन्म मृतक के विवाह से पूर्व हुआ था, क्योंकि विवाह की सही तिथि भी ठीक से ज्ञात नहीं है।
- (5) मोती बेगम मृतक गुलाम गौस खान के साथ बहुत वर्षों तक रही और मृतक ने उसे अपनी वैध पत्नी माना है।
- (6) अपीलार्थी मोहम्मद अल्लाह दाद खान को मृतक द्वारा अपना पुत्र माना गया था और अभिस्वीकृति प्रदान की गई थी।
- (7) ऐसे अभिस्वीकृति में व्यवहार में कोई ऐसा स्पष्ट उल्लेख नहीं है कि मोहम्मद अल्लाह दाद खान मृतक का सौतेला पुत्र, धर्मज पुत्र या अधर्मज पुत्र था।
- (8) मोती बेगम की अन्य पुत्रियों, प्रतिवादी मोहम्मद इस्माइल खान तथा परिवार के अन्य सदस्यों ने भी इस प्रकार की अभिस्वीकृत की थी और उसे गुलाम गौस खान का वैध पुत्र माना था।

अभिस्वीकृत के वैध प्रभाव— वैध स्वीकृत से अभिस्वीकृत करने वाले तथा अभिस्वीकृत किए गए व्यक्ति की माता के बीच विवाह की पूर्वधारणा होती है तथा इसका खण्डन जब नहीं होता है उसके और पुत्र के पुत्र के रूप से उसे उत्तराधिकार प्राप्ति का अधिकार प्राप्त होता है तथा इसी प्रकार इसका अधिकार उसकी माता प्राप्त कर लेती है। इस प्रकार यह विदित है कि अभिस्वीकृति के दो प्रभाव होते हैं अर्थात्

- (1) पुत्र होने का दावा करने वाले के पक्ष में और
- (2) पत्नी होने का दावा करने वाली (अभिस्वीकृत के मात्र की माता) स्त्री के पक्ष में।

प्रश्न 16. हिबा-बिल-एवज तथा हिबा-बिल-शरतुल एवज से आप क्या समझते हैं यह एक दूसरे से किस प्रकार भिन्न है?

उत्तर-हिबा-बिल-एवज-हिबा बिल एवज मुस्लिम वैयक्तिक विधि एक सर्वथा अनोखी संकल्पना है। हिबा का अर्थ है दान तथा एवज का अर्थ है प्रतिफल अथवा विनिमय, अतः हिबा बिल एवज से तात्पर्य प्रतिफल सहित दान से है। उल्लेखनीय है कि संसार की सभी विधि प्रणालियों में दान की मान्यता एक ऐसे अंतरा से है जिसमें प्रतिफल रहित सम्पत्ति के स्वामित्व का अंतरण होता हो। परन्तु इसके बावजूद मुस्लिम विधि हिबा-बिल-एवज जैसे एक अति विशिष्ट प्रकार के दान की कल्पना करती है जैसा कि निम्न पंक्तियों से स्पष्ट है-वास्तविकता यह है कि यद्यपि मुस्लिम विधि में 'हिबा बिल एवज' जैसा अंतरण जाना आवश्यक जाता है जबकि भारतीय अदालतें इसे हिबा न मानकर या तो इसे विक्रय मानती हैं या विनिमय। अतः हिबा बिल एवज केवल नाममात्र का दान है।

हिबा-बिल-एवज का अर्थ है कि एक ऐसा विशुद्ध दान जिसके बदले में दानगृहीता द्वारा एक अन्य दान किया गया हो। जैसे यदि 'अ' ने 'ब' के पक्ष में कुछ सम्पत्तियों का हिबा किया तथा हिबा पूर्ण हो जाने के पश्चात् 'ब' अपनी मोटर को स्वेच्छा से 'अ' के पक्ष में यह कहते हुए हिबा करे कि मोटर कार का हिबा उसके पक्ष में किए गए सम्पत्तियों के बदले में है तो सम्पत्तियों का हिबा 'बिल विल एवज' कहलाएगा। दानगृहीता 'ब' द्वारा किया गया हिबा प्रथम हिबा का प्रतिफल माना जाएगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि पहला हिबा वास्तव में विशुद्ध हिबा ही है परन्तु जैसे ही इसके बदले में दानगृहीता एक अन्य हिबा दानकर्ता के पक्ष में कर देता है तो पहले वाला 'हिबा बिल एवज' में परिवर्तित हो जाता है।

हिबा-बिल-एवज के विधिक प्रभाव- (1) हिबा बिल एवज वस्तु का विक्रय अथवा विनिमय के रूप में मान्य है। मूल हिबा के प्रतिफलस्वरूप यदि मुद्रा अथवा धनराशि का दान किया गया हो तो मूल हिबा विक्रय माना जाता है।

प्रतिफल यदि कोई चल अथवा अचल सम्पत्ति हो तो मूल हिबा विनिमय मान लिया जाएगा, अतः हिबा बिल एवज में मुस्लिम विधि के हिबा के नियम लागू नहीं हो सकते हैं। हिबा-बिल-एवज मात्र घोषणा, स्वीकृत तथा कब्जे के परिदान की औपचारिकताओं से विधि मान्य नहीं माना जाता। इसकी वैधता के लिए उन्हीं शर्तों का पालन होना अनिवार्य है जो किसी विक्रय अथवा विनिमय के लिए निर्धारित हैं। सम्पत्ति अंतरण अधिनियम, 1882 की धारा 54 के अनुसार चल सम्पत्ति का विक्रय कब्जे के हस्तांतरण द्वारा किया जा सकता है परन्तु सम्पत्ति यदि अचल है और ₹ 100 से अधिक मूल्य की है तो विक्रय के विधिमान्य होने के लिए इसका लिखित सत्यापित तथा पंजीकृत होना अनिवार्य है। इसी प्रकार उक्त अधिनियम की धारा 118 के अनुसार विनिमय की वैधता के लिए सम्पत्ति यदि ₹ 100 से अधिक की हो तो विक्रय की भाँति ही इसका लिखित, सत्यापित तथा पंजीकृत लेना आवश्यक है।

(2) कब्जे का परिदान जो हिबा का एक अनिवार्य अंग है हिबा-बिल-एवज के लिए अनिवार्य नहीं है।

(3) हिबा-विस-एवज चूँकि विक्रय अथवा विनिमय माना जाता है अतः यह अखण्डनीय होता है।

(4) मूसा का नियम हिबा पर लागू किया जाता है अतः हिबा बिल एवज पर जिसका विधिक रूप विक्रय अथवा विनिमय का है इसे लागू नहीं किया जाता है।

हिबा-बिल-शरतुल-एवज-प्रतिफल के रूप में किसी वस्तु अथवा सम्पत्ति के दिए जाने की पूर्ववर्ती शर्त के साथ किया गया दान हिबा बिल-शरतुल-एवज कहलाता है। कोई हिबा इस शर्त के साथ किया गया हो कि पहले दानगृहीता दानकर्ता को अमुक सम्पत्ति का हिबा उसके पक्ष में कर दे तब वह अपनी सम्पत्ति का हिबा दानगृहीता के पक्ष में करेगा तो अंतरण हिबा-बिल-शरतुल-एवज कहलाएगा।

पूर्ववर्ती हिबा का दिया जाना हिबा की शर्त होती है न कि प्रतिफल। अतः जब तक दानगृहीता द्वारा इसे न दे दिया गया हो तब तक उसके पक्ष में किया गया हिबा प्रभावी नहीं हो पाता है।

हिबा बिल-शरतुल एवज का विधिक प्रभाव- (1) इसकी पूरी प्रक्रिया में स्वतन्त्र रूप से दो अलग-अलग हिबा निहित रहते हैं अतः विधितः यह अंतरण हिबा माना जाता है। इसकी वैधता के लिए आवश्यक शर्तें वही हैं जो मुस्लिम विधि के अन्तर्गत किसी हिबा के लिए आवश्यक मानी गई हैं। घोषणा, स्वीकृत तथा कब्जे के परिदान की औपचारिकताएँ ही इसके लिए पर्याप्त हैं, रजिस्ट्रेशन अनिवार्य है न ही पर्याप्त।

(2) प्रारम्भ में यह खण्डनीय होता है परन्तु शर्त के रूप में निश्चित किए गए प्रतिफल के भुगतान के पश्चात् यह अखण्डनीय हो जाता है।

हिबा विल एवज तथा हिबा बिल शरतुल एवज में अन्तर-(1) हिबा बिल एवज में 'एवज' दानगृहीता की स्वेच्छा से दिया जाता है जबकि दूसरे वाले में दानगृहीता एवज का दिया जाना हिबा की एक अनिवार्य पूर्ववर्ती शर्त होती है।

(2) हिबा बिल एवज में प्रतिफल क्या हो यह दानगृहीता की इच्छा पर निर्भर करता है जबकि दूसरे में प्रतिफल दानकर्ता की इच्छा के अनुकूल होता है जिसे वह शर्त के रूप में अनुबन्धित कर देता है।

(3) विधिक दृष्टि से हिबा-बिल-एवज हिबा नहीं है या तो यह विक्रय माना जाता है या विनिमय जबकि दूसरा एक शुद्ध रूप में हिबा है।

(4) हिबा-बिल-एवज हिबा माना ही नहीं जाता है इसलिए सुन्नी विधि का मूसा का सिद्धान्त इस पर लागू नहीं होता जबकि दूसरे में मूसा का सिद्धान्त लागू हो सकता है।

प्रश्न 17-वक्फ को परिभाषित करें। निजी वक्फ की स्थापना कैसे की जा सकती है? तथा वक्फ वैधीकरण अधिनियम, 1913 की मुख्य विशेषताएं भी बताएं।

उत्तर-वक्फ की परिभाषा-वक्फ एक स्थायी समर्पण है जो किसी मुसलमान द्वारा धार्मिक, पुण्य या परोपकारी उद्देश्य के लिए अपनी संपत्ति का किया जाता है। इसे इस्लामी कानून के अंतर्गत एक धार्मिक कृत्य माना जाता है। वक्फ एक स्थायी समर्पण है जो किसी मुसलमान द्वारा धार्मिक, पुण्य या परोपकारी उद्देश्य के लिए अपनी संपत्ति का किया जाता है। इसे इस्लामी कानून के अंतर्गत एक धार्मिक कृत्य माना जाता है। वक्फ की मुख्य विशेषताएँ-

1. स्थायी समर्पण (Permanent Dedication)-वक्फ के तहत संपत्ति को हमेशा के लिए किसी धार्मिक या परोपकारी उद्देश्य के लिए समर्पित कर दिया जाता है। यह अस्थायी नहीं होता।

2. अविनाशी या अपरिवर्तनीय (Irrevocable)-एक बार कोई संपत्ति वक्फ घोषित हो गई तो वक्फकर्ता (waqif) उस पर अपना मालिकाना हक नहीं रख सकता। इसे ईश्वर (अल्लाह) के नाम पर समर्पित माना जाता है।

3. लाभार्थी (Beneficiary)-वक्फ के लिए कोई स्पष्ट लाभार्थी या प्राप्तकर्ता होना आवश्यक है, जैसे कि कोई मस्जिद, धार्मिक संस्था, शिक्षा संस्थान या विशेष व्यक्ति।

वक्फ अलाल औलाद (Waqf alal Aulad)-यह एक प्रकार का निजी वक्फ (Private Waqf) होता है, जिसमें वक्फकर्ता अपनी संपत्ति का समर्पण अपने परिवार के भले के लिए करता है।

मुख्य बिंदु-

1. यह वक्फकर्ता के परिवार के लाभ के लिए बनाया जाता है।

2. परिवार की आवश्यकताओं को पूरा करने के बाद बची हुई आय (Surplus Income) का उपयोग किसी सार्वजनिक या धर्मार्थ उद्देश्य के लिए किया जाता है।

3. इसका निर्माण भी इस्लामी कानून के अनुसार ही होना चाहिए।

मुसलमान वक्फ वैधता अधिनियम, 1913 (Mussalman Wakf Validating Act, 1913)-यह अधिनियम भारत में वक्फ व्यवस्था को वैधता देने और कानूनी रूप से संगठित करने के उद्देश्य से लागू किया गया था।

मुख्य विशेषताएँ-

1. पहले से बने वक्फ की वैधता (Validation of Existing Waqfs)-इस अधिनियम ने 1913 से पहले बनाए गए वक्फों को वैध घोषित किया और उन्हें कानूनी मान्यता दी।

2. पूर्व अधिकारों पर प्रभाव नहीं (No Impact on Prior Rights)- अधिनियम से पहले जो अधिकार, शीर्षक, दायित्व आदि मौजूद थे, उन पर कोई असर नहीं पड़ा।

3. भविष्य की नियामक नींव (Foundation for Future Regulation)-यह अधिनियम कोई पूर्ण कानून नहीं था, लेकिन इसने भारत में वक्फ संबंधी भविष्य के कानूनों की नींव रखी।

निजी वक्फ (Waqf alal Aulad) की स्थापना-

1. वक्फकर्ता की मंशा (Waqifs Intent)-वक्फ बनाने वाले व्यक्ति की स्पष्ट मंशा होनी चाहिए कि वह संपत्ति अपने परिवार के लाभ के लिए समर्पित कर रहा है।

2. अतिरिक्त आय का उपयोग (Surplus Income)-यह भी तय होना चाहिए कि परिवार की जरूरतें पूरी हो जाने के बाद जो आय बचेगी, उसे किसी धर्मार्थ या सार्वजनिक उद्देश्य में लगाया जाएगा।

3. कानूनी औपचारिकताएँ (Legal Requirements)-वक्फ की स्थापना इस्लामी कानून के अनुसार की जानी चाहिए, जिसमें प्रायः एक लिखित दस्तावेज या वक्फ नामे की आवश्यकता होती है।

प्रश्न नं० 19- निम्नलिखित में से किन्हीं चार पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए।

उत्तर- (1) **लियन-** 'लियन' का अर्थ पति द्वारा पति द्वारा के विरुद्ध 'परपुरुषगमन का मिथ्या आरोप' किसी स्वास्थ्यचित्त तथा वयस्क मुस्लिम पति द्वारा अपनी पत्नी परपुरुषगमन का झूठा आरोप लगाकर उसे व्यभिचरिणी कहने पर पत्नी न्यायालय से विवाह-विच्छेद की डिक्री प्राप्त कर सकती है। पति द्वारा मिथ्या आरोप लगाए जाने पर पत्नी को इस स्थिति से अवगत कराते हुए न्यायालय में वाद प्रस्तुत करना पड़ता है। न्यायालय पति को अपने आरोप को शपथपूर्वक सिद्ध करने अथवा इसे वापस लेने के लिए बाध्य करता है। पति अपने आरोप को मुकदमे की सुनवाई से पहले कभी भी वापस ले सकता है। **तुफैल अहमद नाम जमीला खातून ए.आई.आर. 1962 इलाहाबाद, 570** के वाद में न्यायालय ने कहा कि यदि पति अपने आरोप को मुकदमे की सुनवाई से पूर्व ही वापस ले लेता है या आरोप को सिद्ध कर देता है तो पत्नी को विवाह विच्छेद की डिक्री नहीं मिल पाती है परन्तु यदि पति न तो आरोप वापस लेता है और न ही आरोप सिद्ध कर पाता है तो न्यायालय इसे मिथ्या आरोप मानेगा और लियन के आधार पर पत्नी के पक्ष में विवाह विच्छेद की डिक्री पारित की जाती है।

(2) **मुबारत-** खुला में विवाह-विच्छेद पति-पत्नी दोनों की सहमति से होता है, परन्तु इच्छुक की मानी जाती है क्योंकि खुला का प्रस्ताव पत्नी द्वारा प्रेरित होता है मुबारत में भी विवाह-विच्छेद दोनों की परस्पर सहमति द्वारा होता है लेकिन इसमें विवाह-विच्छेद के लिए पति-पत्नी दोनों समान रूप से इच्छुक रहते हैं। मुबारत शुद्ध रूप से परस्पर अनुबन्ध द्वारा विवाह-विच्छेद माना जा सकता है। किसी पक्ष को कोई प्रतिफल नहीं देना पड़ता, क्योंकि दोनों सामान रूप से विवाह को भंग कर देने के इच्छुक रहते हैं। 'मुबारत' के अनुबन्ध में विवाह-विच्छेद का प्रस्ताव पति द्वारा भी किया जा सकता है। दूसरे पक्ष द्वारा इसके स्वीकार कर लिए जाने पर विवाह-विच्छेद पूर्ण हो जाता है। खुला की भाँति मुबारत में भी पति-पत्नी सक्षम होना अनिवार्य है।

(3) **खुला**— खुला का शाब्दिक अर्थ है 'वस्त्र खोलना'। विधि की शब्दावली में खुला मतलब है पति की सहमति से, उसे (पति को) कुछ मुआवाजा देकर, पत्नी द्वारा विवाह विच्छेद। 'खुला' के सम्बन्ध में कुरान निर्धारित करता है कि "यदि तुमको यह डर हो कि वह पति-पत्नी अल्लाह की सीमाओं को कायम न रख सकेंगे तो कुछ देकर स्त्री छुटकारा प्राप्त करना चाहे उन दोनों के लिए कोई दोष नहीं है। यह अल्लाह की सीमाएँ हैं।

मुंशी बुजलूल रहीम बनाम लतीफुनीशा निशा के वाद में प्रिवी काउंसिल ने कहा कि खुला विवाह-विच्छेद का वह तरीका है जिसमें पत्नी व्यावहारिक बन्धनों से अपने को निर्मुक्त करने के लिए पहल करती है। छुटकारा पाने की एवज में पत्नी अपने पति को कुछ न कुछ प्रतिफल देती है या भविष्य में प्रतिफल के रूप में कुछ राशि अथवा सम्पत्ति प्रदान करने का अनुबन्ध कर लेती है। विधिमानी खुला आवश्यक शर्तें निम्नलिखित हैं—

- (1) विवाह-विच्छेद के लिए पत्नी की तरफ से प्रस्ताव होना आवश्यक है।
- (2) छुटकारे के लिए प्रतिफल के बदले में प्रस्ताव की स्वीकृति आवश्यक है।
- (3) प्रस्ताव पति द्वारा स्वीकार किया जाना आवश्यक है।

खुला रीत से विवाह-विच्छेद के लिए खुला के दोनों पक्षों को (1) वयस्क (2) स्वास्थ्य मस्तिष्क को होना आवश्यक है। शिया विधि में (3) स्वतन्त्र सहमति एवं (4) खुला में प्रवेश के लिए इच्छा आवश्यक है।

एक बार पत्नी के प्रस्ताव की प्रति द्वारा स्वीकृति हो जाने पर यह एक रद्द न किया जा सकने वाला तलाक हो जाता है।

(4) **वक्फ**— 'वक्फ' के शाब्दिक अर्थ हैं— 'निरोध', 'रोक' या 'प्रतिबन्धित करना' अर्थात् समर्पित सम्पत्ति के स्वामित्व को समर्पणकर्ता से दूर करके सर्वशक्तिमान में निरुद्ध कर देना।

वक्फ शब्द का शाब्दिक अर्थ हिसरात है। कानूनी संदर्भ में वक्फ का अर्थ किसी संपत्ति को अपने कब्जे में रखना है ताकि उसकी उपज या आय हमेशा धार्मिक या धर्मार्थ उद्देश्यों के लिए उपलब्ध हो सके। जब एक वक्फ बनाया जाता है तो संपत्ति को हिरासत में ले लिया जाता है या ए हमेशा के लिए शब्द दिया जाता है और उसके बाद गैर-हस्तांतरणीय हो जाता है। इस प्रोजेक्ट में वक्फ के अर्थ और विभिन्न प्रकार को परिभाषित किया गया है। वक्फ बनाने के पीछे एक मकसद है मुतवल्ली यप्रबंधकद्ध का कार्यालय बहुत महत्वपूर्ण है। वक्फ बनाने के कई तरीके हैं जिनका इस परियोजना में वर्णन किया गया है। वक्फ कानून द्वारा बाध्यकारी और लागू करने योग्य है इसके कानूनी परिणाम हैं जो इस परियोजना में निपटाए गए हैं। वक्फ का कानून "मोहम्मडन कानून की सबसे महत्वपूर्ण शाखा है क्योंकि यह मुसलमानों के संपूर्ण धार्मिक सामाजिक और आर्थिक जीवन से जुड़ा हुआ है।"

जब कोई मुस्लिम व्यक्ति धार्मिक आस्था और भावनाओं के तहत किसी धर्मार्थ उद्देश्य और समाज के हित और उत्थान के लिए कार्य करता है और अपनी संपत्ति अल्लाह के नाम पर दान करता है तो उसे वक्फ कहा जाता है। वक्फ का शाब्दिक अर्थ है शहिरासत रोकना या बांधना, जिसका अर्थ है कि समर्पित संपत्ति का स्वामित्व वक्फ करने वाले व्यक्ति से छीन लिया जाता है और भगवान द्वारा स्थानांतरित और हिरासत में ले लिया जाता है। पैगम्बर द्वारा किये गये वक्फ के बारे में पुराने ग्रंथों में विवरण दिया गया है।

वक्फ अधिनियम, 1954 वक्फ को इस प्रकार परिभाषित करता है, "वक्फ का अर्थ है इस्लाम को मानने वाले किसी व्यक्ति द्वारा मुस्लिम कानून द्वारा धार्मिक, पवित्र या धर्मार्थ के रूप में मान्यता प्राप्त किसी भी उद्देश्य के लिए किसी भी चल या अचल संपत्ति का स्थायी समर्पण।"

वैध वक्फ के लिए आवश्यक शर्तें— वैध वक्फ के लिए आवश्यक शर्तें इस प्रकार हैं—

1. **स्थायी समर्पण**— वक्फ संपत्ति का समर्पण स्थायी होना चाहिए और वक्फ को स्वयं ऐसी संपत्ति को समर्पित करना होगा और इसे मुस्लिम कानून द्वारा मान्यता प्राप्त किसी भी उद्देश्य, जैसे धार्मिक, पवित्र या धर्मार्थ के लिए देना होगा। यदि वक्फ सीमित अवधि के लिए किया जाता है तो यह वैध वक्फ नहीं होगा और इसमें कोई शर्त या आकस्मिकता भी नहीं जुड़ी होनी चाहिए अन्यथा यह अमान्य हो जाएगा। वक्फ के पीछे का मकसद हमेशा धार्मिक होता है। **कर्नाटक वक्फ बोर्ड बनाम मोहम्मद में**। नजीर अहमद के अनुसार, धर्म और स्थिति की परवाह किए बिना सभी यात्रियों के उपयोग के लिए एक मुस्लिम द्वारा घर का समर्पण इस आधार पर वक्फ नहीं माना गया कि मुस्लिम कानून के तहत एक वक्फ का धार्मिक उद्देश्य होना चाहिए और यह केवल मुस्लिमों के लाभ के लिए होना चाहिए। समुदाय, और यदि यह चरित्र में धर्मनिरपेक्ष है, तो दान केवल गरीबों के लिए होना चाहिए। जब वक्फ का गठन किया जाता है, तो यह माना जाता है कि कुछ संपत्ति का उपहार भगवान के पक्ष में किया गया है। एक कानूनी कल्पना के माध्यम से यह सुनिश्चित किया गया है कि वक्फ संपत्ति ईश्वर की संपत्ति बन जाए।

2. **वक्फ की योग्यता**—वक्फ कौन बना सकता है? : वह व्यक्ति जो अपनी संपत्तियों का वक्फ बनाता है, उसे 'वक्फ का संस्थापक या, वक्फ' कहा जाता है। वक्फ में संपत्ति समर्पित करते समय वक्फ को सक्षम व्यक्ति होना चाहिए। सक्षम वक्फ होने के लिए व्यक्ति के पास क्षमता के साथ-साथ वक्फ गठित करने का अधिकार भी होना चाहिए। जहां तक किसी मुसलमान की वक्फ करने की क्षमता का संबंध है, तो केवल दो आवश्यकताएं हैं—

(क) मन की स्वस्थता और, (ख) बहुमत। विकृत दिमाग वाले व्यक्ति के पास कोई वक्फ बनाने की क्षमता नहीं है क्योंकि वह लेनदेन के कानूनी परिणामों को जानने में असमर्थ है। किसी पागल या नाबालिग व्यक्ति द्वारा बनाया गया वक्फ शून्य होता है। गैर-मुसलमानों द्वारा वक्फ समर्पण करने वाले को इस्लाम को मानना चाहिए यानी इस्लाम के सिद्धांतों में विश्वास होना चाहिए, उसे धर्म से मुस्लिम होने की आवश्यकता नहीं है। मद्रास और नागपुर उच्च न्यायालयों ने माना है कि एक गैर-मुस्लिम भी वैध वक्फ बना सकता है, बशर्ते वक्फ का उद्देश्य इस्लाम के

सिद्धांतों के खिलाफ न हो। पटना उच्च न्यायालय ने यह भी माना है कि एक वैध वक्फ का गठन गैर-मुस्लिम द्वारा किया जा सकता है। हालाँकि, पटना उच्च न्यायालय के अनुसार, एक गैर-मुस्लिम वक्फ केवल एक सार्वजनिक वक्फ हो सकता है कोई गैर-मुस्लिम कोई निजी वक्फ (जैसे इमामबाड़ा) नहीं बना सकता।

3. वक्फ करने का अधिकार— जिस व्यक्ति के पास क्षमता तो है लेकिन कोई अधिकार नहीं है, वह वैध वक्फ नहीं बन सकता। वक्फ की विषय वस्तु का स्वामित्व उस समय वक्फ के पास होना चाहिए जब वक्फ बनाया गया हो। किसी व्यक्ति को वक्फ गठित करने का अधिकार है या नहीं, यह इस बात पर निर्भर करता है कि समर्पितकर्ता के पास संपत्ति का स्वामित्व हस्तांतरित करने का कानूनी अधिकार है या नहीं।

एक विधवा उस संपत्ति का कोई वक्फ नहीं बना सकती जो उसके अवैतनिक मेहर के बदले में उसके पास है क्योंकि वह उस संपत्ति की पूर्ण मालिक नहीं है। जहाँ वाकिफ एक पर्दानशीन महिला है, वहाँ लाभार्थियों और मुतवल्ली को यह साबित करना होगा कि उसने वक्फ के गठन में अपने स्वतंत्र दिमाग का इस्तेमाल किया था और लेनदेन की प्रकृति को पूरी तरह से समझा था।

संपत्ति की राशि: एक व्यक्ति अपनी संपूर्ण संपत्ति समर्पित कर सकता है, लेकिन वसीयतनामा वक्फ के मामले में, एक तिहाई से अधिक संपत्ति समर्पित नहीं की जा सकती है।

(5) तलाक उल सुन्नत और तलाक अहसन— पैगम्बर मोहम्मद के सुनना पर आधारित होने के कारण तलाक उन सुन्नत की मान्यता इस्लाम द्वारा अनुमोदित तलाक के रूप में की गई है। तलाक के रूप में की गई है। तलाक और सुन्नत प्रति संघ में तलाक है। वस्तुतः तलाक को सदैव एक बुरा कार्य माना गया है परन्तु किन्हीं कारणों से तलाक द्वारा यदि विवाह-विच्छेद करना आवश्यक ही हो जाए तो इसकी सर्वोत्तम विधि वही मानी जाएगी जिसमें तलाक देने के पश्चात् इसके खण्डन की सम्भावना बनी रहे ताकि तलाक के बुरे परिणामों को प्रभावी होने से रोका जा सके। इसी धारणा के अन्तर्गत पैगम्बर मोहम्मद ने केवल खण्डनीय तलाक का अनुमोदन किया है तलाक उल सुन्नत एक खण्डनीय तलाक है क्योंकि के शब्दों को उच्चारित करने के बाद इसे वापस लेने या तलाक को निरस्त करने की गुजरिश बनी रहती है। दूसरे शब्दों में तलाक देने के पश्चात् विवाह-विच्छेद तुरन्त नहीं हो जाता है। तलाक उच्चारित करने के बाद भी पति-पत्नी के बीच समझौता हो सके इसलिए पर्याप्त समय रहता है। तलाक उल सुन्नत को तलाक उल राजे भी कहते हैं।

तलाक अहसन— इसका शाब्दिक अर्थ कृ अति उत्तम, सर्वश्रेष्ठ, बहुत अच्छा है। तलाक अहसान को तलाक का सर्वोत्तम प्रकार माना जाता है। स्वयं पैगम्बर द्वारा इसे मान्यता प्रदान की गई थी। इसमें—

(1) पति द्वारा एक ही वाक्य में तलाक के शब्दों का उच्चारण किया जाता है।

(2) ऐसे उच्चारण के समय पत्नी का पाक अवस्था (मासिक धर्म की स्थिति में नहीं) में होना आवश्यक है, यदि स्त्री मासिक धर्म के अधीन नहीं है (वृद्धवस्था या अन्य किसी कारण से) या पति और पत्नी एक दुसरे से दूर है तब यह जरूरी नहीं है की तलाक का उच्चारण पत्नी की पाक अवस्था में किया जाए और यदि विवाह का समागम नहीं हुआ है तब अहसान रूप से तलाक का उच्चारण पत्नी के मासिक धर्म के समय में किया जा सकता है।

(3) पत्नी को इद्दत की अवधि पूर्ण करनी होती है तथा इस अवधि में सम्भोग से परहेज करना आवश्यक है।

तलाक-हसन —“तलाक-हसन” शब्द का अर्थ कृ उत्तम, अच्छा है। तलाक- अहसन के बाद इसे दूसरी श्रेणी का तलाक का अच्छा तरीका माना जाता है। इसमें तलाक शब्द का उच्चारण तीन बार अलग अलग समय समय में होता है और इसके लिए यह आवश्यक है की प्रत्येक उच्चारण के समय उनके मध्य सम्भोग नहीं हुआ हो,

उदाहरण के लिए — पति द्वारा अपनी पत्नी को तीन महीने में यानि एक-एक महीने के अन्तराल में लिखित या मौखिक रूप से तलाक दिया जाता है और तीसरे महीने में पत्नी को तलाक देने पर यह औपचारिक रूप से मान्य हो जाता है। यदि पति इन तीन महीने के अन्तराल में सम्भोग कर लेता है तब यह तलाक प्रतिसंहत (Revoke) हो जाता है और यदि संभोग नहीं किया जाता है तो तलाक अप्रतिसंहरणीय हो जाता है।

यानि तलाक हसन में निम्न शर्तें पूर्ण होनी आवश्यक है —

(1) तलाक के शब्दों का तीन बार उच्चारण किया जाना और ऐसा उच्चारण तीस-तीस दिन के अन्तराल में किया जाना,

(2) यदि पत्नी मासिक धर्म की अवस्था में है तो ऐसा उच्चारण पाक अवस्था में किया जाना आवश्यक है,

(3) और प्रत्येक उच्चारण के समय पति द्वारा पत्नी के साथ संभोग नहीं करना अपेक्षित है।

तलाक-उल-बिद्दत को तलाक-उल-बैन भी कहा जाता है तथा इसे तलाक का घृणित अथवा पापमय रूप माना जाता है। शाफई और हनफी विधि भले ही इस तलाक को मान्यता देती है लेकिन इन विधियों में भी इसको घृणित माना गया है। शिया विधि में तलाक-उल-बिद्दत को मान्यता प्रदान नहीं की गई है। यह विधि इसे निन्दनीय अथवा पापमय तलाक मानती है, तलाक-उल-बिद्दत में तलाक के लिए निम्न बातें आवश्यक थी—

(क) इसमें तलाक के वाक्यों का एक ही बार उच्चारण किया जाता है, जैसे “मैं तुम्हें तलाक देता हूँ, मैं तुम्हें तलाक देता हूँ, मैं तुम्हें तलाक देता हूँ” अथवा “मैं तुम्हें तीन बार तलाक देता हूँ”।

(ख) इसमें स्त्री के तुह (पाक अवस्था) में तलाक का एक ही उच्चारण किया जाता है जिसमें विवाह विच्छेद करने का आशय स्पष्ट होता हो।

सायरा बानो बनाम यूनियन ऑफ इंडिया (ए.आई.आर. 2017 एस.सी. 4609) के मामले में उच्चतम न्यायालय ने तलाक-उल-बिद्दत को अवैध एवं असंवैधानिक मानते हुए कहा कि तलाक-उल-बिद्दत यानि तीन तलाक मुस्लिम

धर्म की स्वतंत्रता का अंग नहीं है और यह कुरान की व्यवस्था के अनुरूप भी नहीं है। माननीय न्यायालय ने अपने बहुमत के निर्णय में तीन तलाक़ यानि तलाक़-उल-बिद्दत को अपास्त करते हुए कहा कि यह तुरन्त प्रभावी एवं अविखण्डनीय होने से संविधान के अनुच्छेद 14, 21 एवं 25 का अतिक्रमण करता है और यह मनमाना एवं एक-पक्षीय है। क्योंकि तलाक़-उल-बिद्दत में तलाक़ के वाक्यों का एक ही बार उच्चारण किया जाता है जिससे यह तलाक़ अप्रतिसंहरणीय हो जाता है, इस कारण से यह एक-पक्षीय एवं मनमाना है।

अमीरुद्दीन बनाम खातून बीबी, (1917, 39 इलाहाबाद 371) तथा **सारा भाई बनाम रवियाबाई (1905, 30 बम्बई 537)** के मामलों के अनुसार दृ तलाक़ के वाक्यों का एक ही बार उच्चारण करने पर तलाक़ अप्रतिसंहरणीय हो जाता है, और ऐसे तलाक़ के अप्रतिसंहरणीय होने के लिए इद्दत की अवधि पूर्ण करना आवश्यक नहीं है।

(6) हिबा-बिल-एवज—उपहार और प्रतिदान दोनों अलग-अलग संव्यवहार होते हैं, जिन्हें मिलाकर हिबा-बिल-एवज कहा जाता है। हिबा-बिल-एवज दो तरह का होता हैरू मूल उपहार के मुताबिक, इवाज या विनिमय। मुस्लिम कानून में उपहारों को हिबा कहा जाता है। यह मौजूदा संपत्ति में स्वामित्व का अशर्त अंतरण है, जो बिना किसी प्रतिफल के तुरंत किया जाता है। हिबा के कुछ तत्व:

- (1) विवाहिता स्त्री द्वारा दिया गया उपहार मान्य होता है।
- (2) पर्दानशीन स्त्री द्वारा दिया गया उपहार मान्य होता है।
- (3) दिवालिया की स्थिति में भी कोई व्यक्ति हिबा कर सकता है।

हिबा की संवैधानिकता— हिबा, मुस्लिम कानून के तहत उपहार देने का कार्य, संपत्ति हस्तांतरण अधिनियम, 1882 की धारा 129 के माध्यम से भारत में संवैधानिक समर्थन प्राप्त करता है। यह प्रावधान हिबा की अनूठी प्रकृति को पहचानता है और इसे अधिनियम के प्रावधानों से छूट देता है। मुस्लिम पर्सनल लॉ द्वारा शासित शरीयत अधिनियम, 1937 में हिबा को शामिल करके, इस छूट की संवैधानिकता को बरकरार रखा गया है। यह धार्मिक स्वतंत्रता को कायम रखता है और व्यक्तियों के व्यक्तिगत जीवन में धार्मिक प्रथाओं के महत्व का सम्मान करता है। यह कानूनी ढांचा भारत में मुसलमानों को सामान्य संपत्ति कानूनों के हस्तक्षेप के बिना हिबा में शामिल होने, धार्मिक विविधता के लिए जगह बनाने और उनकी मान्यताओं को समायोजित करने की अनुमति देता है।

हिबा की अनिवार्यताएँ

हिबा को तीन आवश्यक तत्वों की आवश्यकता है—

- (1) दाता द्वारा घोषणा
- (2) प्राप्तकर्ता द्वारा स्वीकृति
- (3) कब्जे की घोषणा

दाता को संपत्ति देने का अपना इरादा स्पष्ट रूप से व्यक्त करना होगा, जो मौखिक या लिखित रूप से किया जा सकता है। प्राप्तकर्ता को स्पष्ट या परोक्ष रूप से उपहार स्वीकार करना होगा। इसके बाद दाता को उपहार में दी गई संपत्ति का कब्जा प्राप्तकर्ता को भौतिक या प्रतीकात्मक रूप से हस्तांतरित करना होगा।